CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यापनीय और उनका साहित्य

5293

श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया

वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट की
ओर से समीक्षार्थ/स्वाध्याय हेतु
सादर भेंट

सुरेश चन्द जैन सरसावा
प्रबन्धक/संयुक्त मंत्री

डॉ० शीतल चन्द जैन
मंत्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यापनीय और उनका साहित्य

5293

श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरिया

वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थमाला सम्पादक व नियामक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य,
सेवा-निवृत्त रीडर जैन-बौद्धदर्शन, प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५

●

यापनीय और उनका साहित्य

●

लेखका
श्रीमती डॉ. कुसुम पटोरिया

●

ट्रस्ट-संस्थापक
आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर'

●

प्रकाशक
मंत्री, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट,
प्राप्ति-स्थान
व्यवस्थापक
वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट,
बी० ३२/१३ बी०, नरिया,
का० हि० वि०, वाराणसी-५

●

प्रथम संस्करण : ५००
१९८८

●

मूल्य : चालीस रुपए

●

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस,
भेलूपुर, वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

'यापनीय और उनका साहित्य' कृतिका प्रकाशन करते हुए हमें हर्ष है। कई वर्ष पूर्व इसके प्रकाशनकी चर्चा आयी थी। पर हमने इसे न देखा था और न पढ़ा था। जब मेरे पास यह ग्रन्थ आया तब हम बहुत व्यस्त थे तथा स्वास्थ्य भी ठीक नहीं था। अतः हम इसे आद्योपान्त पढ़ नहीं सके और लेखिकाको लौटा दिया। यह पाँच-छह वर्ष पहलेकी बात है। इसके बाद पुनः चर्चा आयी तो हमने उसे मँगाकर मनोयोगपूर्वक आद्योपान्त पढ़ा और लगा कि इसका प्रकाशन अवश्य होना चाहिए। इसके प्रकाशनसे इस विलुप्त परम्पराके, जो डेढ़ हजार वर्ष तक विद्यमान रही, सम्बन्धमें विद्वानोंको प्रचुर जानकारियाँ मिलेंगी। तथा अनुसन्धान करने वालोंके लिए विपुल सामग्री उपलब्ध होगी। वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट और उसके संस्थापक स्व० आचार्य जुगलकिशोर मुख्तारको ऐसे शोध-खोजके कार्योंके प्रति सदा रुचि रही और जीवनभर उसीमें वे डूबे रहे। आज वे होते तो वे इसकी लेखिका श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरियाको अवश्य प्रोत्साहित करते हुए आशीर्वाद देते।

निःसन्देह डॉ० पटोरियाने इसमें बड़ा परिश्रम किया है और कहाँ-कहाँसे उन्होंने सामग्री एकत्रित की है। इसके लिए उन्हें यात्राएँ करना पड़ी हैं। यापनीयोंके मुख्य उद्भव स्थान कर्नाटक भी जाना पड़ा है। यह भी सच है कि स्व० पं० नाथूराम प्रेमी और डॉ० ए० एन० उपाध्येने इनके मार्गको प्रशस्त किया है। श्रीमती पटोरियाने जो तथ्य और निष्कर्ष निकाले हैं वे यद्यपि उत्तेजक एवं समीक्षा-योग्य हो सकते हैं। किन्तु वे विद्वानोंके लिए विचारणीय अवश्य हैं। और हम कहेंगे कि विद्वानोंको उन-पर अवश्य विचार करना चाहिए। यह तथ्य तो सभीको स्वीकार्य होगा कि दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो जैन धाराओंको जोड़नेवाली यह धारा रही है, जिसे यापनीय कहा जाता था, जिसके अन्दर भी काष्ठा, माथुर आदि कई छोटी-छोटी धाराएँ अपने-अपने क्षेत्रमें बह निकली हैं। यापनीय कठोर तपस्वी, जिनधर्म प्रभावनामें तत्पर और साहित्य-सर्जक रहे हैं। जब उनके कई विचारों तथा आचारोंका दिगम्बरों और श्वेताम्बरों द्वारा विरोध होने लगा तो उन्हें इन दोनोंमें खासकर दिगम्बरोंमें मिल जाना पड़ा। उनका साहित्य, मूर्तियाँ, मन्दिर आदि भी उन्हींमें समाहित हो गये। आ० कुन्दकुन्दके नामपर बने मूल संघसे उन्हें सम्भवतः सामना करना पड़ा। मूल संघका निर्माण उनके बढ़ते हुए शिथिलाचारको रोकनेके लिए आवश्यक था। बौद्धोंमें जब शिथिलाचारकी पराकाष्ठा हो गयी तो उसे जन्म स्थान छोड़कर बाहर जाना पड़ा। शायद यही स्थिति यापनीयोंकी रही होगी। पर उनके संगठन और प्रभावको भुलाया नहीं जा सकता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस दिशामें श्रीमती डॉ० कुसुम पटोरियाका प्रयास निश्चय ही श्लाघ्य है। हमें खुशी है कि वे नागपुर विश्वविद्यालयमें संस्कृत-विभागमें व्याख्याता होती हुई भी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी और मराठी भाषाओंकी विशेषज्ञ हैं तथा साहित्य-सृजनमें संलग्न हैं। हम उन्हें इस महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान-कृति 'यापनीय और उनका साहित्य'को प्रस्तुत करनेके लिए हार्दिक बधाई एवं धन्यवाद देते हैं।

ट्रस्टके सभी सदस्यगण भी धन्यवादार्ह हैं, जिनका सहयोग हमें सदा मिलता रहता है। इस अवसरपर हम अपने अनन्यमित्र स्व० श्री मौजीलालजीके सुयोग्य पुत्र प्रिय जयप्रकाश एवं उनके परिवारको नहीं भूल सकते, जिन्होंने हमारे वाराणसी-प्रवासमें हमें सभी सुविधाएँ प्रदान कीं और इस ग्रन्थके प्रकाशनमें सक्षम हो सके।

प्रिय बाबूलालजी फागुल्ल मालिक महावीर प्रेसको हमारा हृदयसे धन्यवाद है, जिन्होंने बड़ी तत्परतामें एक-सवामाहमें इस ग्रन्थको छापकर दे दिया। प्रिय श्रीलालजी जैन व्यवस्थापक, वीर सेवामन्दिर ट्रस्टने प्रूफ संशोधन आदिमें लगनके साथ सहयोग किया, उसके लिए उन्हें धन्यवाद है।

४ भोगावीर कॉलौनी,
लंका, वाराणसी-५,
१८-१२-१९८८,

डॉ० दरबारीलाल कोठिया
मानद मंत्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निवेदन

यापनीय संघ जो कि जैन परम्पराकी तीसरी मध्यमार्गी धारा थी। उसका आज अस्तित्व लुप्त हो चुका है। उसका नाम भी जैन समाजके स्मृतिपटलसे मिट चुका था। ऐसी स्थितिमें इस सम्प्रदायके परिचयको पुनः प्रकाशमें लानेका श्रेय दो मूर्द्धन्य विद्वानों स्व० पं० नाथूराम प्रेमी व स्व० डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्येको है। इस विषयमें इन दोनों विद्वानोंके कतिपय महत्वपूर्ण शोध-निबन्ध प्रकाशमें आये हैं, जिनसे प्रेरणा पाकर मेरे मनमें यापनीयोंके सम्बन्धमें अधिक जाननेकी उत्सुकता व इस विषय पर कार्य करनेकी इच्छा जागृत हुई। श्रद्धेय डॉ० भागचन्द्र जैन (विभागाध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग, ना० वि० वि०, नागपुर) ने इसके लिए प्रोत्साहित किया। तदर्थ मैं उनकी हृदयसे ऋणी हूँ। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशामें प्रयासकी परिणति है।

विषयकी गहनताके कारण प्रबन्ध-लेखनकी अवधिमें अनेक बार निराशा ही हाथ लगी। इस निराशाजनक स्थितिसे उबारा स्नेहमूर्ति डॉ० दरबारीलाल कोठियाने। वार्द्धक्य और अस्वस्थताके उपरान्त भी जिस तत्परतासे वे मेरा मार्गदर्शन करते रहे, उसके लिए कृतज्ञता और आभार प्रदर्शनके लिए मेरे शब्द असमर्थ हैं। वैसे आजीवन उनकी ऋणी रहना ही मेरे लिए सुखद भी है। उन्होंने ग्रन्थको अपने आशीर्वचनोंसे अलंकृत करनेकी कृपा की है।

प्रस्तुत प्रबन्ध छह परिच्छेदोंमें विभक्त है। प्रथम परिच्छेदमें भ० पार्श्वनाथकी परम्परासे लेकर भद्रबाहुस्वामी तककी परिस्थितियोंका विश्लेषण करते हुए यापनीयोंके प्रादुर्भावकी पृष्ठभूमिपर विचार किया है। द्वितीय परिच्छेदमें अन्य दिगम्बर संघोंका विवरण देते हुए यापनीयोंसे उनके सम्बन्ध तथा यापनीयोंको उन संघोंमें विलीनीकरणकी प्रक्रियापर विचार किया गया है। तृतीय परिच्छेदमें परम्पराकी दृष्टिसे विवादास्पद ग्रन्थोंकी परम्पराको निर्धारित करनेका प्रयास है।

यापनीय ग्रंथकार उदारचेता व साम्प्रदायिक अभिनिवेशसे रहित रहे हैं, इसलिए इन्होंने प्रत्यक्ष रूपमें ऐसे कोई संकेत नहीं छोड़े हैं, जिनसे कि किसी निष्कर्ष पर आसानीसे पहुँचा जा सके। ये ग्रंथकार प्रायः अपने सम्प्रदायके उल्लेखसे भी दूर रहे हैं। प्रतिकूल विचारधाराके खंडनमें भी इन्होंने रुचि नहीं ली है। यही कारण है कि इनका साहित्य सरलतासे दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायोंमें अन्तर्भुक्त हो सका है। साथ ही दूसरी परम्परामें अन्तर्भुक्त होने पर इस साहित्यने अनेक प्रक्षेपणोंको सहा है, इसके प्रमाण हैं। पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीने वर्तमान भगवती आराधना और उसकी विजयोदया टीकामें अनेक अन्तरोंका उल्लेख किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यापनीयोंकी तटस्थवृत्तिके अतिरिक्त दिगम्बर-श्वेताम्बरोंकी उपेक्षा भी इनके साहित्यके कालकवलित होनेका कारण है। 'यापनीयतंत्र' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथकी अनुपलब्धि इसका प्रमाण है, जो कि यापनीयोंके सिद्धान्तोंको समझने में प्रामाणिक साधन हो सकता था। आचार्य हरिभद्रसूरिकी कृपासे इस ग्रन्थका नाम सुरक्षित रह गया है।

उपर्युक्त कारणोंसे तथ्योंकी उपलब्धि कष्टप्रद सिद्ध हुई है। यापनीयोंसे सम्बद्ध शिलालेख भी इनके सम्बन्धमें विशेष जानकारी देनेमें सहायक सिद्ध नहीं हुए हैं। फिर भी हमने चार वर्षोंके अथक प्रयत्नसे यापनीयोंके सम्बन्धमें अधिकाधिक ज्ञातव्य सामग्री एकत्रित करनेका भरसक प्रयास किया है। तथ्योंकी विवेचनामें अनाग्रही निष्पक्ष दृष्टि रखनेका प्रयत्न किया है।

तृतीय परिच्छेदमें निर्धारित यापनीय साहित्यके आधार पर चतुर्थ परिच्छेदमें यापनीयोंके सिद्धान्त तथा पंचम परिच्छेदमें उनकी आचार-संहिताका उल्लेख किया है। अन्तिम छठे परिच्छेदमें उनके प्रदेयका विचार है।

यापनीयोंकी कार्यस्थली कर्नाटक रही है, इसलिए हमने लब्धप्रतिष्ठ कन्नड़ विद्वानोंसे परामर्श किया। मूडबिद्री और जैनबिद्री (श्रवणबेलगोल) की यात्रा कर पण्डिताचार्यवर्य चारुकीर्ति भट्टारकद्वय, पं० शिशुपाल शास्त्री, स्व० पं० के० भुजबली शास्त्री आदिसे प्रत्यक्ष चर्चा की और जानना चाहा कि जैन कन्नड़ साहित्य अथवा कन्नड़ लिपिमें लिखित संस्कृत-प्राकृत साहित्यमें सम्भवतः यापनीयोंके विषयमें दुर्लभ जानकारियाँ संग्रहीत हों। मूडबिद्रीमें श्रीमती प्रेमवती जैनने कुछ जैन कन्नड़ ग्रंथोंकी भूमिका व प्रशस्तियोंके हिन्दी अनुवाद भी मेरे लिये किये, परन्तु अपेक्षित सफलता हाथ नहीं लगी। कन्नड़भाषी संस्कृत-प्राकृतके विद्वान यदि इस दिशामें प्रयत्न करें तो शायद कुछ नये तथ्य प्राप्त हो सकें। इन सभी विद्वानोंकी सहज आत्मीयताके लिए मैं उनकी आभारी हूँ, जिन्होंने मेरे प्रवासके दौरान मेरे अध्ययनमें हर सम्भव सहायता की।

स्व० डॉ० आ० ने० उपाध्ये, स्व० नाथूराम प्रेमी, स्व० पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, स्व० डॉ० हीरालाल जैन, पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन आदि विद्वानोंकी मैं हृदयसे आभारी हूँ, जिन्होंने अपने ग्रन्थों, ग्रन्थोंकी भूमिकाओं, पत्राचार अथवा सम्मुखचर्चाके रूपसे परोक्ष-अपरोक्ष रूपसे मेरी सहायता की है। इनके अतिरिक्त उन सब अनेक विद्वानों और ग्रन्थपालोंकी मैं कृतज्ञ हूँ, जो मेरे प्रबन्ध-लेखनमें सहयोगी हुए हैं।

प्रबन्धकी पूर्तिका अधिकांश श्रेय मेरे उन आत्मीयजनोंको है, जो इसको शीघ्रा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिशीघ्र पूर्ण होकर पुस्तक रूपमें देखनेके लिए मुझसे भी अधिक लालायित थे, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मात्र औपचारिकता होगी, परन्तु उनका अनुल्लेख अनुचित होगा। अम्माँ (श्रीमती मंजरी देवी जैन), जिन्होंने न केवल पढ़ने-लिखनेके संस्कार दिये, अपितु जीवनमें खूब पढ़नेका ढेर-सा आशीष दिया, बाबूजी (श्री नेमीचन्द्र जैन), जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत तथा जैन दर्शनके अध्ययनके प्रति अभिरुचि जगाई, जिसके फलस्वरूप मैंने पहला शोध-प्रबन्ध प्राकृत कथाकाव्यों पर लिखा। पतिदेव श्री राजेन्द्र पटोरिया, जिन्होंने अध्ययनकी रुचिको न केवल जागृत रखा, अपितु निरन्तर प्रोत्साहित किया। इस दूसरे प्रबन्धकी कल्पनाका श्रेय उन्हींको है। उनके हार्दिक सहयोगके बिना प्रबन्धका न आरम्भ सम्भव था और न अन्त। उनके सहयोगके बिना अध्ययन-यात्राएँ भी सम्भव नहीं थीं। परिजनोंकी इस कड़ीमें मातृस्वरूपा सासजी श्रीमती ताराबाई पटोरियाका उल्लेख आवश्यक है, जिन्होंने अनेक कष्ट उठाकर अनुकूल वातावरण प्रदान किया।

वीर-सेवा-मंदिर ट्रस्ट. बनारसको मैं अत्यंत आभारी हूँ, जिसने मेरे श्रमको पुस्तकाकार देकर सफल बनाया। इसे पुस्तकका रूप देनेके लिये श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल, सञ्चालक, महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी, धन्यवादके पात्र हैं।

हमारा प्रयास तथा परिश्रम कहाँ तक सफल हुआ, इसके परीक्षक सुधी पाठक ही हैं। उनकी प्रतिक्रियाओंकी प्रतीक्षा रहेगी। अन्तमें पउमचरिउकारके शब्दोंमें मेरा नम्र निवेदन है—

ऊणं अइरित्तं वा जं एत्थ कयं पमायदोसेण।
तं मे पडिपूरेउं खमन्तु, इह पंडिया सव्वं॥

अर्थात् प्रमादवश मैंने जो कुछ न्यून या अतिरिक्त लिख दिया हो, पण्डितजन उसे सुधारकर क्षमा करें।

कुसुम पटोरिया
(डॉ० श्रीमती कुसुम पटोरिया)

आजाद चौक, सदर,
नागपुर—४४०००१ (महा०),
११ दिसम्बर, १९८८.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
प्रथम परिच्छेद	
१. जैन परम्पराकी तृतीय शाखा यापनीय और उसका उदय	१
१. डॉ० उपाध्येका विचार	२
२. श्रीमती स्टिवेन्सनका मत	२
३. समीक्षात्मक विमर्श	३
४. पार्श्वनाथकी परम्परा	३–६
५. महावीरका संघ	६
६. महावीरके उपरान्त संघकी स्थिति	७
७. संघ-भेदका कारण निह्नव नहीं	८
८. संघ भेद और गणधर	९
९. जम्बूस्वामीके उपरान्त संघकी स्थिति	११–१५
१०. भद्रबाहुके उपरान्त संघकी स्थिति	१५–१८
११. आगम-संकलन	१८–२१
१२. (क) प्रथम वाचना	१८
(ख) द्वितीय वाचना	१९
(ग) तृतीय वाचना	२०–२१
१३. खारवेलका शिलालेख	२१–२४
१४. अर्द्धफालक सम्प्रदाय	२४
१५. मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त अवशेष	२४
१६. वोटिक निह्नव	२५–२९
१७. यापनीय संघका प्रादुर्भाव	२९
(क) देवसेनका उल्लेख	२९
(ख) रत्ननन्दिका उल्लेख	२९
(ग) रविषेण और स्वयम्भुके उल्लेख	३०
(घ) यापनीयोंकी उत्पत्तिके सन्दर्भ	३१–३६
१८. यापनीयोंके उल्लेख	३६–३८
द्वितीय परिच्छेद	
२. यापनीय व अन्य दिगम्बर संघ	४१
१. प्रास्ताविक	४१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(क) मूलसंघ	४२
(ख) देवगण	४३
(ग) सेनगण	४३–४५
(घ) देशीगण	४५–४७
(ङ) कोण्डकुन्दान्वय देशीगण	४७–४९
(च) क्राणूरगण	४९
(छ) बलात्कारगण	५०–५२
(ज) नन्दिगण	५२–५३
(झ) निगमान्वय	५३
(ञ) कूर्चक सम्प्रदाय	५३–५४
(ट) द्राविड या द्रविड संघ	५४
(ठ) वीरगण वीणंय्यान्वय	५५
(ड) द्राविड संघ कोण्डकुन्दान्वय	५५
(ढ) मूलसंघ द्रविडान्वय	५५
(ण) नन्दिसंघ अरुङ्गलान्वय	५६–५८
(त) द्राविडसंघ सेनगण	५८
(थ) काष्ठासंघ	५८–६१
(द) नन्दितट गच्छ	६१–६२
(ध) माथुर गच्छ	६२
(न) लाडवागड गच्छ	६३
(प) वागड गच्छ	६३
(फ) पुन्नाट संघ	६४–६७
(ब) कित्तूर संघ	६८
(भ) भट्टारक सम्प्रदाय	६८–७०
(म) यापनीय संघ	७०
(य) नन्दिसंघ	७१
(र) पुन्नागवृक्षमूलगण	७१–७२
(ल) कण्डूरगण	७३
(व) कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण	७३–७४
(श) कारेयगण	७४
(ष) (कोटि) मडुवगण	७५
(स) बलहारगण	७५
(ह) वडियूर या वन्दियूर गण	७५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(क्ष) जम्बूखण्डगण ७६
(त्र) सिंहचूरगण ७६
३. यापनीय संघका अन्य दिगम्बर संघोंसे सम्बन्ध ७६–८०

तृतीय परिच्छेद

४. यापनीयोंका साहित्य : एक विमर्श ८३
(अ) सैद्धान्तिक साहित्य ८३
१. तत्त्वार्थसूत्र ८३
(आ) दार्शनिक साहित्य ८४
१. सन्मति तर्क (सन्मति सूत्र) ८४
२. स्त्रीमुक्ति प्रकरण ८४
३. केवल-मुक्ति प्रकरण ८४
(इ) आचार-ग्रन्थ ८४
१ मूलाचार ८४
२ भगवती आराधना ८५
३ श्रीविजयोदया टीका ८५
(ई) लाक्षणिक ग्रन्थ ८६
(१) शाकटायन व्याकरण ८६
(२) स्वयम्भू-छन्द ८६
(उ) कथात्मक ग्रन्थ ८६
(१) पद्मचरित ८६
(२) हरिवंशपुराण ८७
(३) पउमचरिउ ८७
(ऊ) कथाकोश ८७
५. तत्त्वार्थसूत्रकारकी परम्परा ८७
१ बन्ध-विचार ८९
(क) सर्वार्थसिद्धिके अनुसार ८९-९०
(ख) तत्त्वार्थभाष्यके अनुसार ९०-९१
(ग) षट्खण्डागके अनुसार ९१-९३
२ परीषह-प्रकरण ९३-९७
३ काल द्रव्य ९७
४ तीर्थंकरप्रकृतिके बन्धके कारण ९८-१००
५ बाह्य तप १००

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६ सम्यक्त्व, हास्य, रति व पुरुषवेदकी पुण्यरूपता	१०१
७ यापनीय टीकाका अस्तित्व	१०२
६. तत्त्वार्थभाष्यकी स्वोपज्ञतापर विमर्श	१०३-११४
७. प्रशमरति, तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्यके कर्त्ताओंपर विमर्श	११५
१ तत्त्वार्थसूत्रसे प्रशम०का साम्य	११५
२ तत्त्वार्थसूत्रसे प्रशम०का वैषम्य	११६-११७
३ तत्त्वार्थभाष्यसे प्रशम०का साम्य	११७-११८
४ तत्त्वार्थभाष्यसे प्रशम०का वैषम्य	११९-१२१
८. मूलाचारकी परम्परा	१२२-१२४
९. भगवती आराधना : यापनीय ग्रन्थ	१२५-१३२
१०. विजयोदया टीका और अपराजितसूरि	१३३-१३६
११. शाकटायनकी परम्परा	१३६-१३९
१२. सिद्धसेन और उनका सन्मतिसूत्र	१३९-१४६
१३. आचार्य रविषेण	१४६-१४९
१४. हरिवंशपुराणकी परम्परा	१४९-१५१
१५. आचार्य हरिषेणका बृहत्कथाकोष	१५१-१५३
१६. स्वयंभूका सप्रदाय	१५३-१५८
१७. विचार-संहिता	१६२
१ स्त्री-मुक्ति	१६२-१६८
२ केवलि-भुक्ति	१६९
३ आराधना	१७०
४ वर्णंजनन	१७१
५ सत्रह प्रकारके मरण	१७२
६ उत्सर्ग-अपवाद लिंग	१७३
७ अथालंद (आलंद विधि)	१७५
८ गच्छ-प्रतिबद्ध आलंद विधि	१७८
९ परिहार संयम विधि	१७८
१० जिनकल्प	१८१
११ भक्तप्रत्याख्यान	१८१
१२ अविचारभक्त प्रत्याख्यान	१८२
१३ इंगिनीमरण	१८३
१४ प्रायोपगमन	१८३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५ तीर्थंकरोंके धर्ममें विभिन्नता १८४
१६ श्रमणके विभिन्न पद १८६
१७ भिक्षु-प्रतिमाएँ १८७
१८ द्वादशानुप्रेक्षाएँ १८८
१९ आचम्ल तप या आयंबिल १८९
२० निर्यापकाचार्यका अन्वेषण १८९
२१ निर्यापकाचार्यके गुण १९०
२२ निर्यापकाचार्यके छत्तीस गुण १९३
२३ अड़तालीस निर्यापक १९४
२४ दश स्थितिकल्प १९६
२५ अन्तर्द्वीपज मनुष्य १९७
२६ पुण्य-पाप प्रकृतियाँ १९८
२७ रात्रिभोजनविरमणव्रत १९९
२८ शुक्लध्यानके प्रथम भेदका स्वामी २००
२९ केवलके ज्ञान-दर्शन २००
३० गर्भकल्याणक २०१
३१ विजहना अर्थात् साधुका मृतककर्म २०१

पंचम परिच्छेद

१८. यापनीयोंकी आचार-संहिता २०७
१ श्रावक आचार-संहिता २०७
(क) बारह व्रत २०७
(ख) मूलगुण २०९
(ग) रात्रिभोजनविरमणव्रत २१०
(घ) मौनका महत्त्व २१०
२ गृहस्थ-मुक्तिके संकेत २१०
३ मुनि-आचार-संहिता २१२
(क) मूलगुण २१२
(ख) महाव्रत २१२
(ग) रात्रिभोजनविरमण २१४
(घ) अष्टप्रवचनमातृका २१५
(ङ) समिति २१५
(च) गुप्ति २२०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(छ) षट् आवश्यक २२१
लोंच २२५
आचेलक्य २२४
अस्नान २२६
क्षितिशयन २२७
अदन्तधावन २२७
स्थिति-भोजन २२७
एकभक्त २२७
दशस्थितिकल्प २२७
लिंग २२७
सामाचारी २२८
तप २३१
स्वाध्याय २३९
ध्यान २३९
व्युत्सर्ग २४२
पंचाचार २४२
परीषहजय २४३
द्वादशानुप्रेक्षा २४३
दश धर्म २४५
दश अनगार-भावनाएँ २४५
पिण्ड-शुद्धि २४६
चौदह मल २४७
भिक्षा-ग्रहणका काल २४७
अन्तराय २४७
समाधिमरण २४८
आर्यिकाओंका सामाचार २४८

षष्ठ परिच्छेद

यापनीयोंका प्रदेय २५३
१ धार्मिक २५३
२ साहित्यिक २५५
३ सामाजिक-सांस्कृतिक २५७
४ ऐतिहासिक २५७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रथम परिच्छेद

जैन परम्पराकी विलुप्त तृतीय शाखा : यापनीय और उसका उदय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

5293

जैन-परम्परा की तृतीय शाखा 'यापनीय' और उसका उदय

सुदूर अतीतकालसे मानवताको शीतलता प्रदान करनेवाली एवं शिवसौख्यदात्री निर्ग्रन्थ-सरिता अनवरत प्रवाहित रही है। इस युगके आरम्भमें सभ्यता और संस्कृतिके साथ इस सरिताका सुखद प्रवाह तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा आरब्ध हुआ, जो कालके थपेड़ोंकी चोटें खाता हुआ निरन्तर प्रवाहमान रहा और अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर तक चला आया। यह निर्ग्रन्थ संस्कृति कभी लुप्त भी हुई तो पुनः अपने समग्र प्रभावको लेकर उदित भी हुई।

पर महावीरके पश्चात् कालान्तरमें निर्ग्रन्थसरिता दो धाराओंमें विभक्त हो गई—एक दिगम्बर और दूसरी श्वेताम्बर। इन दोनों धाराओंको जोड़ने हेतु एक मध्यम मार्गके निर्माणका, जिसे 'यापनीय' कहा गया, प्रयास किया गया। यह नया प्रयास, इन दोनों धाराओंमें फासला न होने पाये और वे अपने एक निर्ग्रन्थ रूपमें बनी रहें, इसके लिए इसने सक्षम प्रयास किया होगा। परन्तु यह मध्यम मार्ग जोड़नेके कार्यमें उतना सफल नहीं हो सका और एक तीसरी धाराके रूपमें ही उसने अस्तित्व लिया।

यहाँ जैन परम्पराकी इसी तीसरी धारा यापनीयके सम्बन्धमें विस्तृत ऊहापोह किया जावेगा। साहित्यिक, शिलालेखीय, मूर्तिलेखीय व अन्यस्रोतीय प्रमाणोंके प्रकाशमें हम देखनेका प्रयास करेंगे कि जैन परम्पराकी यह तृतीय शाखा किस प्रकार उद्भूत हुई और एक समय तक वह विकसित होती गई—उसके अनुयायी, उसका प्रभाव तथा उसका साहित्य वृद्धिगत होता गया एवं मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा, मन्दिरोंका निर्माण और जैनधर्मकी प्रभावनाके उत्सव आदि कार्य इसके द्वारा होते गये। और हम यह भी देखेंगे कि वह किस प्रकार लुप्त हो गई या उक्त दोनों धाराओंमें वह विलीन हो गई।

इतिहास और पुरातत्त्वविद् पं० नाथूराम प्रेमीने लिखा है—कि "जैन धर्मके मुख्य दो सम्प्रदाय हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। इन दोनोंके अनुयायी लाखों हैं और साहित्य भी विपुल है, इसलिए इनके मतभेदोंसे साधारणतः सभी परिचित हैं, परन्तु इस बातका बहुत ही कम लोगों को पता है कि इन दोके अतिरिक्त एक तीसरा सम्प्रदाय भी था, जिसे 'यापनीय', 'आपुलीय' या 'गोप्य' संघ कहते थे और जिसका इस समय एक भी अनुयायी नहीं है।"[1]

---

१. 'यापनीयों का साहित्य' शीर्षक निबन्ध, अनेकांत १९३९, और अब 'जैन साहित्य और इतिहास' द्वितीय संस्करण, १९५६, पृ० ५६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री प्रेमीजीने यह भी लिखा है कि 'यापनीय संघके साहित्यसे जैन धर्मका तुलनात्मक अध्ययन करने वालोंको बड़ी सहायता मिलेगी। दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेदोंके मूलका पता लगानेके लिए यह दोनोंके बीचका और दोनोंको परस्पर जोड़ने वाला साहित्य है और इसके प्रकाशमें आये बिना जैनधर्मका प्रारम्भिक इतिहास एक तरहसे अपूर्ण ही रहेगा।'[१]

जैन परम्परामें मतभेदका बीजारोपण कब हुआ, इस सम्बन्धमें मतभेद हैं। डॉ० उपाध्ये और श्रीमती स्टिवेन्सन भगवान पार्श्वनाथ और महावीरके शिष्योंके मतभेदोंसे जैन परम्परामें सम्प्रदाय-भेद मानते हैं।

डॉ० उपाध्येका विचार

डॉ० उपाध्येका विचार है कि 'निगण्ठनातपुत्त या महावीरने जिस धार्मिक और श्रमण-संघका नेतृत्व किया था, वह उनसे पूर्व पार्श्वप्रभु द्वारा संस्थापित था और इसीलिए भ० महावीरको 'पासावच्चिज्ज' कहा जाता था, अर्थात् वे पार्श्वप्रभु द्वारा संस्थापित धर्मके अनुसर्ता थे। पर वे यह भी मानते हैं कि 'उत्तराध्ययनके तेइसवें अध्ययनमें स्पष्ट उल्लेख है कि पार्श्वप्रभु और भ० महावीरके शिष्य परस्पर मिलकर अपने श्रमण-आचारोंके विभिन्न विवादोंको सुलझानेका प्रयास करते हैं। यही वे विवाद हैं, जिन्होंने आगे चलकर जैन परम्परामें कई वर्ग, धर्मभेद या संप्रदाय पैदा कर दिये।'[२]

श्रीमती स्टिवेन्सनका मत

श्रीमती सिंक्लियर स्टिवेन्सनने लिखा है कि—'संभावना है कि जैन समाजमें सदासे दो पक्ष रहे हैं एक वृद्धों और कमजोरोंका, जो पार्श्वनाथके समयसे ही वस्त्र धारण करते आ रहे हैं और जिसे स्थविरकल्प कहते हैं। यह श्वेताम्बर सम्प्रदायका पूर्वज है। दूसरा पक्ष जिनकल्प है, जो नियमोंका अक्षरशः पालन करता था, जैसा कि महावीरने किया था। यह पक्ष दिगम्बरोंका अग्रज था।'[३]

---

१. वही, पृ० ५८।

२. 'जैन सम्प्रदायके यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश' अनेकांत (त्रैमासिक), वीर-निर्वाण विशेषांक, १९७५, पृ० २४४।

३. द हार्ट ऑफ जैनिज्म, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली (भारतीय संस्करण), १९७०, पृ० ७९—

The Probality is that there and always been to parties in the Community: the older and weakes section who wore clothes and dated from Parshvanathas time and who were

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समीक्षात्मक विमर्श

उपर्युक्त कथनोंसे जान पड़ता है कि डॉ० उपाध्ये यापनीयोंका सम्बन्ध पार्श्व-परम्परासे मानते हुए प्रतीत होते हैं और श्रीमती स्टिवंन्सन वस्त्रधारी मुनियों (श्वेताम्बरों) का सम्बन्ध भी पार्श्व-परम्परासे ही स्वीकार करती हैं। पर ध्यातव्य है कि श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय तीनों ही परम्पराएँ भगवान महावीरको अपना आराध्य मानती हैं तथा तीनोंकी मान्यताके अनुसार उनका विद्यमान आगम-साहित्य भी भगवान महावीरकी परम्पराका साहित्य है। किसी भी परम्पराने अपनेको पार्श्वप्रभुसे सम्बद्ध नहीं बतलाया। यह एक ऐसा तथ्य है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

पार्श्वनाथकी परम्परा

श्वेताताम्बर परम्परा द्वारा संकलित आगम-साहित्यसे पार्श्वनाथके धर्म तथा अनुयायिओंके विषयमें महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ मिलती हैं। भगवान महावीरके जीवनकालमें पार्श्वनाथके अनुयायी विद्यमान थे, जिन्हें पार्श्वापत्यीय कहा गया है।[१] भगवान महावीरके माता-पिता भी 'पासावच्चिज्ज' कहे गये हैं।[२] उत्तराध्ययनके केशी-गौतम संवादसे भी स्पष्ट है कि भगवान महावीरके समयमें पार्श्वनाथके अनुयायी श्रमणसंघ विद्यमान थे।[३]

पार्श्वनाथके अनुयायिओंके लिए 'पासत्थ' शब्दका प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ कालान्तरमें शिथिलाचारी साधु हो गया। भगवती आराधनामें लाखों पार्श्वस्थ साधुओंसे एक सुशील साधुको श्रेष्ठ कहा गया है, जिसका आश्रय लेनेसे ज्ञान, दर्शन चारित्र और शील बढ़ते हैं।[४] यहीं पार्श्वस्थ मुनिको विषयासक्त, कषायपूर्ण, अभिमानी

---

called the sthavirakalpa; and the Jinkalpa or puritans, who kept the extreme letter of laws as Mahavir had done and who are the forusnners of the Digambaras.

१. (क) सूत्रकृताङ्ग २/७, (ख) भगवतीसूत्र १/९, (ग) स्थानाङ्ग ९, (घ) भगवतीसूत्र १५।
२. आचारांग २/१५/१५ 'महावीरस्स अम्मा-पियरो पासावच्चिज्जा'
३. उत्तराध्ययन २३वाँ अध्ययन।
४. भगवती आराधना, गाथा ३५४।

पासत्थसदसहस्सादो वि सुशोलो वरं खु एक्को वि।
जं संसिदस्स सीलं दंसणणाणचरणाणि वड्ढंति॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चरित्रहीन और निधर्मी कहा गया है।[१] मूलाचारमें भी पार्श्वस्थ साधुको अवंदनीय कहा गया है।[२]

सूत्रकृताङ्गमें पार्श्वस्थ मुनियोंको अनार्य, स्त्री-आसक्त, मूर्ख और जिनशासन-पराङ्मुख कहा गया है। वे स्त्रीसेवनमें भी कोई दोष नहीं देखते।[३] व्यवहारसूत्रमें पार्श्वस्थ साधुओंके प्रति अनादर व्यक्त किया गया है।[४]

भावपाहुडमें आचार्य कुन्दकुन्द भी 'पासत्थभावणा' से दुःख-प्राप्ति बताते हैं।

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ।
भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबीएहिं ॥१४॥

पार्श्वस्थ साधुओंके प्रति इस अनादरका कारण है कि भगवान महावीरके समय तक इन साधुओंमें शिथिलाचारिता आ गई थी। उत्तराध्ययन और भगवतीसूत्रके उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि भगवान महावीरके धर्मसंघकी स्थापना हो जाने पर भी पार्श्वस्थ साधुओंके अपने पृथक् संघ थे। भगवतीसूत्रमें कालासवेसियपुत्त तथा गांगेय नामक पार्श्वापत्यीय साधुओंका वर्णन मिलता है। इसके अनुसार कालासवेसिय-पुत्तने महावीरसंघीय स्थविरसे कई प्रश्न किये। अन्तमें नमस्कार कर कहा कि 'भगवन्! ज्ञानके साधनोंके अभावमें मैंने अदृष्ट, अश्रुत, अविज्ञात, अव्याकृत, अव्युछिन्न और अनवधारित पदोंका श्रद्धान नहीं किया। मैं आपके पाससे चातुर्याम धर्मसे सप्रतिक्रमण पञ्च महाव्रत धारण करना चाहता हूं।[५]

इससे ज्ञात होता है कि परम्परागत ज्ञानके साधनोंके अभावमें पार्श्वापत्यीय साधु पार्श्वनाथकी परम्पराको भूल चुके थे। अधिकांश साधु शिथिलाचारी तथा ज्ञानहीन हो गये थे। भगवान महावीरके सुदृढ़ चारित्रवान् तथा अतिशय ज्ञानी साधुओंके समक्ष समाजमें इनका आदर और प्रभाव भी कम हो गया था, अतः अनेक पार्श्वस्थ साधु महावीरके संघमें दीक्षित हो गये थे। यहीं भगवतीसूत्रमें गांगेय नामक एक और पार्श्वापत्यीय साधुके भगवान महावीरसे प्रश्न पूछने और उन्हींके संघमें सम्मिलित हो जानेका उल्लेख है।[६]

---

१. वही, गाथा १३००।
२. मूलाचार ७/९५-७।
३. सूत्रकृताङ्ग ३/४/६९-७४।
४. व्यवहारसूत्र, गाथा २३०।

सेज्जायरकुलनिस्सिय ठवणकुलपलोयणा अभिहडेय।
पुव्विपच्छासंथव निइअग्गपिंडभोइ पासत्थो ॥

५. भगवतीसूत्र, शतक १, उद्देशक ९, सूत्र ७७।
६. वही, शतक ९ उद्देशक ५, सूत्र ३७९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यद्यपि केशी जैसे कतिपय पार्श्वापत्यीय अपना पृथक् अस्तित्व भी बनाये हुए थे।[१] इनके कुछ विशालसंघ थे, जो बहुश्रुत भी थे। भगवतीसूत्रमें पाँचसौ साधुवाले बहुश्रुत पार्श्वापत्यीय साधुसंघका उल्लेख मिलता है।[२]

पार्श्वस्थ साधुओंमें शिथिलाचारका कारण यह था कि पार्श्वनाथका धर्म चातुर्याम धर्म था। अपरिग्रहमें गर्भित होनेसे उसमें ब्रह्मचर्यका पृथक् निर्देश नहीं था। इस अनिर्देशसे उन साधुओंमें शिथिलाचारकी प्रवृत्ति चल पड़ी थी। भगवान महावीरने इसीलिए ब्रह्मचर्यका पृथक् उल्लेख करके प्रतिपादन किया।[३] मूलाचार,[४] उत्तराध्यनसूत्र[५] तथा स्थानांगसूत्रकी टीकामें[६] इसका कारण शिष्योंकी मनोवृत्ति बताया गया है। प्रथम तीर्थङ्करके शिष्य सरलस्वभावी तथा जड़बुद्धि थे, अतः वे बार-बार समझाने पर भी शास्त्रका मर्म समझ नहीं पाते थे। अन्तिम तीर्थंकरके शिष्य कुटिल और जड़मति थे। मध्यके तीर्थङ्करोंके शिष्य दृढ़बुद्धि, एकाग्रमन तथा प्रेक्षापूर्वकारी थे। इसीलिए प्रथम और अंतिम तीर्थंकरके धर्ममें प्रतिक्रमण अनिवार्य था, जबकि बाईस तीर्थंकरोंके शिष्य अपराध होने पर ही प्रतिक्रमण करते थे।

श्वे. आगम-साहित्यके अनुसार तीर्थंकरोंके धर्ममें दूसरा अन्तर सचेलता और अचेलताका है। भगवान महावीरका धर्म अचेल और बाईस तीर्थंकरोंका सचेल-अचेल दोनों प्रकारका है।[७] उत्तराध्ययनके केशी-गौतम सूत्रमें पार्श्वनाथके धर्मको सान्तरोत्तर कहा गया है। आचारांगका टीकामें शीलांकने इनका अर्थ 'कभी धारण करे और कभी अपने पास रखे' किया है।[८]

---

१. उत्तराध्ययन, २३ वाँ अध्ययन।

२. भगवतीसूत्र, शतक २, उद्देशक ५, सूत्र १०७।
'तेणं कालेणं पासावच्चिज्जा थेरा भगवंतो—बहुस्सुया बहुपरिवारा पंचहि अणगारसएहिं सद्धि—।'

३. उत्तराध्ययन २३/१२।
'चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंच सिक्खिओ।
देसिओ वड्ढमाणेण पासेण य महामुणी ॥'

४. मूलाचार ७।३७, ३८,१३२, १३३।

५. उत्तराध्ययन २३।२७, २८।

६. शीलांककृत टोका सूत्र २६६।

७. पंचाशक विवरण, १२, निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे प्रकाशित-
आचेलक्को धम्मो पुरिमस्य य पच्छिमस्स जिणस्स।
मज्झिमयाणं जिणाणं होई सचेलो अचेलो य ॥

८. आचारांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, विमोक्ष अध्ययन, चतुर्थ उद्देशक, सूत्र ५१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भ० पार्श्वनाथ और महावीरके धर्ममें उक्त अन्तर तथा पार्श्वस्थ साधुसंघोंके उल्लेखके उपरान्त भी यापनीय या श्वेताम्बर किसी भी सम्प्रदायका सीधा सम्बन्ध-पार्श्वनाथकी परम्परासे नहीं माना जा सकता, क्योंकि श्रमण-संघकी ये तीनों धाराएँ अपने आपको भगवान महावीरके द्वारा उपदिष्ट आगमसे सम्बद्ध बताती हैं। प्रतीत होता है कि महावीरके संघके उदयके पश्चात् पार्श्वनाथकी परम्पराके साधुओंका स्वतंत्र अस्तित्व अधिक काल तक नहीं टिक सका।

महावीरका संघ

उक्त विवेचनसे जान पड़ता है कि सम्प्रदायभेद महावीरके संघमें ही उत्पन्न मतभेदोंका परिणाम है। अतः इस दृष्टिसे यहाँ महावीरके संघकी स्थिति पर विचार करना आवश्यक है।

भगवान महावीरने जिस समय अपने धर्मसंघकी स्थापना की थी, उस समय अनेक धर्मसंघ विद्यमान थे। वे सभी संघ शताब्दियों पूर्व ही नामशेष हो गये। श्रमणसंघने भी धार्मिक विद्वेष, भीषण दुर्भिक्ष, राजनैतिक परिवर्तन जैसे घोर संकट झेले। जहाँ अन्य धर्मसंघ विषम परिस्थितियोंमें अपने अस्तित्वको खो बैठे, वहाँ श्रमणसंघ अपने व्यापक सिद्धान्तों और उदात्त आदर्शोंके कारण आज भी सप्राण है। कालके प्रभावसे जैनधर्मकी अध्यात्मसंहिता पूर्वापेक्षा परिक्षीण अवश्य हुई है, पर उसके शिवसौख्यदाता मोक्षमार्गोपदेशरूप मूलस्वरूपमें कोई अन्तर नहीं आया है।

कालके आघातोंमें भी जैनसंघके अब तक विद्यमान रहनेका कारण उसके अपने उदात्त सिद्धान्त हैं। भगवान महावीरने अपना वह संघ दूरदृष्टिसे चतुर्विध संघके रूपमें स्थापित किया था। इस चतुर्मुखी संघव्यवस्थाने धर्मतीर्थकी वृद्धिमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

जैन श्रमणोंके अपरिमेय आत्मबल तथा परीषहोंको जीतनेकी असाधारण क्षमताने कठोर-से-कठोर परिस्थितियोंमें संघको जीवित बनाये रखा है। जैन श्रमणोंका लक्ष्य तप-त्यागसे परिपूर्ण साधना द्वारा अधिकाधिक आत्मबल अर्जित करना है। उनके शरीर जहाँ त्याग, तपस्या व उपसर्ग और परीषहोंको विजित करनेमें कठोर रहे हैं, वहाँ उनके हृदय अहिंसा और विश्वबन्धुत्वकी भावनासे सरस और स्निग्ध रहे हैं।

महावीरका यह संघ कुछ काल बाद समयके प्रभाव व कतिपय सिद्धान्तोंमें मतभेद उत्पन्न हो जानेके कारण विभाजित हो गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महावीरके उपरान्त संघकी स्थिति

बौद्ध-साहित्यमें एक उल्लेख तीन स्थानों[1] पर आया है। इसके अनुसार[2] 'पावामें निगण्ठनातपुत्त कालकवलित हो गये हैं। उनके दिवङ्गत होते ही निर्ग्रन्थ दो भागोंमें बंट गये, लड़ने लगे, विवाद करने लगे। वचनोंसे एक-दूसरे पर प्रहार करने लगे। कहने लगे तू इस धर्मविनयको नहीं जानता। मिथ्याज्ञानी है। मैं सम्यक् प्रतिपन्न हूँ। मेरा कथन सार्थ है, तेरा निरर्थक। तूने पहले कथनीय बात बादमें कही। बादमें कथनीय बात पहले कही। तेरा विवाद बिना विचारका है। तूने वाद आरंभ किया था, पर निगृहीत हो गया। इस वादसे बचनेके लिए तू इधर-उधर भटक। यदि इस वादको समेट सकता है तो समेट। इस प्रकार नातपुत्तीय निगण्ठोंमें मानों युद्ध ही हो रहा था।'

इस उल्लेखके आधार पर कुछ विद्वान् भगवान महावीरके निर्वाणके तुरंत पश्चात् संघभेद मानते हैं। इस विषयमें डॉ० उपाध्येका कथन है कि 'महावीर या निगण्ठनातपुत्तके निर्वाणके बाद जैन संघमें होनेवाली विघटनकारी प्रवृत्तियों एवं मतभेदोंसे महात्मा बुद्ध अच्छी तरह परिचित हो गये थे। अतः उन्होंने अपने शिष्योंको सावधान किया था कि वे ऐसे वर्गभेदकी प्रवृत्तियोंसे बचें।'[2]

यहाँ हम उस परम्परा पर बल देना चाहते हैं, जो अन्तिम केवली जम्बूस्वामी तक महावीरकी परम्पराको अविच्छिन्न मानती है और जो दोनों सम्प्रदायोंको मान्य है। बुद्धवचनोंका त्रिपिटकके रूपमें संग्रह बुद्ध-निर्वाणके शताब्दियों बादकी घटना है। साथ ही जैनों और बौद्धोंमें दीर्घकाल तक प्रतिस्पर्द्धा व वैमनस्य रहा है, अतः इस प्रकारके उल्लेख उसीके परिणाम हो सकते हैं। श्वेताम्बर परम्परामें

---

१. (क) मज्झिम-निकाय, भाग ३ सामगामसुत्त, (ख) दीघनिकाय भाग ३ पासादिकसुत्त, (ग) दीघनिकाय भाग ३, सङ्गीतिसुत्त।
'तेन खो पन समयेन निगण्ठा नातपुत्तो पावायं अधुना कालङ्कतो होति। तस्स कालङ्किरियाय भिन्ना निगण्ठा द्वेधिकजाता भण्डनजाता कलहजाता विवादापन्ना मुखसत्तीहि वितुदन्ता विहरन्ति। 'न त्वं इमं धम्मविनयं आजानासि'। 'मिच्छापटिपन्नो त्वमसि अहमस्मि सम्मापटिपन्नो'। 'सहितं मे असहितं ते'। 'पुरे वचनीयं पच्छा अवच, पच्छावचनीयं पुरे अवच।' 'अधिचिण्णं ते विपरावत्तं'। 'आरोपितो ते, वादो'। 'निग्गहीतोसि चर पादप्पमोक्खाय, निब्बेढेहि वा सचे णहोसीति।' वधो येव खो मञ्ञे निगण्ठेसु नातपुत्तियेसु वत्तति।' म. नि. भाग ३ पृ. ३७, दीघनिकाय भाग ३, पृ. ९१ व १३७।

२. 'जैन सम्प्रदायके यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश,' अनेकांत, १९७५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गौतम गणधर तथा प्रथम निह्नव जामालिके वादविवादका उल्लेख है। यह उल्लेख उसी घटनाका विकृत रूप रहा हो, तो आश्चर्य नहीं है।

संघभेदका कारण निह्नव नहीं

डॉ. उपाध्येके अनुसार 'भगवान महावीरके जीवनकालमें ही (श्वे० परम्परानुसार) उनके जामाता जामालि द्वारा प्रचलित 'बहुरत' तथा तिष्यगुप्त द्वारा प्रचलित 'जीवप्रदेश' जैसे सैद्धान्तिक मतभेद तो विद्यमान थे ही। भगवान महावीरके निर्वाणके बाद जैन परम्परा दिगम्बर और श्वेताम्बररूपमें विभक्त हो गई, जिसका मूल कारण संभवतः कुछ साधुओंका दक्षिण भारतमें स्थायी रूपमें बस जाना हो, जिसके पीछे श्रमण-आचारों सम्बन्धी थोड़ी बहुत मतभेदोंकी तीव्रता हो, जो पहलेसे ही चले आ रहे थे। आर्याषाढ़ (वी. नि. के २१४ वर्ष पश्चात्) द्वारा प्रचलित मतभेद जैन परम्परामें और अधिक विभाजन करनेके लिए चिरस्थायी बन सके।'[1]

निह्नवोंका विवरण श्वेताम्बर परम्परामें ही मिलता है। ये निह्नव हैं जामालि, तिष्यगुप्त, आर्याषाढ़, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल।[2] इनमेंसे प्रथम निह्नव बहुरत सिद्धान्तका जनक जामालि भगवान महावीरके ही जीवनकालमें उनकी ज्ञानोत्पत्तिके १४ वर्ष बाद हुआ। इसके दो वर्ष पश्चात् दूसरा निह्नव जीवप्रदेशका समर्थक तिष्यगुप्त हुआ। शेष निह्नव भगवान महावीरके निर्वाणोपरान्त कई शताब्दियों बाद तक उत्पन्न हुए हैं। आठवें निह्नव बोटिकका उल्लेख विशेषावश्यक भाष्यमें ही मिलता है।

---

१. वही, पृ. २४४।

२. स्थानाङ्गसूत्र ७/१४०-२।
समणस्स णं भगवओ महावीरस्य तित्थंसि सत्त पवयणणिण्हगा पण्णत्ता। तं जहा बहुरया, जीवपएसिया, अव्वत्तिया सामुच्छेइया, दोकिरिया, तेरासिया अबद्धिया। एएसिं ण सत्तण्हं पवयणणिण्हगाणं सत्त धम्मायरिया हुत्ता जमाली, तीसगुत्ते, आसाढ़े, आसमित्ते, गंगे, छलुए, गोट्ठामाहिले। एतेसिं ण सत्तण्हं पवयणणिण्हगाणं सत्त उप्पत्तिनगर होत्था। संगहणी गाथा—सावत्थी उसभपुरं सेसविया, मिहिलउल्लगातीरं पुरिमतरंजि दसपुरं णिण्हगउप्पत्तिणगराइं॥
आवश्यकनिर्युक्तिगाथा (७७९-७८३) में इनका काल भी दिया है। वहां सात निह्नवोंका उल्लेख कर स्थान व काल आठ निह्नवोंके बताये गये हैं। उपसंहारमें फिर सात ही निह्नव बताये गये हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निह्नव शब्दका अर्थ विशेषावश्यक[1] भाष्यमें किसी विशेष दृष्टिकोणसे आगमिक परम्परासे विपरीत अर्थ प्रस्तुत करने वाला किया गया है। तत्त्वार्थवार्तिकमें[2] ज्ञानका अपलाप करने वालोंको निह्नव कहा गया है।

उक्त सातों निह्नव भगवान महावीरकी विचार-धारासे मतभेद रखते हैं। जामालि और तिष्यगुप्त तो उनके जीवनकालमें ही उनके संघसे पृथक् हो गये थे। जैनसंघकी तीनों धाराएं तो भगवान महावीरको अपना आराध्य मानती हैं। साथ ही इन सातों निह्नवोंके सिद्धान्त तो किसीको भी मान्य नहीं हैं। श्वेताम्बर आगम-साहित्यमें इनका उल्लेख भर है। अन्य दो परम्पराओंमें इनका उल्लेख भी नहीं है। अतः इन निह्नवोंसे, उनके मतभेदोंसे भगवान महावीरको परम्परामें विभाजन मानना तर्कसंगत नहीं है।

संघभेद और गणधर

जैसा कि हम कह आये हैं कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराएँ भगवान महावीरकी परम्पराको अन्तिम केवली जम्बूस्वामी तक अवच्छिन्न मानती हैं। अन्तर यही है कि श्वेताम्बर परम्परामें कहा गया है कि गौतम स्वामीके केवली हो जानेसे सुधर्मा स्वामी ही पट्ट पर आसीन किये गये—'श्रीगौतमस्वामिनः केवलित्वात् पट्टस्थाप्यत्वाभावेन श्रीसुधर्मस्वामिन एव पट्टे स्थापना।'[3] दिगम्बर परम्पराकी सभी पट्टावलियाँ गौतम गणधरसे प्रारंभ होती हैं।[4] यापनीय परम्पराका एक शिलालेख सुधर्मा स्वामीसे प्रारंभ होता है। यह शिलालेख १२ वीं सदी पूर्वार्धका हूलि (जिला बेलगांव, मैसूर) से प्राप्त है और इस प्रकार है—'श्रीवीरनाथस्य गणेश्वरोऽभूत् सुधर्मनामा प्रविधूत ···।'[5]

श्वेताम्बर परम्परामें गौतम गणधरको पट्टधर न माने जानेके विषयमें हस्तिमल्ल महाराज[6] द्वारा निम्नलिखित समाधान प्रस्तुत किये गये हैं।

१. स्वयं भगवान महावीरने आर्य सुधर्माको चिरञ्जीवी जानकर गणधरोंके समक्ष खड़ा करके कहा—मैं तुम्हें धुरीके स्थानपर रखकर गणकी अनुज्ञा देता हूँ।

---

१. विशेषावश्यकभाष्यगाथा २३०८।
२. तत्त्वार्थवार्तिक ७/१०/२।
३. कल्पसूत्र, भाग २, पृ० ४७२।
४. देखिए, तिलोयपण्णत्ती, धवला टीका, जंबूदीवपण्णत्ती आदि।
५. जैन शिलालेख संग्रह भाग ४ में संग्रहीत।
६. जैन साहित्य का मौलिक इतिहास, भाग २, पृ. ६१,६२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. अग्निभूति आदि जिन नौ गणधरोंने भगवान महावीरकी विद्यमानतामें मुक्तिलाभ किया था, वे अपने-अपने निर्वाणसे एक मास पूर्व ही आर्य सुधर्माको गणनायक एवं दीर्घ आयुष्मान् जानकर अपने-अपने गण सौंप गये थे।

३. भगवान महावीरके निर्वाणके साथ ही इन्द्रभूति गौतमको केवलज्ञानकी उपलब्धि हुई। केवलज्ञानी व्यक्ति किसीका उत्तराधिकारी नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं आत्मज्ञानका पूर्ण अधिकारी होता है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामें इस अन्तरका कारण यह है कि दिगम्बर परम्परा श्रुतज्ञानको परम्परासे प्राप्त मानती है, जबकि श्वेताम्बर परम्परामें सभी गणधर भगवानकी वाणीको अङ्गोंमें निबद्ध करते हैं, अतः उनमें वाचनाभेद भी पाया जाता है।

कल्पसूत्रमें भगवानके ग्यारह गणधर तथा नौ गण बताये गये हैं। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वहीं कहा गया है कि वाचनाभेदसे गणभेद होता है और एक ही प्रकारकी वाचना मानने वाले साधुसमुदायको गण कहते हैं। अन्तिम चार गण-धरोंमें दो-दोकी एक-एक ही वाचना थी।[1]

इस मान्यताके प्रकाशमें जब हम श्वेताम्बर परम्परामें गौतम गणधरकी शिष्य-परम्पराका अभाव तथा सुधर्माकी शिष्य-परम्पराका अस्तित्व पाते हैं, तो यह आशङ्का होती है कि शायद वाचनाभेदके कारण ही गौतम गणधरको दिगम्बर परम्परामें और सुधर्माको श्वेताम्बर परम्परामें अग्रस्थान मिला होगा।

दिगम्बर परम्परामें षट्खण्डागमके धवला-टीकाकार वीरसेन अंगज्ञानका प्रवाह गौतमसे सुधर्मा तथा सुधर्मासे जम्बूस्वामीको प्राप्त हुआ मानते हैं। श्वेताम्बर आगमोंमें भी विशेषतः भगवतीसूत्रमें गौतम इन्द्रभूति द्वारा भगवानसे पूछे गये प्रश्नों-का बाहुल्य है। साथ ही पट्टधर न मानने पर भी उन्हें सम्माननीय स्थान प्राप्त है। इससे ज्ञात होता है कि वाचनाभेद स्वीकार करने पर भी इस समय सम्प्रदायभेदकी परिस्थितियाँ नहीं थीं। यह संभव है कि आगे चलकर सम्प्रदायभेदमें वाचनाभेद भी एक कारण बना हो। पर यह श्वेताम्बर-दिगम्बर उभयमान्य तथ्य है कि जम्बूस्वामी तक महावीरका संघ अखण्ड एवं अविच्छिन्न रहा है।

---

१. कल्पसूत्र, पृ. ४३८-९।
एवं एकादशानां गणधराणां नवगणाः जाताः। तद्यथा सप्तानां गणधराणां परस्पर-भिन्नवाचनया सप्तगणा जाताः। अकम्पिताचलभ्रात्रोर्द्वयोरपि परस्परं समान-वाचनया एको गणो जातः। एवं मेतार्य-प्रभासयोर्द्वयोरपि एकवाचनया एको गणो जातः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जम्बूस्वामीके उपरान्त संघ की स्थिति

जम्बूस्वामीके उपरान्त संघकी स्थितिके विषयमें दोनों सम्प्रदायोंमें निम्नलिखित मान्यताभेद है[1]—

१. दिगम्बर परम्परा चौदह पूर्वधारियोंका समय वीर नि. सं. ६२ से १६२ वर्ष तक अर्थात् १०० वर्ष मानती है। श्वेताम्बर परम्परा वीर नि. सं. ६४ से १७० अर्थात् १०६ वर्ष मानती है।

२. दोनों परम्पराओंमें चतुर्दश पूर्वधरोंकी संख्या पाँच मानी गई है। दिगम्बर परम्परामें श्रुतकेवलियोंके नाम विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु हैं और श्वेताम्बर परम्परामें प्रभव, शयंभव, यशोभद्र, संभूतिविजय और भद्रबाहु हैं। भद्रबाहुको छोड़कर शेष चार नाम व व्यक्ति दोनों परम्पराओंमें भिन्न-भिन्न हैं। अभिधानचिन्तामणिमें स्थूलभद्रको भी श्रुतकेवली माना गया है।[2]

३. दश पूर्वधर आचार्योंका समय दिगम्बर परम्परामें १८३ वर्ष व श्वेताम्बर परम्परा में ४१४ वर्ष माना गया है।

४. दशपूर्वधरोंकी संख्या दोनोंमें ११ है, पर नाम भिन्न हैं।

५. दिगम्बर परम्परा मानती है कि दशपूर्वधरोंमें अन्तिम दशपूर्वधर आचार्य धरसेनके स्वर्गस्थ होते ही वीर नि. सं. ३४५ में पूर्वज्ञानका विच्छेद हो गया और वह आंशिक रूपमें विद्यमान रहा।

६. दिगम्बर परम्परा ११ अंगोंका विच्छेद वीर नि. सं. ६८३ से मानती है, श्वेताम्बर परम्परा ११ अंगोंका अस्तित्व मानती है।

७. श्वेताम्बर परम्परा बारहवें दृष्टिवादका उच्छेद मानती है, दिगम्बर परम्परा इसके कुछ अंशका अस्तित्व स्वीकार करती है। दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराकी उक्त विभिन्न मान्यताएँ इन दोनोंकी दो विभिन्न परम्पराओंको व्यक्त करती हैं।

विशेषावश्यकभाष्यमें जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने जम्बूस्वामीके पश्चात् जिन दश बातों का विच्छेद बताया है, उनमें एक जिनकल्प है। कठोर तपश्चरण करने वाले निर्वस्त्र साधुओंको जिनकल्प तथा किञ्चित् सुखसाध्य तपश्चरण करने वाले सवस्त्र साधुओंको स्थविरकल्पी कहा गया है।

---

१. दिग० परम्पराके लिए देखिए, तिलोयपण्णत्तो ४/१४७६-८४, धवला पुस्तक १, पृ. ६६, इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार ७२-८. श्वे. परम्पराके लिए हेमचन्द्रकृत परिशिष्ट पर्व १, विचारश्रेणि।

२. अभिधानचिन्तामणि १/३३-३४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पं. बेचरदासजी दोशीका कथन है कि 'जिनकल्पके उच्छेदके उल्लेखका एक ही उद्देश्य हो सकता है। जम्बूस्वामीके बाद जिनकल्पके विच्छेदकी घोषणा कर जिनकल्पके आचरणको बन्द करना और जो इस ओर प्रवर्तित हों, उन्हें उस प्रकारके आचरणसे रोकना....। इसीमें श्वेताम्बरत्व और दिगम्बरत्वके विषवृक्षकी जड़ समाई हुई है तथा इसके बीजारोपणका समय भी वही है, जो जम्बूस्वामीके निर्वाणका समय है।.... क्षमाश्रमणजीके समय संभव है ऐसा विचार पहलेसे चला आता हो, अतः उन्होंने इसे सूत्रग्रन्थोंमें समाविष्ट कर दिया हो।'[1]

श्वे. आगमोंमें भगवान महावीरके धर्मको अचेलक कहा गया है। दश स्थितिकल्पोंमें आचेलक्य प्रथम तथा व्रत (पञ्चमहाव्रत) द्वितीय कल्प है। यद्यपि व्रतोंमें अपरिग्रहव्रतमें आचेलक्य गर्भित है फिर भी श्वेताम्बर परम्परामें ही आचेलक्यको पृथक् रूपसे ग्रहण किया गया है। यह पृथग्ग्रहण आचेलक्यके महत्वको ही उद्घोषित करता है।

आचारांगमें अल्प या बहुत सूक्ष्म या स्थूल सचेतन या अचेतन परिग्रहको परिग्रह कहा है।[2] इसकी टीकामें आचार्य शीलांकका कथन है कि वोटिक भी पीछी रखते हैं, शरीर रखते हैं, भोजन ग्रहण करते हैं। यदि यह कहा जाये कि ये सब धर्ममें सहायक हैं तो वस्त्र-पात्र भी धर्मके साधन हैं।

आचारांगमें ही कहा गया है कि 'अचेल साधुको यह चिन्ता नहीं सताती कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है, वस्त्र मागूँगा, धागा मागूँगा, सुई मागूँगा, जोडूँगा, सीऊँगा, उधेडूँगा, पहनूँगा या ओढूँगा....।[3]

यहीं विमोक्षाध्ययनमें वस्त्रधारी साधुके लिए भी कहा है कि 'हेमन्त बीत जानेपर यदि वस्त्र जीर्ण न हुए हों तो कहीं रख दें अथवा अवश्यकता हो तो पहन ले अन्यथा

---

१. जैन साहित्यका इतिहास (पूर्व पीठिका), पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ, ४८७ से उद्धृत।

२. 'आवंती केयावंती लोगंसि परिग्गहावंती से अप्पं वा बहु वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा....।'

३. 'जे अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स नो एवं भवइ—परिजुण्णे मे वत्थे, वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि, वुक्कसिस्सामि, परिहिस्सामि पाउणिस्सामि....।'—अध्ययन ६, उद्देशक ३ सूत्र ५९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उतार दे। अथवा तीनमें दो रख ले (अवमचेलक हो जाए) अथवा एक शाटक अथवा अचेल हो जाए।'[1]

इस प्रकार आचारांगमें वस्त्रधारी साधुके लिए भी मात्र शीत ऋतुमें तीन वस्त्रोंका विधान किया है और ग्रीष्म ऋतुमें संतरुतर या ओमचेल या एकशाटक अथवा अचेल ही रहने का निर्देश है।

स्थानांगमें भी पांच बातोंको लेकर अचेलताको प्रशस्त बताया है--अल्प प्रतिलेखन, प्रशस्त लाघव, विश्वासोत्पादक रूप, उत्कट तप तथा विपुल इन्द्रिय-निग्रह।[2] तथा तीन कारणोंसे वस्त्रधारणकी अनुज्ञा है—लज्जा-निवारण, ग्लानि-निवारण और परीषह-निवारण।[3]

प्राचीन आगमोंमें जो वस्त्रकी स्थिति अपवादरूपसे थी, उत्तरकालीन ग्रन्थकारों और टीकाकारोंने उसी वस्त्र-पात्रवादके प्रचार और पोषणको अपना लक्ष्य बनाया। सर्वप्रथम विशेषावश्यक भाष्यमें ही जिनकल्पके उच्छेदकी घोषणा तथा वस्त्रका जोरदार समर्थन मिलता है।

न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा॥

दशवैकालिकका उक्त कथन कि (लज्जा अथवा संयमके लिए) वस्त्रधारण परिग्रह नहीं है, इस बातको सूचित करता है कि इस समयमें भी संघमें वस्त्रके विषयको लेकर मतभेद था। श्वेताम्बर मान्यतानुसार जम्बूस्वामीके निर्वाणके पश्चात् द्वितीय श्रुतकेवली शयंभवने अपने पुत्र मणकके स्वाध्यायहेतु दशवैकालिक-का प्रणयन किया।[4] उक्त कथनका आधार लेकर उत्तरकालीन आचार्य मूर्च्छा परिग्रह है, वस्त्र-पात्र नहीं, यह कहकर विरोधियोंका मुख मुद्रित करने लगे।

---

१. 'अह पुण एवं जाणिज्जा—उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले।'–आचारांग ७।२०८, २०९.

२. पंचहिं ठाणेहि अचेलए पसत्थे भवइ। तं जहा—अप्पा पडिलेहा, लावघिए पसत्थे, रूवे वेसासिए, तवे अणुण्णाए, विउले इंदियनिग्गहे।' ५।३

३. 'तिहिं ठाणेहिं वत्थ धरेज्जा। तं जहा—हिरिपत्तयं, दुगुंछापत्तियं, परीसह-पत्तियं।' ३।१७.

४. मणगं पडुच्च सेज्जंभवेण निज्जूहिया दसज्झयणा।
वेयालियाइ ठविया तम्हा दसकालियं नाम॥
दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बृहत्कल्पसूत्र[1] तथा विशेषावश्यकभाष्य[2] में अचेलके दो भेद किये हैं—संताचेल (जिनकल्पी सहित समस्त साधु) व असंतचेल (तीर्थंकर)।

इस प्रकार जम्बूस्वामीके उपरान्त जिनकल्पकी व्युच्छित्तिकी घोषणा करके आचारांगसूत्रवृत्ति, स्थानांगसूत्रवृत्ति, उत्तराध्ययनसूत्रवृत्ति, विशेषावश्यकभाष्य, बृहत्कल्प, पञ्चाशकविवरण, जीतकल्प, प्रवचनसारोद्धार आदिमें अचेलताके आश्रयसे सचेलताका पोषण मिलता है।

अन्तिम केवली जम्बूस्वामीके बाद दिग० परम्परामें विष्णु और श्वेताम्बर परम्परामें प्रभव प्रथम श्रुतकेवली माने गये हैं। तिलोयपण्णत्ती आदिमें विष्णुके स्थान पर नन्दि या नन्दी मुनि भी कहा गया है। आचार्यका पूरा नाम विष्णुनन्दि अनुमानित किया गया है। विष्णु मुनि उस पक्षके पक्षधर थे, जो भगवान महावीरके नियमोंके यथावत् परिपालनको प्रश्रय देता था, ऐसा प्रतीत होता है। आचार्य प्रभवके संघके मुनियोंको किञ्चित् सुखशीलता विष्णुमुनिके संघस्थ मुनियोंको अरुचिकर प्रतीत हुई होगी। तभी दोनोंकी भिन्न परम्पराएँ मिलती हैं। परवर्ती कालमें जम्बूस्वामीके उपरान्त जिनकल्पके विच्छिन्न होनेकी घोषणामें भी यही परम्पराभेद कारण दिखाई देता है। विष्णुमुनिके पश्चात् उस संघके संरक्षक क्रमशः आचार्य नन्दिमित्र, अपराजित और गोवर्द्धन हुए। प्रभवके उत्तराधिकारी क्रमशः आचार्य शयंभव, यशोभद्र एवं संभूतिविजय हुए।

इन चारों श्रुतकेवलियोंके पश्चात् भद्रबाहु एक ऐसे प्रभावशाली आचार्य हुए, जिन्हें सम्पूर्ण जैनसंघने श्रद्धाके साथ स्वीकार किया है। इनसे पूर्वके आचार्योंके नाम व काल भिन्न हैं। इससे स्पष्ट है कि ये एक दूसरेसे भिन्न हैं पर इस समय तक सम्प्रदायभेद नहीं हुआ था, इसी कारण भद्रबाहु दोनों परम्पराओंमें मान्य हो सके। फिर भी श्वेताम्बर परम्परामें जो सम्मान स्थूलभद्रका है, वह भद्रबाहुका नहीं। स्थूलभद्रने दश पूर्वोका ज्ञान भद्रबाहुसे ही प्राप्त किया था, फिर भी उनके जीवनकालमें उनकी अनुपस्थितिमें ही ग्यारह अंगोंका संकलन उनकी अवहेलना व्यक्त करता है। साथ ही श्वे० परम्परामें जिस प्रकार गौतम गणधरकी शिष्य-परम्पराका अभाव है, उसी प्रकार भद्रबाहुकी शिष्य-परम्पराका भी अभाव है।

श्वेताम्बर परम्परामें कल्पसूत्र, स्थविरावलीके अनुसार आचार्य यशोभद्रने संभूतिविजय और भद्रबाहु नामक दो श्रुतकेवली शिष्योंको अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। यशोभद्रके पश्चात् दो आचार्योंकी परम्परा आरंभ हुई। आचार्य

---

१. दुविहो होंति अचेलो संताचेलो असंतचेलो य।
तित्थयरा असंतचेला संतचेला भवे सेसा ॥

२. विशेषावश्यकभाष्य २५९८–२६०१.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हस्तिमलने गच्छाचारप्रकीर्णाका उद्धरण देते हुए कहा है कि 'यशोभद्रके स्वर्गारोहण के पश्चात् संभूतिविजय और भद्रबाहु ये दोनों आचार्य चन्द्र और सूर्यकी तरह अपनी ज्ञानरश्मियोंसे अज्ञान-तिमिरका नाश करते हुए विभिन्न क्षेत्रोंमें विचरण करने लगे।'[1]

इस आदरपूर्वक उल्लेखके उपरान्त भी यह ध्यातव्य है कि भद्रबाहुसे श्वेताम्बर परम्पराकी आचार्यपरम्परा नहीं चली। यशोभद्रके प्रथम शिष्य संभूतिविजयके शिष्य स्थूलभद्रसे ही श्वेताम्बर परम्पराकी आचार्यपरम्परा प्रचलित हुई है। श्वेताम्बर परम्परामें भद्रबाहुकी इस स्थितिसे स्पष्ट है कि भद्रबाहु विष्णुमुनिकी परम्पराके थे। यशोभद्रके शिष्य संभूतिविजय और संभूतिविजयके शिष्य स्थूलभद्र प्रभवस्वामीकी परम्परामें थे। प्रतीत होता है कि भद्रबाहुके प्रभावशाली व्यक्तित्वके कारण प्रभवस्वामीकी परम्परामें उन्हें सम्मान प्राप्त हो सका।

भद्रबाहुके उपरान्त संघकी स्थिति

भद्रबाहुके समयसे तो उनमें पार्थक्य और अधिक स्पष्ट हो गया। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराएँ भद्रबाहुके समयसे ही संघ-विभाजन मानती हैं।

देवसेनने अपने दर्शनसारमें लिखा है[2] कि 'विक्रम राजाकी मृत्युके १३६वें वर्षमें सौराष्ट्र देशके वलभीपुरमें श्वेतपट संघ उत्पन्न हुआ। श्री भद्रबाहुगणिके शिष्य शांति नामक आचार्य थे। उनका जिनचन्द्र नामका शिथिलाचारी दुष्ट शिष्य था। उसने मत चलाया कि स्त्रियोंको उसी भवमें मोक्ष प्राप्त हो सकता है, केवलज्ञानी भोजन करते हैं और उन्हें रोग होता है। वस्त्रधारी तथा निर्ग्रन्थके सिवाय अन्य लिंगसे भी मुक्ति संभव है तथा प्रासुक भोजन सर्वत्र किया जा सकता है।'[3]

भावसंग्रहकार देवसेनने श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिको कथा अधिक विस्तारसे दी है[4]—'उज्जयिनी नगरीमें निमित्तज्ञानी भद्रबाहु आचार्य थे। निमित्तज्ञानके बलसे द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षको जानकर उन्होंने समस्त गणधरोंको संघसहित अन्यत्र विहार करनेका आदेश दिया। उनमेंसे एक शांति नामक आचार्य अपने शिष्योंके साथ सौराष्ट्र देशकी वलभी नगरीमें पहुँचे। दुर्भाग्यसे वहाँ भी अकाल पड़ गया। इस निमित्तको पाकर सबने कम्बल, दण्ड, तूम्बा, पात्र, आवरण और सफेद वस्त्र धारण

---

१. जैन साहित्यका मौलिक इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० ३२९।
२. छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्य मरणपत्तस्स
 सोरट्ठे बलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो ॥ गा० ११ ॥
३. दर्शनसार, गाथा ११-१४।
४. भावसंग्रह, गाथा ५३-७०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर लिए। ऋषियोंका आचरण छोड़कर दीनवृत्तिसे भिक्षा ग्रहण करना तथा वसतिकामें बैठकर स्वेच्छापूर्वक खाना आरंभ कर दिया। सुभिक्ष होने पर शांति आचार्यने उन्हें पुनः मुनियोग्य श्रेष्ठ आचरणके लिए प्रेरित किया। इससे रुष्ट होकर एक शिष्यने दीर्घदण्डसे उनके सिर पर प्रहार कर दिया, जिससे उनका प्राणान्त हो गया। वह शिष्य संघका स्वामी बना और उसने प्रकटरूपसे श्वेताम्बर मतका प्रवर्तन किया।'

हरिषेणकृत बृहत्कथाकोशके अनुसार 'भद्रबाहु पुण्ड्रवर्धन देशके निवासी ब्राह्मणके पुत्र थे। चतुर्थ श्रुतकेवली गोवर्धनने उन्हें सुयोग्य जानकर उनके पितासे मांग लिया और पढ़ाकर विद्वान् बनाया। बादमें भद्रबाहुने मुनि-दीक्षा ले ली और वे आचार्य गोवर्धनके स्वर्गगमनके उपरान्त पञ्चम श्रुतकेवली हुए।

दिव्यज्ञानी भद्रबाहुने द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षको जानकर संघको समुद्रके समीप जानेका निर्देश किया। इसी समय सम्राट चन्द्रगुप्तने दीक्षा ले ली। उनका नाम विशाखाचार्य हो गया। संघ विशाखाचार्यके साथ पुन्नाट देशको चला गया। भद्रबाहु मुनिने भाद्रपद देश[1] में जाकर समाधिमरण किया।

सुभिक्ष होने पर विशाखाचार्य समस्त संघके साथ दक्षिणापथ देशसे मध्यदेशमें लौट आये। रामिल्ल, स्थविर-स्थूल और भद्राचार्य तीनों दुर्भिक्ष कालमें सिन्धु देशमें चले गये थे। वहाँ से लौटकर कहा कि वहाँके लोग दुर्भिक्ष पीड़ितोंके भयसे रातमें ही खाते थे। उन्होंने हमसे भी कहा कि आप लोग भी रातके समय हमारे घरसे आहार ले जाया करें। उनके ऐसा कहने पर हम लोग वैसा ही करने लगे। एक दिन अंधेरे-में कृशकाय निर्ग्रन्थ साधुको देखकर एक गर्भिणी श्राविकाका भयसे गर्भपात हो गया। तबसे श्रावकोंका कहना स्वीकार कर यतिगण बायें हाथसे अर्धफालकको आगे कर दाहिने हाथमें भिक्षापात्र लेकर रात्रिमें आहारके लिए निकलने लगे।

सुभिक्ष हो जाने पर रामिल्ल, स्थविरस्थूल और भद्राचार्यने सकल संघको बुलाकर निर्ग्रन्थ रूप धारण करनेके लिए कहा। कुछने अर्द्धफालकको छोड़कर निर्ग्रन्थ रूप धारण कर लिया। शक्तिहीनोंने जिनकल्प एवं स्थविरकल्पका भेद करके अर्द्धफालक सम्प्रदायका चलन किया।

इन्हीं अर्द्धफालकोंसे काम्बल तीर्थका प्रवर्तन हुआ। वलभी नरेश वप्रवादकी पटरानी अर्द्धफालकोंकी भक्त थी, पर राजाको यह रूप ठीक प्रतीत नहीं हुआ, उसने संघसे कहा कि यदि निर्ग्रन्थ रूप धारण करनेमें असमर्थ हो, तो शरीरको ऋजुवस्त्रसे ढांककर विहार करो। उसकी आज्ञासे लाटवासियोंका यह काम्बल तीर्थ

---

१. यहाँ श्रीमदुज्जयिनीभवं भाद्रपद्देशम्.... कहा गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रर्वतित हुआ। इसके पश्चात् सावलिपत्तनमें उस काम्बल सम्प्रदायसे यापनीय संघ उत्पन्न हुआ।'[1]

इन कथाओंके प्रमुख तथ्य इस प्रकार हैं—

१. भद्रबाहु श्रुतकेवलीके समय उत्तरभारतमें भीषण दुर्भिक्ष पड़ा, उस अवसर पर संघ आचार्यके आदेशसे दक्षिणापथकी ओर प्रस्थान कर गया।

२. दुर्भिक्षके समय उत्तरभारतमें रह गये साधुओंमें शिथिलाचारिता व्याप्त हो गयी थी।

३. दुर्भिक्ष समाप्तिके उपरान्त भी शिथिलाचारिताको न त्यागने वाले साधुओंसे क्रमशः अर्द्धफालक, काम्बल तथा यापनीय सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई।

श्वेताम्बर परम्परामें भद्रबाहुका परिचय तित्थोगालियपइन्ना, आवश्यकचूर्णि आदि ग्रन्थोंमें अति संपेक्षमें मिलता है। गच्छाचार प्रकीर्णा, दोघट्टी वृत्ति, प्रबन्ध-चिन्तामणि और प्रबन्धकोशमें वह कुछ विस्तारसे मिलता है। कई भद्रबाहुओंके-जीवन-चरित्र परस्पर मिल जानेसे इनका परिचय विमिश्रित हो गया है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु विषयक श्वेताम्बर मान्यताओंका निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

१. अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वधर थे। इनके समयमें द्वादशवर्षीय दुष्काल पड़ा, उस समय वे बारह वर्ष तक नेपालमें रहे और महाप्राण योग धारण किया।

२. दुर्भिक्षकी समाप्ति हो जाने पर विभिन्न क्षेत्रोंमें गये हुए श्रमण-श्रमणी समूह पुनः पाटलिपुत्र पहुँचे। भीषण दुष्कालके दुस्सह परीषहोंके भुक्तभोगी वे सब श्रमण परस्पर एक दूसरेको देखकर ऐसा अनुभव करने लगे, मानों परलोकमें जाकर लौटे हों। जब सभी श्रमणोंने देखा कि दीर्घकालके दैवो प्रकोपके कारण श्रमणवर्ग समयपर एकादशांगीके पाठोंका स्मरण, चिन्तन, मनन, पुनरावर्तन आदि नहीं कर सके हैं। परिणामस्वरूप सूत्रोंके अनेक पाठ, अधिकांश श्रमणोंके स्मृतिपटलसे तिरोहित हो चुके हैं, तब अंगशास्त्रोंकी रक्षाके लिए ज्ञानवृद्ध, शास्त्रपारगामी स्थविरोंकी पाटलिपुत्रमें वी. नि. सं. एक सौ साठमें आगमोंकी बृहद् वाचना हुई। श्रमण-संघके आचार्य उस समय नेपाल देशमें महाप्राण ध्यानकी साधना प्रारम्भ करने गये हुए थे, अतः स्वर्गस्थ आचार्य संभूतिविजयके शिष्य स्थूलभद्रकी अध्यक्षतामें यह वाचना हुई। कतिपय मासोंके अनवरत एवं अथक प्रयाससे सम्पूर्ण एकादशांगीकी वाचना सम्पन्न हुई।

३. चतुर्दश पूर्वधारी भद्रबाहु इस समय नेपालमें महाप्राण ध्यान कर रहे थे। तब साधुओंक एक संघाटकको भद्रबाहुको लानेके लिए नेपाल भेजा गया। ध्यानमें

---

१. बृहत्कथाकोश (हरिषेणकृत) भद्रबाहुकथा संख्या १३१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संलग्न होनेके कारण भद्रबाहु द्वारा संघाज्ञाके अस्वीकार किये जाने पर संघने दूसरा संघाटक भेजा। उस संघाटकने भद्रबाहुसे पूछा—'संघकी आज्ञा न माननेवालेके लिए किस प्रकारके प्रायश्चित्त का विधान है?' भद्रबाहुने कहा—बहिष्कार। पर मैं महाप्राण ध्यानकी साधना आरम्भ कर चुका हूँ। संघ मुझ पर अनुग्रह करे और सुयोग्य शिक्षार्थी श्रमणोंको यहाँ भेज दे। मैं उन्हें प्रतिदिन सात वाचनाएँ दूँगा।' तदनन्तर संघने स्थूलभद्र आदि श्रमणोंको पूर्वज्ञानके अभ्यास हेतु भेजा।

इससे ज्ञात होता है कि जम्बूस्वामीके समय जिस मतभेदका बीज बो दिया गया था, वह भद्रबाहुके समय उभर कर सामने आया और फलस्वरूप दो परम्पराओंका जन्म हुआ।

आगम-संकलन

द्वादशांगके अविकल ज्ञाता भद्रबाहुके जीवनकालमें ही श्वेताम्बर परम्पराको श्रुतव्युच्छित्तिका भय क्यों व्याप्त हो गया? उनकी अनुपस्थितिमें ही एकादशाङ्गोंका संकलन क्यों कर लिया गया? श्रुतकेवली भद्रबाहुके जीवित रहते हुए हो साधु-संघको एकत्रित करके उनकी स्मृतिके आधार पर आगमवाचनाका क्या औचित्य था? आचार्य स्थूलभद्र भी यदि परम्परासे प्रवाहित एकादशांगके वेत्ता थे, तो फिर उनकी अध्यक्षतामें स्मृतिके आधार पर श्रुतसंकलनका प्रयास क्यों किया गया? आगम संकलनके विषयमें ऐसे अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं।

श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार महाप्राण ध्यानमें लीन होनेके कारण भद्रबाहु आगमन-वाचनामें उपस्थित न हो सके। स्थूलभद्रकी अध्यक्षतामें समस्त साधु-समाजकी स्मृतिके आधार पर एकदशांगकी संकलना की गई। अवशिष्ट द्वादशांगमेंसे पूर्वज्ञानके लिए स्थूलभद्र आदि पांचसौ साधु भद्रबाहुके पास पहुंचे। स्थूलभद्र इसी संकलित एकादशांग धारक होंगे, अन्यथा यदि वे परम्परासे प्राप्त ग्यारह अंगोंके धारक होते, तो स्मृतिके आधार पर आगम-संकलनकी आवश्यकता नहीं होती फिर भी यदि सामूहिक रूपसे आगम-संकलन किया गया, तो इससे प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने विचारभेदोंको बद्धमूल करनेको दृष्टिसे सबको आमन्त्रित कर आगम-संकलन किया होगा, जिससे कि उस पर प्रामाणिकताकी मुहर लगाई जा सके।

दिगम्बर परम्पराको सकलश्रुतवेत्ता भद्रबाहुके जीवित रहते साधुसमाजको एकत्रित कर आगम-संकलनकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। भद्रबाहुके उपरान्त भी आचार्य श्रुतज्ञानको अपने उत्तराधिकारीको सौंपते रहे, अतः मेधा व धारणा शक्तिकी कमीके कारण श्रुत क्रमशः क्षीण होता गया, पर एकाएक व्युच्छिन्न नहीं हुआ। वह द्वितीय पूर्वके वेत्ता धरसेनाचार्य तक अनवच्छिन्न रूपसे चला आया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उन्होंने अपना वह श्रुत पुष्पदन्त और भूतबलिको प्रदान किया, जिन्होंने उसे षट्-खण्डागमके रूपमें निबद्ध किया।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ संघ-विभाजन श्रुतकेवली भद्रबाहुके जो सम्राट चन्द्रगुप्तके समकालीन हैं, समयसे मानती हैं। आगम-संकलनकी घटनाने तो दोनों सम्प्रदायोंके विभाजनको और अधिक उजागर कर दिया। हेम-चन्द्रसूरिके[1] अनुसार भी पाटलिपुत्रमें हुई प्रथम वाचनाके समय संघभेदका आरम्भ हो गया था।

द्वितीय वाचना—आचार्य स्थूलभद्रकी अध्यक्षतामें संकलित यह आगम श्रुत-का अन्तिम रूप नहीं था। वीर नि. सं. ८२७से ८४०के मध्य मथुरामें आर्य स्कन्दिलकी अध्यक्षतामें एक और वाचना हुई। इस समय भी दुर्भिक्ष पड़ा था। लगभग इसी समय वलभीमें नागार्जुनकी अध्यक्षतामें दक्षिणमें भी एक वाचना हुई। आचार्य स्कन्दिल एवं नागार्जुन दोनों वाचनाओंके उपरान्त मिल नहीं सके, इसी कारण दोनों वाचनाओंमें रहे हुए पाठभेदोंका निर्णय अथवा समन्वय नहीं हो सका।

नन्दिचूर्णिमें जिनदासगणि महत्तरने स्कन्दिलाचार्यकी अध्यक्षतामें होने वाली वाचनाका उल्लेख इस प्रकार किया है—

> 'बारस संवच्छरिए महते दुब्भिक्खे काले भत्तट्ठा अण्णण्णतो हिण्डियाणं गहणगुणणणुप्पेहाभावाओ विप्पणट्ठे सुत्ते, पुणो सुब्भिक्खे काले जाए महुराए महंते साधुसमुदये खंदिलायरियप्पमुहसंघेण जो जं संभरइत्ति इव संघडियं कालियसुयं। जम्हा एव महुराए कयं तम्हा माहुरी वायणा भण्णइ।'[2]

इसके टीकाकार मलयगिरिने भी लिखा है[3] कि 'दुर्भिक्ष समाप्त होने पर दो सम्मेलन हुए एक वलभीमें और दूसरा मथुरामें, इसी कारण वाचनाभेद हुए। माथुरी वाचना तत्कालीन युगप्रधान आचार्य स्कन्दिलको अभिमत थी और उन्हींके द्वारा अर्थरूपसे शिष्यबुद्धिको प्राप्त हुई थी, अतः वह अनुयोग उनका अनुयोग कहा जाता है। मलयगिरिने दूसरोंका मत बताते हुए कहा है कि कुछ इस प्रकार कहते हैं कि दुर्भिक्षवशात् कुछ भी श्रुत नष्ट नहीं हुआ, किन्तु अनुयोगधर कालकवलित हो गये, केवल स्कन्दिलसूरि बचे। उन्होंने मथुरामें पुनः अनुयोगका प्रवर्तन किया, अतः यह माथुरी वाचना कहलाई।'

---

१. परिशिष्ट पर्व ९/५५-७६ व तित्थोगालियपइन्ना गाथा ७२०-३.

२. जिनदासमहत्तरकृत नन्दिचूर्णी, पृ. ८

३. नन्दिसूत्र (आगमोदय समिति, बम्बईसे प्रकाशित) गाथा २३ की टीका।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तृतीयवाचना

वीर निर्वाण संवत् ९८० में वलभीमें आचार्य देवर्द्धिगणिकी अध्यक्षतामें अंतिम वाचना हुई, जिसमें श्रुतको पुस्तकारूढ़ कर लिया गया, अतः इसके उपरान्त वाचनाकी आवश्यकता ही नहीं रही। समयसुन्दरगणिने अपने सामाचारी शतकमें लिखा है कि 'देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणने द्वादशवर्षीय दुर्भिक्षके कारण बहुतसे साधुओं-का मरण तथा अनेक बहुश्रुतोंका विच्छेद हो जाने पर श्रुतभक्तिसे प्रेरित होकर भावि जनताके उपकारके लिए वीर निर्वाण संवत् ९८० में श्री संघके आग्रहसे बचे हुए सब साधुओंको वलभी नगरीमें बुलाया और उनके मुखसे विच्छिन्न होने से अवशिष्ट रहे कमती, वढ़ती, त्रुटित, अत्रुटित आगमपाठोंको अपनी बुद्धिसे क्रमानुसार संकलित करके पुस्तकारूढ़ किया।'[1]

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणके पश्चात् भी आगमोंमें परिवर्तन हुआ है, जिसे याकोबी आदि पाश्चात्य तथा पं. बेचरदास दोशी आदि जैन विद्वानोंने स्वीकार किया है।[2]

इस सब विवेचनसे यही प्रतीत होता है कि यद्यपि जम्बूस्वामीके उपरान्त ही परम्पराभेद दिखाई देता है, परन्तु उस समय तक सम्प्रदायभेद नहीं हुआ था, संभ-वतः मतभेद रहे होंगे।

स्थूलभद्रकी अध्यक्षतामें हुए आगम-संकलनके समय ये उभर कर सामने आये। इसलिए अनेक इतिहासज्ञ इसी समय सम्प्रदायभेद मानते हैं।[3]

इस स्थितिमें देवसेनके इस कथनका कि 'वलभीमें विक्रम संवत् १३६ में श्वेताम्बर संघकी उत्पत्ति हुई' क्या आधार है ? नहीं कहा जा सकता।

विक्रम संवत् १३६ अर्थात् वीर निर्वाण सं. ६०६ का समय न तो भद्रबाहु प्रथमके समयसे मेल रखता है और न वलभीमें हुई तीसरी आगमवाचनासे, जिसका समय वीर नि. सं. ९८० और वाचनान्तरसे ९९३ है, जो वि० सं. ५१० और ५२३ होता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, इस वलभी वाचनासे पहले माथुरी वाचनाके समानान्तर वलभीमें ही नागार्जुनसूरिकी अध्यक्षतामें एक और वाचनाका उल्लेख मिलता है, परन्तु इसका समय भी वीर नि. सं. ८२७ से ८४० है।

---

१. जैन साहित्यका इतिहास (पूर्व पोठिका), पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, पृ.४९९ से उद्धृत।

२. दृष्टव्य, जैन साहित्यका इतिहास (पूर्वपीठिका), पृ. ५२०–५२७.

३. एशियन्ट इंडिया, आर. सी. मजूमदार, पृ. १७९, कैम्ब्रिज हिस्ट्री, १९५५, पृ. १४७ व भारतके प्राचीन राजवंश भाग २, श्री विश्वेश्वरनाथ रेऊ, पृ. ४१.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवसेन द्वारा उल्लिखित संघविभाजनका यह काल श्वे. परम्पराके अनुसार आर्य-वज्रके आचार्यत्वका है। पट्टावली-समुच्चयमें संग्रहीत 'सिरिदुसमाकालसमणसत्रथयं' नामक पट्टावलीमें आर्य वज्र (वइर) का उल्लेख है। इसी पट्टावलीकी अवचूरीमें इनका समय वी० नि० सं० ६१७ बताया गया है। यहीं 'अत्रान्तरे बोटिका निर्गता' भी उल्लिखित है।[1] कल्पसूत्र स्थविरावलीमें प्रथम आर्य व्रजका समय वी० नि० सं० ५४८ और द्वितीय आर्य व्रजका वी० नि० सं० ६१७ दिया गया है। तिलोयपण्णत्तिमें आचार्य वज्रयशका उल्लेख प्रज्ञाश्रमणके रूपमें है।[2] श्वे० परम्पराके अनुसार इनके समयमें दो भीषण दुर्भिक्ष पड़े। एक दुष्कालके समय उन्होंने संघको आकाशगामिनी विद्या द्वारा माहेश्वरीपुरी पहुँचाया, दूसरे दुर्भिक्षके समय पाँच सौ साधुओं सहित आमरण अनशन किया। संभव है कि इस समय भी कोई विवाद हुआ हो। श्रीमती स्टिवेन्सनने पहलेसे चले आये दो पक्षोंमें विभाजन इसी समय स्वीकार किया है।[3]

परन्तु संघविभाजन श्रुतकेवली भद्रबाहुके समय ही मानना चाहिए और इसके उपरान्त कभी यापनियोंका प्रादुर्भाव माना जाना चाहिए। खारवेलके शिलालेखमें उल्लिखित 'यापत्रावकेहि, पदको विद्वानोंने यापनीयोंसे सम्बद्ध माना है।

खारवेलका शिलालेख

खारवेलका यह हाथोगुम्फा अभिलेख खण्डगिरि उदयगिरि पर्वतके दक्षिणकी ओर लाल बलुवे पत्थरकी एक चौड़ी प्राकृतिक गुहामें उत्कीर्ण है। इस अभिलेखमें कलिंग चक्रवर्ती जैन सम्राट खारवेलके व्यक्तित्व और शासनकाल की घटनाओंका विस्तृत परिचय दिया गया है। खारवेलकी तिथि ई० पू० २० वर्ष स्वीकार की गई है।[4] शिलालेखके अनुसार शासनके तेरहवें वर्षमें खारवेलने जीर्ण आश्रय वाले याप (ज्ञापक/उद्यापक) साधुओंके लिए निषद्या बनवाई—तेरसमे च वसे सुपवत विजयिचके कुमारीपवते अरहिते य (T) परिखम-व्यसंताहि काय्यनिसोदोयाय यापत्रावकेहि

---

१. पट्टावलीसमुच्चय, भाग १, पृ० १६।

२. पण्गासमणेसु चरियो वइरजसो णाम ओहिणाणीसुं।
चरिमो सिरिणामो सुदविणयसुसीलादिसंपण्णो ॥ ४।१४८०।

३. Vajraswami was followed by Vajrasma and under his leadership the Digambara finally separated from the main communty. The heart of Jainitsm, Mrs. sinclair Stevenson, Munshiram Manoharlal. New Delhi, Page 78.

४. महावीर जयन्ती स्मारिका, जयपुर, ७७ में प्रकाशित 'खारवेलकी तिथि' शीर्षक लेख.।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजभितिनि चिनवतानि वोसासितानि (।) पूजानि कतडवासा खारवेलसिरिना जोवदेव-सिरि-कल्पं राखिता (।) ।[१]

सम्राट खारवेलने कुमारी पर्वत पर एक सम्मेलन आयोजित किया था, जिसमें अनेक तपस्वी, ऋषि तथा श्रमण सम्मिलित हुए थे। इस शिलालेख की १६ वीं पंक्ति का 'मुरियकालवोछिनं चोयठि अंगसतिकं तुरियं उपादायाति ।' इस प्रकार संशोधन करके डॉ० काशीप्रसाद जायसवालने[२] इसका अर्थ किया है 'मौर्यकालमें विच्छिन्न हुए चौंसठ भागवाले चौगुने अंगसप्तिकका उसने उद्धार किया अथवा तुरियका अर्थ चतुर्थ पूर्व भी किया जा सकता है, जिसके ६४ भागोंमें सात अथवा सौ या एकसौ चौसठ अंग थे।'

इन अर्थोंको करके डॉ० जायसवालने लिखा है कि 'जैन आगमोंके इतिहासके और अधिक गहरे अध्ययनपे हम यह निर्णय करनेमें समर्थ होंगे कि इन तीनों अर्थोंमेंसे कौन-सा अर्थ ग्राह्य है, किन्तु चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें जैन मूल ग्रन्थोंके विनाशको लेकर जैन परम्परामें जो विवाद चलता है, उसका उक्त पाठसे आश्चर्यजनक समर्थन होता है। इससे यह स्पष्ट है कि उड़ीसा जैनधर्मके उस सम्प्रदायका अनुयायी था, जिसने चन्द्रगुप्तके राज्यमें पाटलिपुत्रमें होनेवाली वाचनामें संकलित आगामोंको स्वीकार नहीं किया था।'[३]

आचार्य हस्तिमल्लने हिमवन्त स्थविरावलो नामक ग्रन्थके खारवेल विषयक उल्लेखोंको उद्धृत किया है। उसके अनुसार 'तीर्थङ्कर एवं गणधरों द्वारा प्ररूपित

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख नं० २, पृ० ६.
२. जर्नल ऑफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, भाग १३, पृ० २३६।
३. कुछ अन्य विद्वानोंने इसका अर्थ करते हुए लिखा है—तेरहवाँ वर्ष समाप्त होनेके पूर्व खारवेल द्वारा एक जैन साधुपरिषद्का आयोजन किया गया। समूचे देशसे जैन वाङ्मयके अध्येता विद्वान् श्रावक और साधु कुमारी पर्वत पर एकत्र हुए और सूत्रोंका पठन-पाठन तथा यथासंभव लेखन हुआ। जैन वाणीका यह गुम्फन वर्णमालाके चौसठ वर्णों, स्वरों और संयुक्ताक्षरोंमें किया गया, इसका संकेत शिलालेखके 'चोयठि-अंग-संतिक' से मिलता है। अन्यत्र इन्हीं लेखकोंने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'चोराहोंमें, अन्तः भागोंमें वैदूर्ययुक्त ७५ लाख मुद्राओं द्वारा' स्तम्भ स्थापित किया गया। प्रमुख कलाओंसे समन्वित चतुष्षष्टि प्रकार वाद्यपूर्ण शान्तिकालीन तूर्य उत्पन्न किया।' देखिए—'खारवेल का हाथीगुम्फा अभिलेख, महावीर जयन्ती स्मारिका, जयपुर १९७६ तथा 'हाथीगुम्फा शिलालेखकी विषयवस्तु' वीर निर्वाण स्मारिका, जयपुर १९७५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनवचनको नष्टप्राय जानकर उस भिक्षुराज राजाने जिनप्रवचनके संग्रह व जिनधर्मके विस्तारके लिए सम्प्रति नृपकी भाँति निर्ग्रन्थ श्रमण एवं श्रमणियोंकी एक परिषद् कुमारी पर्वत पर आयोजित की। उसमें आर्य महागिरिकी परम्पराके आर्य बलिस्सह, बोधिलिंग, देवार्य, धरसेन, नक्षत्र आदि जिनकल्प तुल्य दो सौ निर्ग्रन्थ उपस्थित हुए। खारवेल द्वारा प्रेरित उन स्थविरोंने अवशिष्ट जिनप्रवचन दृष्टिवादको सर्वसम्मत रूपसे भोजपत्र, ताड़पत्र और वल्कलपत्रोंपर लिखा। इस प्रकार वे सुधर्मा द्वारा उपदिष्ट द्वादशांगीके रक्षक बने।'[1]

हिमवंत स्थविरावलीमें जिन छह जिनकल्पी आचार्योंके नाम हैं उनमें चार बुद्धिल, देवार्य, धर्मसेन और नक्षत्र तो दिगम्बर परम्पराके आचार्य हैं। इसके अतिरिक्त जिन दो श्रमणों आर्य महागिरि और बलिस्सहका उल्लेख है, वे भी श्वेताम्बर परम्पराके ग्रन्थोंमें जिनकल्पी कहे गये हैं।[1] आर्य बलिस्सह भी इन्हीं आर्य महागिरिके शिष्य थे तथा अपने गुरुके समान आचार-साधनामें विशेष निष्ठा रखने वाले थे। आचार्य यशोभद्रके जिस प्रकार भद्रबाहु व स्थूलभद्र दो शिष्य हुए, उसी प्रकार स्थूलभद्रके महागिरि और सुहस्ती दो शिष्य हुए, इसमें सुहस्तिका गण विशाल और विख्यात कहा गया है।

इसमें दृष्टिवादके संकलनका उल्लेख है, पर श्वेताम्बर परम्परा दृष्टिवादको उच्छिन्न मानती है। दिगम्बर परम्परामें स्मृतिके आधारपर श्रुतसंकलनकी परम्परा नहीं है। कषायपाहुड तथा षट्खण्डागम सामूहिक प्रयासके प्रतिफल नहीं है, अतः संभव है इसका सम्बन्ध यापनीयोंसे हो अर्थात् खारवेल यापनीय परम्परासे सम्बद्ध हों, क्योंकि वे संकलित आगमोंके साथ असंकलित षट्खण्डागम आदिको भी प्रमाण मानते हैं।

परन्तु मुनिजिनविजयजीने हिमवन्त स्थविरावलीको जाली एवं कल्पित घोषित किया है,[2] अतः इसकी प्रामाणिकतामें सन्देह है।

खारवेल शिलालेखके बारम्बार पठन, अध्ययन व अर्थग्रहणके प्रयास अभी भी जारी है। सही अर्थका निर्णय अभी तक संभव नहीं हो सका है, फिर भी खारवेल जैसे धर्म-

---

१. जैन साहित्यका मौलिक इतिहास, द्वि० भाग, पृ० ४७७ व ४८४ का फुटनोट।
२. हेमचन्द्रसूरि, परिशिष्ट पर्व ११/३-४

महागिरिर्निजं गच्छमन्यददात्सुहस्तिने, विहर्तुं जिनकल्पेन त्वेकोऽभून्मनसा स्वयम्।
व्युच्छेदाज्जिनकल्पस्य गच्छनिश्रास्थितोऽपि, जिनकल्पार्हया वृत्या विजहार महागिरिः॥

३. अनेकान्त, दिल्ली, वर्ष १, पृ. ३५१-२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रभावक सम्राटका दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओंमें अनुल्लेख विस्मयजनक है, साथ ही इस संभावनाका पोषक है कि खारवेलका सम्बन्ध यापनीय परम्परासे हो। शिलालेखगत याप (ञाय) शब्द इस संभावनाको बल देता है। यही कारण हो सकता है कि श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें अनेक वाचनाओंकी तरह खारवेलके साधुसम्मेलनका उल्लेख नहीं है।

अर्द्धस्फालक सम्प्रदाय

यापनीयोंके प्रादुर्भावके विमर्शके सम्बन्धमें इस सम्प्रदायपर भी विचार करना उचित जान पड़ता है। बृहत्कथाकोषकार हरिषेण तथा भट्टारक रत्ननन्दीने अर्द्धफालक सम्प्रदायका उल्लेख किया है।

बृहत्कथाकोषके अनुसार[1] दुर्भिक्षकी स्थितिमें जिस समय शिथिलाचारिताका प्रवेश हुआ, उस समय स्पष्टतः वस्त्रधारण नहीं किया गया, अपितु बायें हाथसे एक वस्त्रखंडको सामने करनेका प्रचलन हुआ।

यह अर्द्धफालक या अर्द्धस्फालक सम्प्रदाय काल्पनिक न होकर वास्तविक है. इसकी पुष्टि मथुराके कंकाली टोलेसे प्राप्त अवशेषोंसे होती है।

मथुराके कंकाली टोलेसे प्राप्त अवशेष

मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त जैन अवशेष कनिष्क, हुविष्क और वासुदेवके समयके हैं, जिनका समय ईसाकी प्रथम और द्वितीय शताब्दी माना जाता है।[2] वहाँसे प्राप्त शिलालेखके सम्बन्धमें डॉ० बुलहरने लिखा है कि 'शिलालेखोंमें जो आचार्यों और उनके गण-गच्छोंका उल्लेख मिलता है, वह जैनोंके इतिहासके लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। शिलालेखोंका कल्पसूत्रोंसे मेल खा जाना एक तो यह प्रमाणित करता है कि मथुराके जैन श्वेताम्बर सम्प्रदायके थे और दूसरे जिस संघभेदने जैन सम्प्रदायको परस्पर विरोधी दो सम्प्रदायोंमें विभाजित कर दिया, वह ईस्वी सन्‌के प्रारंभ होनेसे बहुत पहले हो चुका था।'[3]

मथुराके कंकाली टीलेसे प्राप्त जैन अवशेषोंमेंसे एक शिलापट्टसे इसके अस्तित्वका समर्थन होता है। लखनऊ-संग्रहालयके तत्कालीन अध्यक्ष डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालने उक्त शिलापट्टके सम्बन्धमें लिखा है—'पट्टके ऊपरी भागमें स्तूपके दो ओर चार तीर्थङ्कर हैं, जिनमेंसे तीसरे पार्श्वनाथ (सर्पफणालंकृत) और चौथे संभवतः

---

१. बृहत्कथाकोष, भद्रबाहुकथा, श्लोक ५८, पृ० ३१८।
२. जैन साहित्यका मौलिक इतिहास (आचार्य हस्तिमल्ल), प्रस्तावना, पृ० ३२।
३. ऑन द इण्डियन सेक्ट आफ जैनाज, पृ० ४४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवान महावीर हैं। पहले दो ऋषभनाथ और नेमिनाथ हो सकते हैं, पर तीर्थंकर मूर्तियों पर न कोई चिन्ह है और न वस्त्र। पट्टमें नीचे एक स्त्री और उसके सामने एक नग्न श्रमण खुदा हुआ है। वह एक हाथमें सम्मार्जनी और बाएँ हाथमें एक वस्त्र लिये हुए हैं, शेष शरीर नग्न है।''[1]

श्वेताम्बर साधुओंमें वस्त्रधारणकी प्रवृत्ति धीरे-धीरे समाविष्ट हुई थी। हरिभद्र-सूरिने निष्कारण वस्त्रधारण करने वालोंको क्लीब कहा गया है।[2] आरम्भमें जो वस्त्रखण्ड धारण किया जाता था, उसे चोलपट्ट कहा जाता था।[3] चोलपट्टका प्रमाण स्थविरके लिए दो हाथ और युवाके लिए चार हाथ था।[4] बादमें इस वस्त्रखण्डको धागेसे बाँधा जाने लगा। इससे लगता है कि यह अर्द्धफालक सम्प्रदाय श्वेताम्बर परम्पराका पूर्वज है।

बोटिक निह्नव

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने आठवाँ निह्नव बोटिक माना है। उसकी उत्पत्तिकी कथा भी दी है।

वीर निर्वाणके ६०९ वर्ष पश्चात् रथवीरपुरमें बोटिक सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई। रथवीरपुरमें दीपक उद्यानमें आर्य कृष्णसे शिवभूतिने उपधिके विषयमें पूछा। जिनकल्पका प्रकरण आने पर उसने प्रश्न किया—'आजकल जिनकल्प क्यों नहीं धारण किया जाता ?' आर्य कृष्णने उत्तर दिया—'उच्छिन्न हो गया', पर इस उत्तरसे उसका समाधान नहीं हुआ। उसने कहा—'अशक्तके लिए उच्छिन्न हो सकता है, समर्थके लिए नहीं।'

शिवभूति अपने गुरु कृष्णके प्रति पूर्वसे ही कलुषित भावना रखता था, अतः विवाद करते हुए उसने कहा—'सूत्रोंमें अपरिग्रह व्रत कहा गया है। परिग्रहसे कषाय, मूर्च्छा, भय आदि दोष होते हैं। जिनेन्द्र अचेल थे, अतः उन्होंने जिनकल्पका विधान किया है। मुनियोंको अचेल परीषह जीतनेका विधान है। सूत्रमें तीन स्थानोंको छोड़कर अचेलता कही गई है, अतः अचेलता ही श्रेयस्कर है।' गुरुने समझाया कि 'यदि परिग्रह कषाय है, तो शरीर कषायोत्पत्तिका हेतु है। शरीरादिकी तरह वस्त्र भी मोक्ष-हेतु होनेसे अपरिग्रह ही है। मूर्च्छारहित व्यक्तिके वस्त्र भी अपरिग्रह है। यदि वस्त्ररहित होना ही मोक्षका साधन है, तो पशु आदिको मोक्ष होना चाहिए।

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १०, किरण २, पृ० ८० का फुटनोट।

२. संबोधप्रकरण, गाथा ३४।

३. अभिधानराजेन्द्रः, चोलस्य पुरुषचिह्नस्य प्रावरणवस्त्रं चोलपट्टम्।

४. प्रवचनसारोद्धार, नेमिचन्द्राचार्यरचित, द्वार ६१, गाथा ५२०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतिशय उत्कृष्ट संहनन, चतुर्ज्ञान, ज्ञानातिशयसे सम्पन्न तथा निष्छिद्र पाणिपात्र होनेके कारण जिनेन्द्र अचेल रहते हैं। शिष्योंके उक्त संहननका अभाव होनेसे वे प्रयोजनवश सवस्त्र तीर्थका प्रवर्तन करते हैं अर्थात् निष्क्रमणके समय देवदूष्य धारण करते हैं, उसके जीर्ण हो जाने पर दूसरा धारण नहीं करते। यदि जिनवचन मानकर ही जिनकल्प ग्रहण करना चाहते हो तो उन्हींका वचन मानकर जिनकल्पको व्युच्छित्ति क्यों नहीं मानते।'

तं जति जिणवयणातो पवज्जसि पवज्ज तो स छिण्णो तु।
अत्थि त्ति पमाणं किध वोच्छिण्णो त्ति ण पमाणं॥

आचार्यके समझाने पर भी वह वस्त्रत्याग कर चला गया। शिवभूतिके कौन्डिन्य और कोट्टवीर नामक दो शिष्य हुए। इन्हींसे बोटिकोंको परम्परा उद्भूत हुई।'[1]

जिभद्रगणिके अनुसार जिनकल्प दिगम्बरत्वका प्रतिरूप है तथा शिवभूतिने व्युच्छिन्न जिनकल्पका पुनः प्रवर्तन किया। इस कथाको परवर्ती ग्रन्थकारोंने ग्रहण किया है। शीलांक तथा मलयगिरिने भी बोटिकोंके प्रति इसी प्रकारका अनादर प्रदर्शित किया है।

श्रीकल्याणविजयने श्वेताम्बर आगामोंके अनुसार दिगम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्तिके विषयमें कहा है—'महावीर निर्वाणके चौसठ वर्ष तक उनके शिष्योंमें स्थविरकल्पक तथा जिनकल्पक दोनों तरहके साधु रहे, पर बादमें जिनकल्पकका आचरण बंद पड़ गया और लगभग १५० वर्ष तक उसकी कुछ भी चर्चा नहीं हुई। स्थविरकल्पमें रहने वाले साधु यद्यपि नग्नप्राय रहते थे तथापि शीतनिवारणार्थ कुछ वस्त्र तथा पात्र अवश्य रखते थे। यह स्थिति स्थूलभद्रके समय तक चलती रही। स्थूलभद्रके शिष्य आर्य महागिरिने फिर जिनकल्प धारण करके उसे पुनरुज्जीवित किया। बादमें उनके एवं सुहस्तिगिरिके शिष्योंमें स्पष्टतः नग्नचर्या और करपात्रवृत्तिको लेकर विरोध होने लगा। आर्य महागिरिसे दो-तीन पीढ़ीतक चलकर वह विरोध नामनिःशेष हो गया। स्थविरकल्प चलता रहा। सभी श्रमण आचारांग सूत्रके अनुसार एक एक पात्र तथा शीतकालमें ओढ़नेके लिए एक, दो तथा तीन वस्त्र रखते थे। कटिबन्धका भी प्रचार हो गया था। साधुओंके बस्तीमें रहनेके कारण नग्नताका सर्वथा अन्त हो गया था। इसी अवसर पर रथवीरपुरमें आर्य कृष्णके शिष्य शिवभूतिने फिरसे जिनकल्पकी चर्चा खड़ी की और स्वयं जिनकल्पी बनकर मतभेदको नवीनरूपसे पल्लवित किया। बोटिक शिवभूतिसे बोडियलिंगकी उत्पत्ति हुई, जिनके परम्पराशिष्य कोंडकुन्दु और कोट्टवीर हुये। यही दिगम्बरोंके पूर्वज थे।'[2]

---

१. विशेषावश्यकभाष्य, भाग २, गाथा ३०३२-३१०३।
२. श्रमण भगवान महावीर, पृ. २८९ और आगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन दोनों वर्णनोंके सम्बन्धमें यहाँ कई प्रश्न उठते हैं—

१. शिवभूतिको कथाका समर्थन क्या किसी अन्य स्रोतसे होता है ?

२. कृष्णशिष्य शिवभूतिका उल्लेख क्या दिगम्बर परम्परामें है ? क्या इनका ऐतिहासिक व्यक्तित्व प्रमाणित होता है ?

३. क्या बोटिक दिगम्बर थे ? जिनभद्रगणिकी उक्त कथा और उनका अनुकरण करने वाले आचार्योंके सिवाय क्या अन्यने बोटिकमतका उल्लेख किया है ?

शिवभूतिकी कथाका समर्थन किसी अन्य स्रोतसे नहीं होता। दिगम्बर परम्परामें कृष्णशिष्य शिवभूतिका उल्लेख नहीं है। बोटिकोंको कथा जिनभद्रके अतिरिक्त कहीं नहीं मिलती। इस कथाके अनुसार शिवभूतिने जिनकल्पका पुनः प्रवर्तन किया, परन्तु श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें भी यह उल्लेख पाते हैं कि इनके पूर्व आर्य महागिरि भी वज्रवृषभनाराचसंहननके अभावमें भी जिनकल्पके धारक थे। उनके शिष्य बलिस्सह-को भी जिनकल्पी कहा गया है, फिर शिवभूतिके प्रति ही आक्रोश क्यों ?

डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन भगवती आराधनाकार शिवार्यको श्वेताम्बर परम्पराके शिवभूति बतलाते हुए कहते हैं—'शिवार्य संभवतः श्वेताम्बर परम्पराके शिवभूति हैं। ये उत्तरापथकी मथुरा नगरीसे सम्बद्ध हैं और इन्होंने कुछ समय तक पश्चिमी सिन्धमें निवास किया था।'[1]

शिवार्य और शिवभूतिको यदि एक माना जाए, तो बोटिक सम्प्रदायका अर्थ होगा यापनीय सम्प्रदाय, क्योंकि यापनीय सम्प्रदायका श्वेताम्बरोंसे यही भेद है कि अचेलताको उत्सर्ग तथा वस्त्रग्रहणको अपवाद मानते हैं। साथ ही दिगम्बर परम्परा यापनीयोंको श्वेताम्बरोंसे उद्भूत मानती है। इस स्थितिमें शिवार्यको यापनीय संघका आद्य आचार्य मानना होगा।

श्वेताम्बर परम्परामें शिवभूतिको कृष्णका शिष्य माना गया है। अपभ्रंशकथाकोशमें भी 'श्यामलीसुतसे' यापनीय परम्पराका आरंभ माना गया है।[2] सामलि—सामल—श्यामलको कृष्णका पर्यायवाची माना जा सकता है। सुतका अर्थ शिष्य भी लिया जा सकता है, पर शिवार्यने अपने गुरुओंका नामोल्लेख किया है, उनमें आर्य कृष्णका नाम नहीं है। यहाँ आर्यनन्दि, सर्वगुप्त तथा मित्रनन्दिका उल्लेख है।[3] यदि यह मानलें कि आर्य कृष्णसे मतवैभिन्न्य रखनेके कारण उनका गुरु रूपमें उल्लेख नही

---

१. द जैन सोर्सेज ऑफ दी हिस्ट्री आफ एशियन्ट इण्डिया, पृ. १३०-१।

२. श्रीचन्द्रकृत अपभ्रंशकथाकोशगत भद्रबाहुकथा; पृ. ४८१।
'सामलिसुएण ततो विहिउ जप्पुलियसंधु मूढ़हिं महिऽ।'

३. मूलाराधना कलकत्ता, १९७६, गाथा २१६५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किया होगा तो भी प्रमाणोंके विना उन्हें नवीन परंपराका आद्य आचार्य नहीं माना जा सकता। शिवार्यके गुरु सर्वगुप्तका शाकटायनने 'उपसर्गगुप्तं व्याख्यातारः' कहकर उल्लेख किया है। इससे शिवार्य और शाकटायनकी भाँति ये भी प्रभावशाली यापनीय आचार्य ही प्रतीत होते हैं। अतः प्रतीत तो यही होता है कि शिवार्यके पूर्व ही यापनीय संघ एक प्रतिष्ठित संघ था। इसके अतिरिक्त देवसेनने यापनीय संघकी उत्पत्ति श्रीकलश नाम साधुसे मानी है। ऐसी स्थिति में यापनीय संघके संस्थापक कौन थे, यह अनिश्चित है।

बोटिक शब्द कैसे निष्पन्न हुआ? श्वेताम्बर साहित्यमें इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं है। उसके अनुसार शिवभूति बोटिक था, उसीके द्वारा प्रवर्तित होनेसे उस सम्प्रदायको बोडियलिंगकी संज्ञा प्राप्त हुई। संभवतः नग्न व मुंडित होनेके कारण शिवभूतिको बोटिक कहा गया है। बोडियलिंगका अर्थ नग्नवेश प्रतीत होता है।[1]

बोटिक सम्प्रदायकी उल्लिखित कथाके अनुसार उच्छिन्न जिनकल्पको स्वीकार करना ही बोटिकसम्प्रदायका श्वेताम्बर सम्प्रदायसे भेद है। यापनीय तथा श्वेताम्बर परम्पराकी तुलनामें भी हम यही पाते हैं कि दोनोंमें अन्तर केवल अचेलताकी स्थितिमें ही है। स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति आदि सिद्धान्त तथा आगमसंकलन आदि सभी बातोंमें सादृश्य है। इस कथामें शिवभूति अपने गुरुसे यही कहते हैं कि 'शक्तिहीनोंके लिए जिनकल्प व्युच्छिन्न हो सकता है, समर्थके लिए नहीं!' इस कथनसे अपवादरूपमें शक्तिहीनोंके लिए स्थविरकल्पकी स्वीकृति प्रतीत होती है। शिवभूतिका उक्त कथन यापनीय परम्पराके ही अनुकूल है, दिगम्बर परम्परामें तो वस्त्रकी आपवादिक स्थिति भी अस्वीकृत है।

बोडियलिंगकी कथामें इसे सचेल परम्परासे उत्पन्न अचेल परम्परा बताया गया है। दिगम्बर परम्परा भी यापनीयोंकी उत्पत्ति सचेल परम्परासे मानती है।

पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने डॉ. याकोबीके एक लेखका जिक्र किया है, जिसके अनुसार डॉ. हर्मन याँकोबी भी इसे दिगम्बर परम्परासे भिन्न किसी परम्पराका उल्लेख मानते हैं।[2] इस प्रकार बोटिकलिंगका अर्थ यापनीय प्रतीत होता है। शिवार्य याप-

---

१. अर्द्धमागधी कोष व महाराष्ट्रीय व देश्य प्राकृतकोष (परिशिष्ट पाँचवाँ भाग) गुलाबवीर ग्रन्थमाला २१ वाँ रत्न, १९३८।
उक्त कोशके अनुसार बोडका अर्थ दुष्ट, बोड्डका अर्थ मूर्ख, वाडका अर्थ धार्मिक और तरुण तथा बोडियका अर्थ मुण्डितमस्तक किया गया है।

२. जैन धर्मका इतिहास (पूर्वपीठिका), पृ. ३९४।
शास्त्रीजी लिखते हैं—जर्मन ओरियन्टल सोसायटीके जर्नलमें डॉ. याकोबीने एक विस्तृत लेख प्रकाशित कराया था। उसमें उन्होंने लिखा है कि 'बोटिक संप्रदायकी उत्पत्ति दिगम्बर सम्प्रदायके बहुत काल पश्चात् हुई है।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नीय परम्पराके एक प्रमुख व प्राचीन आचार्य हैं, अतः परवर्ती कालमें प्रभावशाली होनेके कारण सम्प्रदायप्रवर्तनकी कथा उन्हींके नाम पर मढ़ दी गई होगी। कालान्तरमें बोटिकका अर्थ दिगम्बर माना गया और प्रमुख दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्दको उनका शिष्य बना दिया गया। इस कथाको निबद्ध रूप देने वाले जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं—उनके पूर्व इस कथाका प्रकाशक कोई अन्य ग्रंथ नहीं मिलता।

यापनीय संघका प्रादुर्भाव

यहाँ यह विचारणीय है कि यापनीय संघ कब और कैसे प्रादुर्भूत हुआ? जैन साहित्यका आलोडन करने पर जो तथ्य प्राप्त हुए हैं, उन्हें यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

(क) देवसेनका उल्लेख—दिगम्बर परम्पराके आचार्य देवसेनने अपने दर्शनसारमें यापनीय संघकी उत्पत्तिका उल्लेख करते हुए लिखा है कि यापनीय संघ कल्याण नामक नगरमें श्वेताम्बर मुनि श्रीकलशसे वि. सं. २०५ में उत्पन्न हुआ है,—

कल्लाणे वरणयरे दुण्णिसए पंच-उत्तरे जादे।
जावणियसंघभावो सिरिकलसादो हु सेवडदो॥[1]

देवसेनके इस उल्लेखके अनुसार यह संघ जैन संघके विक्रम संवत् १३६में दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदायोंमें विभक्त होनेके लगभग ६५-७० वर्ष बाद उदयमें आया। ये देवसेन अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थोंके रचयिता हैं। इन्होंने अनेक ऐतिहासिक संकेत भी प्रस्तुत किये हैं जिन्हें विद्वानोंने प्रमाणरूपमें माना है।[2] इन्होंने अपना समय वि. सं. ९९० स्पष्ट दिया है।[3] इनके उल्लेखके अनुसार यापनीय संघ आजसे लगभग १८०० वर्ष पहले बन चुका था और अपने अस्तित्वमें आ चुका था।

(ख) रत्ननंदि का उल्लेख—दिगम्बर परम्पराके ही आचार्य रत्ननन्दिने अपने भद्रबाहुचरितमें यापनीयोंकी उत्पत्तिके बारेमें लिखा है कि करहाटाक्षके राजाकी रानीका नाम नृपुला देवी था। एक बार रानीने राजासे कहा कि मेरे पैतृक नगरसे कुछ

---

१. दर्शनसार, गाथा २९।

२. उदाहरणके लिए देखिए—
जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥

३. पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण॥
रइयो दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवई
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए॥ दर्शनसार, गाथा ४९, ५०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुरुजन यहाँ पधारे हैं। आप अनुनयपूर्वक उन्हें यहाँ निमन्त्रित करें। साधुओंके नगरमें प्रवेश करनेपर राजाने देखा कि वे सवस्त्र हैं। उनके हाथमें पात्र और दण्ड भी हैं। इसलिए राजाने उन्हें अनादरपूर्वक लौटा दिया। राजाके अभिप्रायको जानकर रानीने उनसे निर्ग्रन्थवेश धारण कर एवं पीछी कमण्डलु लेकर राज्यमें प्रवेश करनेको प्रार्थना की। उन साधुओंने रानीकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। इन्हीं साधुओंने यापनीय संघकी नींव डाली। भद्रबाहुचरितके प्रकरणोपयोगी दो पद्य यहाँ उद्धृत हैं—

तदातिवेलं भूपाद्यैः पूजिता मानिताश्च तैः।
धृतं दिग्वाससां रूपमाचारः सितवाससाम्॥
गुरुशिक्षातिगं लिङ्गं नटवद् भण्डिमास्पदम्।
ततो यापनसंघोऽभूत्तेषां कापथवर्तिनाम्॥[1]

इन पद्योंमें कहा गया है कि वे साधु राजा आदिके द्वारा सम्मानित किये गये। उन साधुओंका रूप दिगम्बरोंका तथा आचार श्वेताम्बरोंका था। उन्होंने गुरुकी शिक्षाका उल्लंघन करके वेश धारण किया हुआ था। उनका यह वेश नटकी तरह हास्यास्पद था। इन कुमार्गगामी साधुओंका संघ ही यापनीयसंघके रूपमें विख्यात हुआ।

जिस प्रकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने बोटिकोंकी उत्पत्ति गुरु कृष्णके प्रति शिवभूतिके विद्रोहसे बताई है, वैसा ही कथन यहाँ 'गुरुशिक्षातिगं लिङ्गम्—'शब्दों द्वारा व्यक्त होता है।

(ग) रविषेण और स्वयंभू द्वारा आचार्य प्रभवका उल्लेख—आचार्य रविषेणने अपनी कथाके स्रोतके विषयमें लिखा है कि वर्द्धमान जिनेन्द्र द्वारा कथित यह अर्थ इन्द्रभूति गौतमको प्राप्त हुआ, फिर धारिणीपुत्र सुधर्माको, फिर प्रभवको और उनके पश्चात् क्रमसे अनुत्तरवाग्मी कीर्तिको प्राप्त हुआ, उनके द्वारा लिखित कथार्थको प्राप्त करके रविषेणने यह प्रयत्न किया है।[2]

स्वयंभूने अपनी कथाका आधार आचार्य रविषेणको बताया है। उन्होंने भी ठीक इसी प्रकार कथन किया है कि वर्द्धमान मुख-कुहर विनिर्गत इस सुन्दर रामकथा रूपी नदीको गणधर देवोंने बहते हुए देखा है। पहले इन्द्रभूति गौतमने देखा, फिर

---

१. भद्रबाहुचरित ४/१५३-४

२. पद्मचरितम् १/४१-४२

वर्द्धमानजिनेन्द्रोक्तः सोयमर्थो गणेश्वरं
इन्द्रभूतिं परिप्राप्तः सुधर्मं धारिणीभवम्।
प्रभवं क्रमतः कीर्तिं ततोनुत्तरवाग्मिनं
लिखितं तस्य संप्राप्य रवेर्यत्नोऽयमुद्गतः॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणोंसे अलकृत धर्म (सुधर्मा) ने, फिर संसारसे विरक्त प्रभवने, तदनन्तर अनुत्तरवाग्मी कीर्तिधरने। इसके पश्चात् आचार्य रविषेणके प्रसादसे कविराजने इसमें अपनी बुद्धिसे अवगाहन किया।[1] यह उल्लेख इस बातका समर्थन करता है कि यापनीय आचार्य प्रभवस्वामीकी परम्पराके रहे हैं तथा दिगम्बर परम्परा यापनीयोंकी उत्पत्ति श्वेताम्बरोंसे मानती है, उसका समर्थन होता है। यद्यपि पं. नाथूराम प्रेमीने जो 'स्वयंभु व त्रिभुवनस्वयंभू' नामक निबन्धमें आरम्भिक अंश दिये हैं वहाँ 'पहवें'के स्थान पर 'एवहिं' पाठ है, परन्तु सम्पादित कृतिका 'पहवें' पाठ ही उचित मालूम पड़ता है, क्योंकि प्रत्येक पंक्तिमें एक आचार्यका नाम है, यहाँ भी होना चाहिए। पं. प्रेमीजीने स्वयंभूके हरिवंश पुराण (रिट्ठणेमिचरिउ)के भी प्रारंभिक व अन्तिम अंश दिये हैं। इस अन्तिम अंशमें विष्णुकुमार, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन तथा भद्रबाहुकी परम्पराका उल्लेख है। परन्तु यह अंश किसी गुणकीर्तिके शिष्य जसकीर्तिकी रचना है, जैसा कि वहीं पर उल्लिखित है।[2]

(घ) यापनीयोंको उत्पत्तिके सन्दर्भमें आगमसंकलनपर विचार—स्मृतिके आधारपर संकलित श्रुतको मान्यता प्रदान करने वाली परम्परामें भी मतभेद रहा है। इस संकलनके समय ही श्रुतके अधिकारो विद्वानोंमें मतभेद था। प्रथम श्रुतसंकलन स्थूलभद्रको अध्यक्षतामें हुआ। स्थूलभद्रके दो प्रमुख शिष्य थे—महागिरि और सुहस्ति। इन दोनोंके मध्य जिनकल्प और करपात्रवृत्तिको लेकर विरोध रहा है।[3] आचार्य हेमचन्द्रने महागिरिको जिनकल्पी कहा है।[4] अन्यत्र आचार्य सुहस्तिका गण विशाल बताया गया है। आर्य सुहस्तिको श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जो मान्यता प्राप्त है, वह महागिरिको नहीं है। उनके शिष्य बलिस्सह भी जिनकल्पी कहे गये हैं, जबकि श्वे. मान्यतानुसार तो जम्बूस्वामीके उपरान्त ही जिनकल्प व्युच्छिन्न

---

१. पउमचरिउ १/६–९

यह रामकह-सरि सोहन्ती। गणहरदेवहिं दिट्ठ वहन्ती॥
पच्छइ इंदभूइ-आयरिएं। पुणु धम्मेण गुणालंकरिए॥
पुणु पहवे संसारासाराएं। कित्तिहरेण अणुत्तरवाए॥
पुणु रविसेणायरिय पलाएँ। बुद्धिएँ अवगाहिय कइसए॥

२. विशेषके लिए देखिए—पं० प्रेमीका 'स्वयंभू और त्रिभुवनस्वयंभू' नामक लेख 'जैन साहित्य और इतिहास'में प्रकाशित, पृ. २१७।

३. श्रमण भगवान महावीर, मुनि कल्याणविजयजी, श्री. क. वि. शास्त्रसंग्रह समिति, जालौर, सं. १९९८, पृ. २८९।

४. परिशिष्ट पर्व, ११/३-४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो गया था। इस विरोधमें यापनीयों और श्वेताम्बरोंके पार्थक्यके बीज दृष्टिगत होते हैं।

दूसरी वाचना भी जो एक ही समयमें दो स्थानोंमें वलभी और मथुरामें हुई बताई गई है, इसका कारण भी आचार्योंमें मतभेद प्रतीत होता है, जो उस समय उभर कर सामने आया होगा। दोनों वाचनाओंके प्रमुख नागार्जुन और स्कन्दिलसूरि वाचनाओंके उपरान्त मिल नहीं सके थे, यह उल्लेख भी मतभेदों की पुष्टि करता है।

यापनीय माथुरी वाचनाको मानते थे, इसकी पुष्टि पाल्यकीर्तिके स्त्रीमुक्ति-प्रकरणगत एक श्लोकसे होती है, जिसमें कोष्ठकमें माथुरागमका उल्लेख मिलता है—अष्टशतमेकसमये पुरुषाणामादिरागमः (माहुरागमे) सिद्धिः (सिद्धम्)।[1] यहाँ पाल्यकीर्तिने जिस आगमोल्लेखका संकेत किया है, उसे आचार्य प्रभाचन्द्रने उद्धृत किया है—

अट्ठसयमेगसमये पुरुसाणं निव्वुदी समक्खादा।
थीलिंगेण य वीसं सेसा दसक त्ति बोधव्वा ॥[2]

पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने अपराजितसूरि रचित विजयोदया सहित भगवती आराधनाका सम्पादन किया है,[3] वे इसकी भूमिकामें लिखते हैं—'अपराजित सूरिने अवनी टीकामें आगमोंसे अनेक उद्धरण दिये हैं, किन्तु उनमेंसे कम ही उनमें मिलते हैं।' इससे भी इस बातका समर्थन होता है कि इन्हें मान्य आगम-ग्रन्थ माथुरी वाचनाके रहे होंगे।

जैसा कि हम बता चुके हैं दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्पराओंमें दिन-प्रतिदिन कटुता बढ़ती गई। वे नदीकी पृथक दिशाओंमें प्रवाहित होने वाली दो धाराओंकी भाँति वे उत्तरोत्तर दूर होती गईं। तत्त्वज्ञान एक होने पर भी आचारगत भिन्नताके कारण उनमें काफी अन्तर आ गया था। आचारांग आदि श्वेताम्बर साहित्यसे स्पष्ट है कि वे अचेलक परम्पराको उत्सर्ग मानते थे। वस्त्र परिस्थितिविशेषमें धारण किये जा सकते थे। वह अपवाद मार्ग था, परन्तु धीरे धीरे उन्होंने अपवाद मार्गको ही उत्सर्ग मानकर उत्सर्गको विच्छिन्न घोषित कर दिया। जम्बूस्वामीके समयसे ही अपवादमार्गकी ओर रुचि बढ़ रही थी। धीरे-धीरे उपधियाँ बढ़ती ही चली गई।

---

१. शाकटायनव्याकरणके आरम्भमें प्रकाशित स्त्रीमुक्तिप्रकरण, कारिका ३५
२. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैनग्रंथमाला, १९४१, पृ. ८६९।
३. भगवती आराधना, भाग १, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर १९७८, प्रस्तावना, पृ. ३६, ३७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचाराङ्ग आदिमें जिस वस्त्र-पात्रकी स्थिति परिस्थितिविशेषमें स्वीकृत थी, परवर्ती कालमें उसे आवश्यक रूप दे दिया गया। इस शिथिलताका विरोध जिन श्वेताम्बर परम्पराके ही जागरूक आचार्योंने किया, वे ही संभवतः यापनीय आचार्य कहे जाते रहे।

दिगम्बर सम्प्रदायमें आचार्य कुन्दकुन्दने स्पष्ट शब्दोंमें अचेल एवं पाणिपात्रको ही मोक्षमार्ग बताते हुए अन्य मार्गोंको उन्मार्ग घोषित किया। अपवादकी कोई स्वीकृति नहीं थी। उन्होंने शिथिलताके प्रवेशको रोकनेके लिए कहा—"जिनेन्द्रने अचेल एवं पाणिपात्रको ही एकमात्र मोक्षमार्ग बताया है, शेष समस्त अमार्ग हैं। वस्त्रधारी भले ही तीर्थंकर हो, सिद्धपदको प्राप्त नहीं कर सकता। मुक्तिका मार्ग नाग्न्य ही है, शेष उन्मार्ग हैं।"

णिच्चेल याणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं।
एक्को हि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे॥
ण वि सिज्झइ वत्थधरो जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे॥[1]

यापनीय संघके प्रादुर्भावको इस स्थितिमें सामञ्जस्य एवं समन्वय स्थापित करनेकी भावनाका प्रतिफल कहा जा सकता है।

दिगम्बर साहित्यमें यापनीयोंके जो उल्लेख मिलते हैं, उनमें भिन्न भिन्न स्थलों पर उनके संघकी उत्पत्ति बतलाई गई है। कथाओंके अतिरिक्त कोई ऐसे प्रमाण या संकेत उपलब्ध नहीं होते, जिनसे यह निर्णय किया जा सके कि उनकी उत्पत्तिका स्थान अमुक एक है और उनका प्रमुख नायक अमुक है। श्वेताम्बर परम्परासे उद्भूत होनेसे दिगम्बर आचार्योंने इन्हें जैनाभास कहा है—

गोपुच्छिकाः श्वेतवासाः द्राविडाः यापनीयकाः।
निःपिच्छिकाश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥[2]

श्वेताम्बरोंने इसे दिगम्बरोंका उपभेद माना है। इसका कारण इसका नग्नताको उत्सर्ग मानना है। साथ ही उत्पत्तिके बाद ये श्वेताम्बरोंको अपेक्षा दिगम्बरोंके अधिक समीप होते गये हैं।

दिगम्बराणां चत्वारो भेदा नाग्न्यव्रतस्पृशः।
काष्ठासंघो मूलसंघः संघौ माथुरगोप्यकौ॥[3]

स्वयं यापनीयोंने अपने बारेमें कोई ज्ञातव्य जानकारी नहीं दी है। इनके उपलब्ध शिलालेखोंसे भी इनकी उत्पत्तिके विषयमें कोई सूचना नहीं मिलती।

---

१. सुत्तपाहुड गाथा, १० व २३।

२. नीतिसार, इन्द्रनन्दिकृत, श्लोक १०।

३. षड्दर्शनसमुच्चय, राजशेखरसूरि, पृ० ४५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्त शिलालेखोंसे स्पष्ट है कि वे दिगम्बरोंके मध्य ही रहते थे। डॉ० उपाध्येने इन ऐतिहासिक लेखोंका वर्णन करते हुए कहा है कि 'ऐतिहासिक लेखों, विवरणों एवं साहित्यिक उल्लेखोंसे यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि यापनीय दिगम्बरोंके साथ-साथ रहा करते थे। यापनीयोंके कुछ मन्दिर और मूर्तियाँ आज भी दक्षिण भारतमें दिगम्बरों द्वारा पूजे जाते हैं।'[1] ये षट्खण्डागम आदि सिद्धान्तग्रन्थोंमें पारंगत हुआ करते थे। षट्खण्डागमको प्रमाण माननेमें उन्हें कोई विरोध प्रतीत नहीं हुआ होगा, क्योंकि सत्प्ररूपणासूत्र ९२।९३ में उन्हें अपने अभिमत स्त्रीमुक्ति सिद्धान्तका समर्थन प्रतीत हुआ होगा।[2] भगवती आराधनाकी अपराजितसूरिकी टीकासे प्रकट है कि इन्होंने दिगम्बर आचार्यों तथा ग्रन्थोंको प्रमाणरूपमें उद्धृत किया है, पर आगमोंके अतिरिक्त अन्य किसी श्वेताम्बर ग्रन्थ या आचार्यको प्रमाणरूपसे उपन्यस्त नहीं किया है। इसका कारण कि ये आरंभसे ही शिथिलाचारके विरोधी थे, अतः इन्होंने आचरण-की शुद्धताके समर्थक दिगम्बरोंसे समीपताका अनुभव किया होगा।

जैनोंकी इस तीसरी परम्पराने दिगम्बरोंकी भाँति केवल उत्सर्ग या श्वेताम्बरोंकी भाँति केवल अपवाद मार्ग स्वीकार न करके अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग मार्गको अपनाया। इसने न तो स्मृतिके आधार पर संकलित आगमको आमान्य ही किया और न आगामों द्वारा वस्त्रपात्रवादके पोषणको ही अपना लक्ष्य बनाया।

वस्त्रपात्रवाद और स्मृतिके आधार पर संकलित आगम टी० संघभेदके मूल कारण रहे हैं, तथा इन्हीं आधारों पर दिगम्बर और श्वेताम्बर विचारधाराएँ पृथक् हुई हैं। कालान्तरमें इन दोनों परम्पराओंमें समन्वय करनेके लिए मध्यस्थता जैसा कार्य करनेके लिए यापनीय सम्प्रदायका उदय हुआ हो, तो आश्चर्य नहीं। विचारोंकी दृष्टिसे संकलित आगमोंको मान्यता देनेसे वे श्वेताम्बर परम्पराके सन्निकट हैं। आचारों की दृष्टिसे दिगम्बरोंके समीप हैं, जैसा कि भट्टारक रत्ननन्दिके पूर्वोक्त उल्लेखसे विदित होता है।

यापनीय शब्दका अर्थ

यापनीय शब्दका मूल अर्थ अपने आपमें एक स्वतन्त्र प्रश्न है। इसके लिए यापनीय, जापनीय, जावलिय, जावलिगेय, जप्पुलिय, आपुलिय आदि शब्दोंका

---

१. 'यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश' शीर्षक निबन्ध अनेकांत (त्रैमासिक पत्रिका) व वीर-निर्वाण विशेषांक, पृ. २४४।

२. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ११ किरण १ में प्रकाशित डॉ. हीरालाल जैनका निबन्ध 'क्या षट्खण्डागमसूत्र और उनके टीकाकारोंका अभिप्राय एक ही है?' दृष्टव्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहार किया गया है। श्री के० टी० 'तैलंगके अनुसार यापनीय शब्दका अर्थ है बिना ठहरे सदा ही विहार करनेवाले (श्रमणशील)।[1] उपाध्येजीने इसका अर्थ 'निकला हुआ' किया है।[2] उनके अनुसार जवणिज्ज साधु वे हैं जो यम-यामका जीवन बिताते थे। इस सन्दर्भमें पार्श्वप्रभुके चउज्जाम या चातुर्याम धर्मसे यम-यामकी तुलना की जा सकती है।[3] श्री कल्याणविजयजीका मत है कि 'जिस प्रकार मरुधाराके यति परस्पर मिलते एवं बिछुड़ते समय 'मत्थएण वंदामि' कहकर एक दूसरेका अभिवादन करते थे, इस कारण इस यतिसमूहका नाम ही जनसाधारण द्वारा 'मत्थेण' रख दिया गया तथा वर्षमें एक बार लुंचन करने वाले साधु समुदायका कूर्चिककी तरह बढ़ी हुई दाढ़ी-मूंछ देखकर 'कूर्चिक' नाम रख दिया गया, ठीक उसी प्रकार यापनीयों द्वारा गुरुवंदनके समय 'जावणिज्जाए' शब्दका कुछ उच्च स्वरमें प्रयोग किये जानेके फलस्वरूप संभवतः जनसाधारणने इस साधुसमुदायका नाम जावणिज्ज (यापनीय) रख दिया है।[4]

मूलाचार और भगवती आराधनामें (जो कि यापनीय ग्रंथ हैं जैसा कि हम तीसरे अध्यायमें देखेंगे) 'निर्यापक' शब्दका बहुत अधिक प्रयोग हुआ है, यहाँ इसका प्रयोग तारक (पार उतारने वाला) इस अर्थमें हुआ है।

णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्त णावा हि।
भवसागरं तु भविया तरंति तिहि सण्णिवायेण॥[5]

इन उल्लेखोंको देखते हुए प्रतीत होता है कि निर्यापनीय (पार उतारने योग्य) के भावको व्यक्त करनेके लिए 'यापनीय' शब्द व्यवहारमें आया होगा। उत्कृष्ट ज्ञान और चारित्रके धारक इस साधु-संघका नाम यापनीय पड़ गया हो।

आचार्य हरिभद्रकी ललितविस्तरामें 'यापनीयतंत्र' ग्रंथका उल्लेख है। ग्रन्थके इस नामसे जान पड़ता है कि यापनीयोंने स्वयं अपने लिए 'यापनीय' शब्दके व्यवहारको स्वीकार कर लिया था।

डॉ० उपाध्येकी तरह 'या' धातुका अर्थ निकला हुआ माने, तो इसका अर्थ सचेलक परम्परासे उद्भूत अचेलक परम्परा भी हो सकता है।

---

१. इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग ७, पृ० ३४ की पादटिप्पणी।
२. 'जैनदर्शन', वर्ष ४, अंक ७ में प्रकाशित 'यापनीय संघ' नामक निबंध।
३. 'यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश', वीर-निर्वाण विशेषांक, अनेकांत (त्रैमासिक), १९७५, पृ० २४६।
४. पट्टावली-पराग-संग्रह, पं० कल्याणविजयगणि, क.वि. शास्त्रसंग्रह समिति जालौर, १९६६।
५. मूलाचार, १०/७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमारा विचार है कि यम अर्थात् अहिंसादि महाव्रतों तथा नग्नतापर दृढ़ रहनेके कारण और उसका ही जोवन-यापन करनेसे इन्हें यापनीय कहा गया है तथा भवसागरसे पार कराने वाला होनेसे उनके सम्प्रदायको यापनीय सम्प्रदाय। हमारा यह भी विचार है कि इस संघका मूल नाम प्राकृत भाषाका जावणिय या जवणिज्ज आदि रहा होगा, जिसका संस्कृत रूपान्तर यापनीय किया गया जिस प्रकार कि मूल 'समण' शब्द संस्कृतमें श्रमण हो गया है।

यापनीयोंके उल्लेख

आगमग्रन्थोंमें व्याख्याप्रज्ञप्ति, नायाधम्मकहाओ तथा पुष्पिका नामक उपाङ्गमें 'जवणिज्ज' शब्दका प्रयोग मिलता है। इन तीनों स्थलोंमें जवणिज्जका अर्थ इन्द्रिय-निग्रह और मनोनिग्रहसे है। इन तीनों ग्रन्थोंमें उल्लिखित 'जवणिज्ज' शब्दका संस्कृत रूपान्तर यमनीय या यामनीय हो सकता है। इसीलिए डॉ० उपाध्येने इनकी तुलना पार्श्वप्रभुके चातुर्यामसे की है। उदाहरणस्वरूप व्याख्याप्रज्ञप्तिके अठारहवें शतकसे निम्नलिखित प्रसंग उद्धृत किया जाता है—

सोमिल ब्राह्मण तथा भगवान महावीरके प्रश्नोत्तरका प्रसंग है—

'जत्ता ते भंते। जवणिज्जं (ते भंते।) अव्वावाहं ते भंते। फासुयविहारं (ते भंते)।

सोमिला जत्ता वि मे। अव्वाबाहं वि मे फासुयविहारं वि मे। किं ते भंते जवणिज्जं!

सोमिला जवणिज्जे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—इंदियजवणिज्जे य नोइंदिय-जवणिज्जे य।'

यहाँ स्पष्ट है कि 'जवणिज्ज' शब्द इन्द्रिय-निग्रह और मनोनिग्रहरूप यमके अर्थमें प्रयुक्त है, यापनीयके अर्थमें नहीं, परन्तु यापनीयोंके लिए मूल प्राकृत शब्द 'जवणिज्ज' ही रहा होगा, जो उनके अशिथिल आचारका द्योतक रहा होगा।'

हरिभद्रसूरिने[1] ललितविस्तरामें स्त्रोमुक्तिका वर्णन करते हुए यापनीयतंत्रको प्रमाणरूपसे प्रस्तुत किया है, जैसा कि पहले उल्लेख कर चुके हैं।

राजशेखरसूरिने[2] षड्दर्शनसमुच्चयमें दिगम्बरोंके काष्ठा, मूल, माथुर और गोप्य (यापनीय) संघोंका उल्लेख किया है। इसके टीकाकार गुणरत्नसूरीश्वरने इनके विषयमें लिखा है—'दिगम्बराः पुनर्नाग्न्यलिङ्गाः पाणिपात्राश्च चतुर्धा काष्ठासंघ-मूलसंघ-माथुरसंघ-गोप्यभेदात्। गोप्यास्तु वन्द्यमाना धर्मलाभं भणन्ति। स्त्रोणां मुक्तिं केवलिनां भुक्तिं च मन्यन्ते। गोप्या यापनीया इत्यत्युच्यन्ते।'

१. ललितविस्तरा, पृ. ४०२।
२. षड्दर्शनसमुच्चय, राजशेखरसूरि, पृ. ४५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यापनीयोंके साहित्यसे स्पष्ट है कि इन्होंने अपने सम्प्रदाय आदिका उल्लेख नहीं किया है, साथ ही दूसरे सम्प्रदायोंपर आक्षेप भी नहीं किये हैं। संभवतः यापनीय साधु अपनी उदारता तथा तटस्थ वृत्तिके कारण ही सम्प्रदायका अनुल्लेख करते थे। अपने सम्प्रदायको गुप्त रखनेके कारण ही इन्हें गोप्य कहा गया होगा। अथवा मन-वचन-काय पर नियंत्रण (गुप्ति) रखनेसे ये गोप्य कहलाते होंगे।

श्रुतसागरसूरिने दंसणपाहुडकी टीकामें यापनीयोंको खच्चरोंके समान दोनों मतोंको मानने वाला बताया है।

'यापनीयास्तु वेसरा गर्दभा इवोभयं मन्यन्ते, रत्नत्रयं पूजयन्ति, कल्पं च वाचयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं, केवलिजिनानां कवलाहारं, परशसने सग्रन्थानां मोक्षं च कथयन्ति।'[1]

इसके अतिरिक्त जैसा कि कह चुके हैं कि हरिषेणके बृहत्कथाकोश, देवसेनके दर्शनसार, रत्ननन्दिके भद्रबाहुचरित तथा श्रीचन्द्रके अपभ्रंश कथाकोशमें यापनीयोंकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कथाएँ आई हैं। इनमेंसे हरिषेण[2] तथा [3]श्रीचन्द्रने इनका दो पंक्तियोंमें उल्लेख भर किया है।

जैन साहित्यका गहरा अध्ययन और अनुसंधान करने पर भी यापनीय संघके जन्म, जन्मस्थली तथा आद्य आचार्य विषयक निर्णयात्मक तथ्य अनिश्चित ही रहता है। डॉ० उपाध्येके उल्लेखानुसार कोप्पक्ष (आधुनिक कोप्वल) को यापनीयोंका मुख्य पीठ बताया गया है।[4] देवसेनने इस संघकी उत्पत्ति कल्याणनगरमें, रत्ननन्दिने करहाटाक्षमें और हरिषेणने सावलिपत्तनमें मानी है। श्वेताम्बर परम्परामेंबोटिकके नामसे इनकी उत्पत्ति मथुराके आस-पास रथवीरपुरमें मानी गई है। शिलालेखीय उल्लेखोंके अनुसार कर्नाटकके कुछ जिले इनके कार्यक्षेत्र थे। आन्ध्र तथा तमिलनाडुमें भी इनके कतिपय शिलालेख मिले हैं।[5] शिलालेखोंके आधार पर ही प्रेमीजीने भी निर्देश किया है कि किसी समय यह सम्प्रदाय कर्नाटक और उसके आसपास बहुत

---

१. दंसणपाहुड टीका गाथा १।

२. बृहत्कथाकोश, भद्रबाहुकथा, सं० १३१, पृ. ३१९।

ततः काम्बलिकात्तीर्थान्नूनं सावलिपत्तने
दक्षिणापथदेशस्थे जातो यापनसंघकः ॥

३. कहकोसु, ४७।१८।

सामलिसुएण तत्तो विहिउ, जप्पुलियसंघु मूढहिं महिउ।

४. 'यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश' शीर्षक निबन्ध, अनेकान्त, १९७५।

५. देखिए, दूसरा अध्याय, यापनीयोंसे सम्बन्धित शिलालेख।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रभावशाली रहा है। कदम्ब[1], राष्ट्रकूट[2] और दूसरे वंशके[3] राजाओंने इस संघको और इसके साधुओंको अनेक भूमिदान आदि दिये थे।

श्वेताम्बर उत्तरभारतसे तथा दिगम्बर दक्षिण भारतसे अपेक्षाकृत अधिक सम्बद्ध रहे हैं। इसलिए संभावना यही है कि इनकी जन्मस्थली उत्तरभारत रही होगी। श्वेताम्बरोंसे पृथक् होनेके पश्चात् ये भ्रमणशील साधु दक्षिणभारतमें पहुँचे। वहाँ नग्नता आदि समान आचार वाले दिगम्बर साधुओंके प्रभावक्षेत्रको इन्होंने अपना कार्यक्षेत्र बनाया होगा। इनकी कार्यस्थली कर्नाटक है, यह शिलालेखों से स्पष्ट है। उत्पत्तिस्थलके विषयमें किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना शक्य नहीं है।

●

१. कदम्बवंशी राजाओंके दानपत्र, जैनहितैषी, भाग १४, अंक ७-८।
२. इ. ए. १२, पृ. १३-१६ में राष्ट्रकूट प्रभूतवर्षका दानपत्र।
३. इ. ए. भाग २, पृ. १५६-१५७ में पृथ्वीकोंगणि महाराजका दानपत्र।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितीय परिच्छेद

यापनीय व अन्य दिगम्बर संघ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रास्ताविक

प्रथम अध्यायमें हम यह बता चुके हैं कि दक्षिण भारतमें यापनीय संघ और अन्य दिगम्बर संघोंके साथ-साथ उल्लेख मिलते हैं। दक्षिण भारत, जो यापनीयोंकी कार्य-स्थली है, दिगम्बरोंका केन्द्र रहा है। इनके दिगम्बरोंके साथ इस सम्बन्धको देखते हुए तथा परवर्ती कालमें दिगम्बरोंमें विलयको ध्यानमें रखते हुये दिगम्बर संघोंके साथ ही यापनीयोंकी तुलना समीचीन है।

परम्परानुसार भगवान महावीरके निर्वाणोपरान्त लगभग सातसौ वर्षों तक दिगम्बर सम्प्रदाय अविच्छिन्न रहा। श्रुतावतारके रचयिता इन्द्रनन्दिके अनुसार पुण्ड्रवर्धनपुरवासी आचार्य अर्हद्बलिने संघ-निर्माणका कार्य किया। अपने कथनके समर्थनमें उन्होंने एक प्राचीन श्लोक भी उद्धृत किया है—

> आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतोऽशोकवाटाद्-
> देवाश्चान्योपरार्दिजित इति यतिपौ सेनभद्राह्वयौ च।
> पंचस्तूप्यात्सगुप्तौ गुणधरवृषभः शाल्मलीवृक्षात्
> निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात् ॥[1]

भट्टारक इन्द्रनन्दिनने अपने नीतिसारमें इसका समर्थन किया है।

डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरीका कथन है कि अर्हद्बलि द्वारा संघोंकी प्रतिष्ठापनाकी कल्पना मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वयको नवसंगठित करनेवाले आचार्योंकी कल्पना थी, इसके पीछे ऐतिहासिक आधार बहुत कम है।[2] श्रवणवेलगोलके एक शिलालेखमें अकलंकदेवके पश्चात् संघोंकी स्थिति बताई गयी है।[3]

दिगम्बर सम्प्रदायके प्रमुख चार संघ हैं—मूलसंघ, द्रविड़संघ, काष्ठासंघ और यापनीय संघ। इनमें प्राचीन मूल, द्राविड व यापनीय तीनों संघोंमें कतिपय गणों व गच्छोंके समान नाम मिलते हैं। मूलसंघमें द्रविडान्वय तथा द्रविडसंघमें कोण्डकुन्दान्वयका उल्लेख मिलता है। मूलसंघके सेन व सूरस्थगण द्रविडसंघमें भी प्राप्त होते हैं। नन्दिसंघ तीनोंमें ही है। मूलसंघके बलात्कारगण, क्राणूरगण यापनीयसंघमें भी हैं। इनसे इन संघों की शाखाओंके संक्रमणका पता चलता है।

---

१. श्रुतावतार, इन्द्रनन्दि, श्लोक १६।
२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, प्रस्तावना, पृ० ४३।
३. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, लेख क्रमांक १०८, श्लोक १९-२१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलसंघ—यापनीय, द्राविड, काष्ठा (गोपुच्छिक), निष्पिच्छिक आदि तथाकथित जैनाभासों को छोड़कर शेष दिगम्बर सम्प्रदायको मूलसंघ कहा गया है। पं० नाथूरामजी प्रेमीका कथन है कि "अपनेसे अतिरिक्त दूसरोंको अमूल—निराधार घोषित करनेके लिए ही नामकरण किया होगा और यह तो वह स्वयं ही उद्घोषित कर रहा है कि उस समय उसके प्रतिपक्षी दूसरे दलोंका अस्तित्व था[1]।

ज्ञात होता है कि जब दिगम्बर सम्प्रदायमें कतिपय शिथिलाचारी संघोंका आविर्भाव हो गया, तब आचार्य कुन्दकुन्दकी भाँति आचरणकी विशुद्धताके पक्षपाती आचार्योंने शिथिलाचारिताके विरोधमें अपने संघको भगवान महावीरके मूलसंघके निकट घोषित करनेके लिये मूलसंघ नाम दिया। दिगम्बर सम्प्रदायमें आचार्य कुन्दकुन्द आचरणकी शुद्धताके प्रबल समर्थक थे, अतः मूलसंघका संबन्ध आचार्य कुन्दकुन्दके साथ स्थापित किया गया तथा अपनेसे अतिरिक्त जैन संघोंको जैनाभासी और मिथ्यात्वी घोषित कर दिया गया।[2] उत्तरकालमें मूलसंघका प्रणेता आचार्य कुन्दकुन्दको माना जाने लगा। यही कारण है कि परवर्ती अभिलेखोंमें मूलसंघके प्रणेता स्पष्टतया आचार्य कुन्दकुन्द उल्लिखित हैं।[3] आचार्य कुन्दकुन्द आचारशुद्धताके प्रबल समर्थक थे और मूलसंघ भी आचारगत शुद्धताके लिये किये गये आंदोलनोंका परिणाम है, अतः मूलसंघीय मुनियों द्वारा उनकी संस्थापनाका श्रेय आचार्य कुन्दकुन्दको प्रदान करना स्वाभाविक है।

मूलसंघका सर्वप्रथम शिलालेखीय उल्लेख नोणमंगलकी ताम्रपट्टिकाओंपर है। प्रथम पट्टिकाका समय अनुमानतः ३७० ई० माना गया है।[4] नोणमंगल (मलूर तालुका) की ही दूसरी ताम्रपट्टिकापर माधव द्वितीयके पुत्र एवं उत्तराधिकारी कोङ्गुणिवर्माके अपने गुरु परमार्हत विजयकीर्तिके उपदेशसे अपने राज्यके प्रथमवर्षमें ही मूलसंघके चन्द्रनन्दि द्वारा प्रतिष्ठापित उरनूरके जिन मन्दिरके लिये एक गाँव प्रदान करने तथा एक दूसरे जिन मंदिरके लिये चुंगीसे प्राप्त धनका चतुर्थ भाग दानमें देनेका उल्लेख है।[5] लुइस राइस महोदयने इसका समय सन् ४२५ के लगभग माना है।[6]

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, द्वितीय संस्करण, पं० नाथूरामजी प्रेमी, पृ० ४८५।

२. इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार, १०। गोपुच्छिकाः श्वेतवासाः द्राविडो यापनीयकाः।
निःपिच्छिकाश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥

३. इंडियन एण्टीक्वेरी, पृ० ३४१।

४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख नं० ९०, पृ० ५५।

५. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख नं० ९४।

६. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३ की चौधरीकृत प्रस्तावना, पृ० ७७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्त दोनों लेखोंमें मूल संघके पश्चात्कालीन लेखोंमें दिखनेवाले किसी गण, गच्छ एवं अन्वय आदिका निर्देश नहीं है। उनका उल्लेख सातवीं शतीके उत्तरार्धसे मिलता है।[1]

मूलसंघके अन्तर्गत देवगण, सेनगण, सूरस्थगण, बलात्कारगण, क्राणूरगण तथा नन्दिसंघ (नन्दिगण)के नाम मिलते हैं। नामकरणका आधार मुनियोंके नामान्त शब्द तथा स्थानविशेष अवगत होते हैं।

देवगण

शिलालेखीय उल्लेखोंके आधारसे देवगण सबसे प्राचीन है। इस गणका अस्तित्व लक्ष्मेश्वरसे प्राप्त चार तथा कडवन्तिसे प्राप्त एक लेखसे ज्ञात होता है।[2] इसके पश्चात् अन्य लेखोंमें इसका उल्लेख नहीं मिलता। इसके नामकरणके सम्बन्धमें शिलालेखोंसे कोई प्रकाश नहीं पड़ता। देवगण यह नाम इस गणके प्रायः सभी आचार्योंके देवांत नाम होनेसे पड़ा होगा। आचार्योंके नाग पूज्यपाद, उदयदेव, रामदेव, जयदेव, विजयदेव, एकदेव, जयदेव, अंकदेव, महीदेव आदि हैं।

सेनगण

देवगणके समान सेनगण भी प्राचीन है इसका प्रथम उल्लेख सूरतके ताम्रपत्र सन् ८२१ में है। इस लेखमें इसे चतुष्टय मूलसंघका उदयान्वय सेनसंघ कहा गया है। इसकी आचार्य परम्परा मल्लवादी, सुमति, पूज्यपाद, अपराजित गुरु इस प्रकार दी गई है।[3] इसका दूसरा शिलालेखीय उल्लेख मूलगुण्डसे प्राप्त लेखमें सन् ९०३ का है। इस लेखमें चन्द्रिकवाटके सेनान्वयके कनकसेन मुनिको अरसार्य नामक व्यक्ति द्वारा एक खेत दान देनेका उल्लेख है। इसमें दी हुई गुरुपरम्परा इस प्रकार है—पूज्यपाद, कनकसेन, वीरसेन तथा कनकसेन।[4]

आचार्य वीरसेन और जिनसेनने धवला और जयधवलामें अपने वंशको पञ्चस्तूपान्वय कहा है।[5] पञ्चस्तूपान्वयका मूल कुछ विद्वान् पूर्वीय बंगालसे और कुछ मथुराके पञ्चस्तूपोंसे, जिनका उल्लेख हरिषेणके कथाकोशमें है,[6] मानते हैं। यह पञ्चस्तूपान्वय ईसा की पाँचवीं शताब्दीमें निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके साधुओंका एक संघ था,

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख नं० १११।
२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, संख्या १११, ११३, ११४, १४९ तथा १९३।
३. जैन शिलालेख सं० भाग ४ सं० ५५।
४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख संख्या १३७।
५. धवला, गाथा ४, जयधवला, श्लोक ५।
६. हरिषेणकृत बृहत्कथाकोश, वैरकथानक, श्लोक १३२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह बात पहाड़पुर (जिला राजशाही बंगाल) से प्राप्त एक लेखसे मालूम होती है।[१]

सर्वप्रथम नवमी शताब्दीके उत्तरार्ध (सन् ८९८ के पहले) में वीरसेनके प्रशिष्य, जिनसेनके शिष्य तथा उत्तरपुराणके रचयिता गुणभद्रने अपनेको सेनान्वयका कहा है।[२] अतः पञ्चस्तूपान्वय ही उत्तरकालमें सेनान्वयके नामसे प्रसिद्ध हुआ प्रतीत होता हैं। इन्द्रनन्दिके अनुसार भी पञ्चस्तूपसे आये मुनियोंके संघको सेन नाम दिया गया था। वीरसेन-जिनसेनके बाद किसी आचार्यने पञ्चस्तूपान्वयका उल्लेख नहीं किया। किंतु सूरतके ताम्रपत्रसे वीरसेनके समयमें ही सेनसंघकी परम्पराका अस्तित्व प्रमाणित होता है।

सेनगणके प्रमुख तीन उपभेद हैं—(अ) पोगरी या होगरीगच्छ, (ब) पुस्तकगच्छ तथा (स) चन्द्रकपाट।

पोगरिय गच्छका प्रथम लेख वि० सं० ९५० का है। इस लेखमें मूलसंघ सेनान्वय-पागरिय गणके आचार्य विनयसेनके शिष्य कनकसेनको ग्रामदानका उल्लेख है।[३] इसके बाद पोगरिगच्छके उल्लेख १३वीं शताब्दी तक मिलते हैं। होन्वाडसे प्राप्त एक लेखमें ब्रह्मसेन-आर्यसेन-महासेन-जिनवर्मकी गुरुपरम्परा दी हुई है[४]। बलगाम्बेके लेखमें गुणभद्रके सहधर्मी महासेन तथा गुणभद्रके शिष्य रामसेनका उल्लेख है।[५] हिरे-आवलिसे प्राप्त लेखमें वीरसेनके सहधर्मी माणिक्यसेनका उल्लेख है।[६] यहींके दूसरे लेखमें चन्द्रप्रभ सिद्धान्तदेवके शिष्य माधवसेन भट्टारकका निर्देश है।[७] बेतूरुसे प्राप्त भग्न कन्नड शिलालेखमें वीरसेन-जिनसेन-गुणभद्र-तथा फिर महसेनके पुत्र (शिष्य) मुनि पद्मसेनकी परम्परा प्राप्त होती है।[८]

चन्द्रकवाट अन्वयका पहला लेख मूलगुण्डसे प्राप्त लेख है।[९] दूसरा लेख विक्रम संवत् ११०० का है। यह चालुक्य सम्राट सोमेश्वर प्रथम आहवमल्लके राज्यमें

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १६, किरण १, पृष्ठ १-६ जै० शि० सं० भाग ४ सं० १९।
२. उत्तरपुराण, १/२।
३. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, सं० ६१।
४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेखसं० १८६, पृ० २२७।
५. जैन शि० सं०, भाग २, लेख सं० २१७, पृ० ३११।
६. जैन शि० सं०, भाग ३, लेख सं० ३२२, पृ० ५९।
७. जैन शि० सं०, भाग २, लेख सं० २८६, पृ० ४३६।
८. जैन शि० सं०, भाग ३, लेख सं० ५११, पृ० ३५८।
९. जैन शि० सं०, भाग २, लेख सं० १३७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिखा गया था। इसमें नयसेन पण्डितको भूमिदानका उल्लेख है। नयसेनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार दी गई है—मूलसंघ सेनान्वय चन्द्रकवाट अन्वयके अजितसेन-कनकसेन-नरेन्द्रसेन-नयसेन। नरेन्द्रसेन और नयसेन व्याकरणशास्त्रके पण्डित थे।[1] चामुण्डरायपुराणके प्रारम्भमें चन्द्रिकावाटके धर्मसेन, कुमारसेन, नागसेन, वीरसेन, चन्द्रसेन, नयसेन, अजितसेनका उल्लेख है।

सेनगणके तीसरे उपभेद पुस्तकगच्छका उल्लेख १४वीं शताब्दीके एक शिला-लेखमें है। इनकी गुरुपरम्परा वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र त्रैविद्यदेव, सूरसेन, कमलभद्र, देवेन्द्रसेन, कुमारसेन, हरिसेन, प्रभाकरसेन, लक्ष्मीसेन है।[2]

सोनागिरिके एक मूर्तिलेखमें पुष्करगच्छ ऋषभसेनान्वयके विजयसेन व लक्ष्मीसेनका उल्लेख है। यहाँ सेनगणका नाम नहीं है, किंतु अन्य लेखोंसे विदित होता है कि यह पुष्करगच्छ पोगरिगच्छ ही है।[3]

हिरे आवलिसे इस सेनगणके कई लेख प्राप्त हुए हैं जो १२वीं से १५वीं शताब्दी तकके हैं।[4] इस आधारपर यह स्थान इस गणके साधुओंका प्रमुख केन्द्र माना गया है। एक लेखमें सेनगणके साथ कुन्दकुन्दान्वय जुड़ा है।[5] सम्भव है १५वीं शताब्दीसे इस गणका प्रभाव क्षीण होने लगा था, पर सेनगणकी पुष्करगच्छ शाखा कारंजामें १५वीं से २० शती तक विद्यमान थी।

देशीगण

दक्षिण भारतमें कन्नड प्रांतका वह भाग जो पश्चिमी घाटके उच्चभूमिभाग बालाघाट और गोदावरी नदीके बीचमें है, प्राचीन समयमें 'देश' कहलाता था। यहाँके साधुओंका गण देश, देसिय, देसिग एवं महादेसि गण कहा गया है। शिलालेखोंके अवलोकनसे प्रतीत होता है कि कर्नाटक प्रांतके कई स्थान इस गणके केन्द्र थे। इनमें हनसोगे (चिकहनसोगे) प्रमुख था। यहांके आचार्योंसे ही इस गणकी हनसोगे बलि या गच्छ निकला है। गच्छका अर्थ शाखा तथा बलिका अर्थ परिवार किया गया है।[6]

---

१. जैन शि० सं०, भाग ४, लेख सं० १३८।
२. जैन शि० सं०, भाग ४, लेख सं० ४१५।
३. जैन शि० सं०, भाग ५, लेख सं० २५८।
४. उदाहरणार्थ—जैन शि० सं०, भाग २, लेखसं० २८६, भाग ३, लेखसं० ३२२, ५३८, ६११ आदि।
५. जैन शि० सं०, भाग ३, सं० ५३८।
६. जैन शि० सं०, भाग ३, प्रस्तावना, पृ० ५४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिकहनसोगेसे प्राप्त शिलालेखोंके अनुसार वहाँ इस गणकी अनेक बसतियाँ थीं, जिन्हें चंगाल्व नरेशों द्वारा संरक्षण प्राप्त था।[१] हनसोगे बलि (पनसोगे बलि)[२] तथा इंगुलेश्वर बलि[३] पुस्तक गच्छके ही दो प्रमुख उपभेद हैं।

पुस्तकगच्छ इस गणका प्रमुख गच्छ है, जिसके लगभग १०० लेख पाँचों संग्रहोंमें संग्रहीत हैं। हगरिटगेके लेखमें पुस्तकगच्छके गोमिनि अन्वयके मुनिके समाधिमरणका उल्लेख है।[४]

लेखोंकी सहायतासे हनसोगे बलिके आचार्योंकी यह परम्परा प्राप्त होती है— पूर्णचन्द्र-दामनन्दि-श्रीधर-मलधारिदेव। मलधारिदेवके तीन शिष्य दामनन्दि, चन्द्रकीर्ति व शुभचन्द्र। चन्द्रकीर्तिके शिष्य दिवाकरनन्दि। दिवाकरनन्दिके जयकीर्ति व कुक्कुटासन मलधारिदेव अपरनाम गण्डविप्रमुक्त। कुक्कुटासनमलधरिदेवके शुभचन्द्र।[५] चिकहनसोगेसे प्राप्त एक अन्य लेखमें इस बलिके श्रीधरदेवके शिष्य नेमिचन्द्रके समाधिमरणका उल्लेख है।[६] एक लेखमें नयकीर्तिके शिष्य बलिचन्द्र[७] तथा अन्यत्र ललितकीर्ति, देवचन्द्र तथा नयकीर्तिका उल्लेख है।[८]

पुस्तकगच्छकी बाणद बलिका उल्लेख भी एक लेखमें है।[९]

देशीगणके दूसरे उपभेद आर्यसंघ प्रतिबद्धग्रहकुलका उल्लेख १०वीं शताब्दीके एक लेखमें है।[१०] यह लेख उड़ीसाके खण्डगिरिपर मिला है।

देशीगणका तीसरा उपभेद चन्द्रकराचार्याम्नाय मध्यप्रदेशसे प्राप्त एक लेखमें है।[११] मैणदान्वय नामक चौथे उपभेदका उल्लेख १३वीं शताब्दीके लेखमें मिलता है।[१२] दो

---

१. जै० शि० सं०, भाग २, लेख नं० १७५, १९५, १९६, २२३, २४०, २४१।
२. जै० शि० सं०, भाग ३, लेख सं० २२३, २३२, २३९, २४१, २५३, २६९, २८४, २८५, ३७२, ४४९, ५२६, ५५१, ५६० आदि।
३. जै० शि० सं०, भाग ३, सं० ४११, ४६५, ५१४, ५२१, ५२४, ५७१, ५८४, ६००, ६७३ आदि।
४. जै० शि० सं०, भाग ६, सं० १३९।
५. जै० शि० सं०, भाग ३, सं० २२३, २३२, २३९, २४१, २६०, २६९ आदि।
६. जै० शि० सं०, भाग ४, लेख सं० ७४।
७. जै० शि० सं०, भाग ४, लेख सं० २७२।
८. जै० शि० सं०, भाग ४, सं० २९२, ३३५, ४१६, ५३८।
९. जै० शि० सं०, भाग ३, सं० ४७८।
१०. जै० शि० सं०, भाग ४, सं० ९४।
११. जै० शि० सं०, भाग ४, सं० २१७।
१२. जै० शि० सं०, भाग ४, सं० ३७२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेखोंमें इस गणके वक्रगच्छको परम्पराभी गयो दी है। श्री कत्तिले वस्तीके स्तम्भ-लेख पर मूलसंघ देशीगण व्रकगच्छ कोन्डकुन्दान्वयके वड्डदेवबलिके देवेन्द्र सिद्धान्तदेवके समकालीन शिष्योंका उल्लेख है। देवेन्द्र सिद्धान्तदेवके शिष्य वृषभनन्द्याचार्य तथा चतुर्मुखदेव। चतुर्मुखदेवके शिष्य गोपनन्दि। गोपनन्दिके सधर्मा महेन्द्र-चन्द्र-पण्डित-देव। चतुर्मुखदेवके शिष्य प्रभाचन्द्र, उनके सधर्मा दामनन्दि, गुणचन्द्र, माघनन्दि-सिद्धान्तदेव, जिनचन्द्र, देवेन्द्र, वासवचन्द्र, त्रिमुष्टिमुनीन्द्र हुए। त्रिमुष्टि मुनीन्द्र गोपनन्दि आचार्यके शिष्य थे। इनके सधर्मा माघनन्दि, कल्याणकीर्ति व बालचन्द्र मुनि हुये।[१] हलेबीडके कन्नड शिलालेखमें वक्रगच्छतिलक बालचन्द्रकी प्रशंसा है। इनके शिष्य रामदेव बताये गये हैं।[२] चौधरीजीने इसे पुस्तकगच्छका दूसरा नाम कहा है।[३] पर दोनों लेखोंमें वक्रगच्छ या पुस्तक गच्छको एक नहीं कहा गया है।

कोन्डकुन्दान्वय देशीगण

कोन्डकुन्दके साथ देशीगणका सर्वप्रथम प्रयोग सन् ९३१ में हुआ है।[४] मर्कराके ताम्रपत्रोंमें देशीयगण कोन्डकुन्दान्वयका प्रयोग है।[५] परीक्षण किये जाने पर ये लेख कृत्रिम सिद्ध हुये हैं।[६] कोन्डकुन्दान्वयका अर्थ कोण्डकुन्दसे निकला हुआ मुनिवंश जैसे अरुंगलान्वय, कित्तूरान्वय आदि, पर जहाँ किसी गण या परम्पराके साथ प्रयुक्त हुआ है, वहाँ इस गण या परम्परासे सम्बद्ध संघ होता है। कतिपय विद्वान् साहित्यिक उल्लेखोंके आधारपर मूलसंघ और कुन्दकुन्दको पर्यायवाची मानते हैं।

वदनगुप्पे समय ८०८ ईसवीके लेखमें कोण्डकुन्देय अन्वयके सिमंलगेगूरु गणके कुमारनन्दि-एलवाचार्य-वर्धमानगुरु इस परम्पराका उल्लेख है।[७] कोण्डकुन्दान्वयका स्वतन्त्र प्रयोग ८-९ वीं शताब्दीके लेखोंमें है।[८] कोण्डकुन्दान्वयको गण भी माना गया है।[९] गङ्गनरेश मारसिंह प्रथमके प्रभावक सेनापति श्रीविजयने मण्णेमें एक विशाल जिनालय बनाकर तोरणाचार्यके प्रशिष्य व पुष्पनन्दिके शिष्य प्रभाचन्द्र मुनिको

---

१. जै० शि० सं०, भाग १, सं० ५५।
२. जै० शि० सं०, भाग २, सं० ४२६।
३. जै० शि० सं०, भाग ३ की चौधरी कृत प्रस्तावना, पृ० ५६।
४. जै० शि० सं०, भाग २, लेख नं० १५०।
५. इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग १, पृ० ३६३-३६५ में प्रकाशित।
६. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३ की चौधरीकृत प्रस्तावना, पृ० ४७ का फुटनोट।
७. जै० शि० सं०, भाग २, लेख सं० १८०।
८. वही, सं० १२२, १२३, १३२।
९. वही, सं० १२२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बसदिके लिये एक गाँव और कुछ भूमियाँ दानमें दी थीं।[१] उक्त श्रीविजय द्वारा निर्मापित जिनभवनके लिये प्रभाचन्द्र मुनिके शिष्य बप्ययुके लिये एक गाँव दानमें दिया।[२] हुम्मचसे प्राप्त एक लेखमें कोण्डकुन्दान्वयके मौनिसिद्धान्त भट्टारक का उल्लेख हैं।[३]

मूलसंघके साथ देशीगण कोण्डकुन्दान्वयका प्रयोग ८६० ई० के लेखमें है।[४] यह लेख बहुत समय तक ताम्रपत्रके रूपमें रहा, बादमें मुनि मेघचन्द्र त्रैविद्यके शिष्य वीरनन्दि मुनिने कुछ लोगोंके आग्रहसे पाषाणपर उत्कीर्ण कराया था। संभवतः लेखके उत्कीर्णन काल (१२वीं शताब्दी) में मूलसंघ और कोण्डकुन्दान्वय पर्यायवाचो हो गये थे, अतः यहाँ मूलसंघ ओर जोड़ दिया गया प्रतीत होता है।

लेखीय आधारोंसे प्रतीत होता है कि कोण्डकुन्दान्वयका प्रचलन ई० ७वींके उत्तरार्धसे प्रारंभ हुआ था और उसने ८-९वीं शताब्दीमें प्रभावशाली बननेके प्रयत्न किये थे। उसका प्रथम प्रभाव कर्नाटक प्रान्तके देशस्थ साधुओं पर पड़ा, जिसके सम्पर्कसे देशियगण कोण्डकुन्दान्वयके कहलाने लगे।

कतिपय लेखोंके आधारपर देशीगण कोण्डकुन्दान्वयकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—त्रैकालयोगोश—देवेन्द्रमुनि, चान्द्रायणद—गुणचन्द्र, अभयनन्दि, शीलभद्र भट्टार, जयनन्दि, गुणनन्दि व चन्द्रनन्दि।[५]

कोण्डकुन्दान्वयका कुछ प्रभाव द्रविड संघ पर भी पड़ा था, पर वह प्रभाव स्थायी न था, क्योंकि एक लेखके अतिरिक्त और किसी लेखमें द्रविड संघ कोण्ड-कुन्दान्वयका उल्लेख नहीं मिला।[६]

सूरस्थ गण

सूरस्थगणका सर्वप्रथम उल्लेख कादलूर ताम्रपत्रका है।[७] लेखोंमें इसका नाम सूरस्त, सुराष्ट्र एवं सूरस्थ है।[८] इन लेखोंमें इसके अन्वय या गच्छ आदिका उल्लेख नहीं है। अन्य लेखोंसे इसके चित्रकूटान्वयका पता चलता है।[९] सूरस्थगण प्रारंभमें

---

१. जै० शि० सं०, भाग २, लेख सं० १२२।
२. वही, १२३।
३. वही, १३२।
४. वही, १२७।
५. वही, सं० १२७, १५०, २०४, २३३, २५६।
६. वही, सं० १६६।
७. वही, भाग ५, क्रमांक १७
८. वही, भाग २, क्रमांक १२७, १५०, २०४, २५६।
९. जै० एण्टीक्वेरी, भाग ११, अंक २, पृ० ६३–५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलसंघके सेनगणसे सम्बन्धित बताया गया है। मूलसंघकी एक शाखा सौराष्ट्र गण (सूरस्थगण) धारवाड़ तथा बीजापुर जिलेमें कार्यशील थी।

इसके दो उपभेदों—चित्रकूटान्वय तथा कौरुरगच्छका पता चलता है[1]। इस गणकी परम्परामें इन आचार्योंके उल्लेख हैं—अनन्तवीर्य, बालचन्द्र, प्रभाचन्द्र, कल्नेलेयदेव (रामचन्द्र), अष्टोपवासिमुनि, हेमनन्दि, विजयनन्दि, एकवीर और उनके सधर्मा पल्ल पंडित। इसमें हेमनन्दि मुनीश्वरको राद्धान्तपारग और सूरस्थगणभास्कर बतलाया गया है।[2] कादलूर ताम्रपत्रमें प्रभाचन्द्र योगीश—कल्नेलेयदेव—रविचन्द्रमुनीश्वर—रविनन्दिदेव—एलाचार्य मुनींद्र इस प्रकार बतायी गयी है।[3]

अविकगुन्दके लेख[4] में जयकीर्ति भट्टारक तथा अलदगेंदिके १३वीं शतीके तीन लेखोंमें[5] इस गणकी नागचन्द्र—नन्दिभट्टारक—नयकीर्ति इस आचार्य-परम्पराका उल्लेख है। इस गणके किसी भी लेखमें कुन्दकुन्दान्वयका उल्लेख नहीं है।

क्राणूरगण

क्राणूरगणके तीन उपभेदोंका पता चलता है—तिन्त्रिणी गच्छ, मेषपाषाणगच्छ और पुस्तकागच्छ। १०वीं शताब्दोसे १६वीं शताब्दी तक इस गणके उल्लेख प्राप्त होते हैं। मूलसंघके देशियगण और क्राणूरगणकी अपनी-अपनी वसतियाँ होती थीं। दडिगसे प्राप्त एक लेखमें लिखा है कि होयसल सेनापति मरियाने और भरतने दडिगकेरे स्थानमें पाँच वसतियाँ बनवायी थीं, जिसमें चार देशियगणके लिये तथा एक क्राणूरगणके लिये थी।[6]

कल्लूर गुण्डसे प्राप्त एक लेखमें क्राणूरगण मेषपाषाणगच्छके आचार्योंकी वंशावली दी है। दक्षिण देशवासी गंग राजाओंके कुलके समुद्धारक श्री मूलसंघके नाथ सिंहनन्दि नामके मुनि थे। इनके पश्चात् अर्हद्बल्याचार्य, बेट्टद—दामनन्दि—भट्टारक, बालचन्द्र भट्टारक, मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव, गुणचन्द्र पण्डितदेव, गुणनन्दि हुए। इनके बाद महान तार्किक एवं वादी प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव हुए। उनके शिष्य-माघनन्दि सिद्धान्तदेव और उनके शिष्य प्रभाचन्द्र हुए। इनके सधर्मा अनन्तवीर्य मुनि, मुनिचन्द्रमुनि, उनके शिष्य श्रुतकीर्ति, उनके शिष्य कनकनन्दि त्रैविद्य हुए,

---

१. जै० शि० सं० भाग ४ सं० १५३, १५८, २३८, ३७४, व ११७।
२. वही, भाग २ : लेखसं० २६९।
३. वही, भाग ५ : क्रमांक १७।
४. वही, भाग ५, लेख सं० ११८।
५. वही, भाग ५, क्रमांक १६३-५।
६. जै० एण्टीक्वेरी : भाग ९, अंक २, पृ० ६९, नं० ५८।

४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिन्हें राजाओंके दरबारमें त्रिभुवन—मल्लवादिराज कहा जाता था। इनके सधर्मा माधवचन्द्र, उनके शिष्य बालचन्द्र त्रैविद्य थे।[१] पुरलेके लेखमें इस गच्छके कई मुनियों-के उल्लेख हैं।[२]

क्राणूरगणके तिन्त्रिणीगच्छकी आचार्यपरम्पराका उल्लेख भी कई लेखोंसे मिलता है। रामनन्दि—पद्मनन्दि—मुनिचन्द्र। मुनिचन्द्रके दो शिष्य भानुकीर्ति एवं कुलभूषण। भानुकीर्तिके शिष्य नयकीर्ति और कुलभूषणके सकलचन्द्र हुए।[३]

क्राणूरगणके एक तगरिलगच्छका भी उल्लेख है।[४]

क्राणूरगणका उल्लेख यापनीय संघमें भी मिलता है।

बलात्कारगण

नन्दिसंघकी गुर्वावलिके अनुसार बलात्कारगणके अग्रणी पद्मनन्दि हुए, जिन्होंने सरस्वतीकी पाषाणमूर्तिको वाचाल कर दिया था।[५] दिगम्बर—श्वेताम्बरोंके शास्त्रार्थके अनेक उल्लेख हैं तथा सर्वत्र दिगम्बर शास्त्रार्थकारके रूपमें पद्मनन्दि ही उल्लिखित हैं। बलात्कारगणके आचार्योंने भी अपने गणके आद्य पद्मनन्दि (कुन्द-कुन्दाचार्य) को ही माना है। मूलसंघके साथ नन्दिसंघ बलात्कारगण सारस्वतगच्छके आद्य आचार्य पद्मनन्दि ही बताये गये हैं। इनके एलाचार्य, कुन्दकुन्द आदि पाँच नाम बताये गये हैं।[६]

बलात्कारगणका प्रथम उल्लेख मैसूरसे प्राप्त १०७१-७२ ई० के लेखमें है। इसमें वर्धमान, महावादी विद्यानन्द, गुणकीर्ति, विमलचंद्र, गुणचन्द्र, गण्डविमुक्त उनके गुरु बन्धु अभयनन्दिका उल्लेख है। इसके अगले लेखमें अभयनन्दि, सकलचन्द्र, गण्ड-विमुक्त (द्वितीय), त्रिभवनचन्द्रका उल्लेख है।[७] डॉ० चौधरीके अनुसार बलगार नामक स्थानविशेषसे निकलनेके कारण वह बलगार नामसे ख्यात हुआ होगा। इस नामका

---

१. जै० शि० सं० भाग २ : लेख स० २२७।
२. वही, भाग २, लेख सं० २९९।
३. वही, भाग ३ : लेख सं० ३१३, ३७७, ३८९, ४०८ और ४३१।
४. वही, भाग १ : लेख सं० ५००।
५. नन्दिसंघ-गुर्वावली, श्लोक नं० ३६।

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती॥

६. जै० शि० सं० भाग ३ : सं० ५८५।
७. जै० शि० सं० भाग ४ : सं० १५४ व १५५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक स्थान भी दक्षिण भारतमें हैं।[१] पं० परमानंदजी शास्त्रीके अनुसार बलात्कार स्थानवाची न होकर जबर्दस्ती क्रियायोंमें उद्यत होने या लगने आदिके कारण इसका नाम बलात्कारगण हुआ जान पड़ता है।[२] डॉ० चौधरीका अनुमान ही हमें भी उचित जान पड़ता है।

बलात्कारगणका उल्लेख श्रीनन्दिके शिष्य श्रीचन्द्रके उत्तरपुराणके टिप्पण, पुराणसार तथा पद्मचरितटिप्पणको प्रशस्तिमें किया है।[३] इनका समय सन् १०३० है। इस गणमें अनेक विद्वान् भट्टारक हुए हैं, उनके पट्ट भी अनेक स्थानों पर रहे हैं। इस कारण बलात्कारगणका विस्तार अधिक रहा है। उसकी दो शाखायें कारंजा एवं लातूरमें स्थापित हुई थीं। सूरतमें भी बलात्कारगणकी गद्दी थी। ग्वालियर और सोनागिरि माथुरगच्छ और बलात्कारगणके केन्द्र थे। देहली, जयपुर, नागौर, ईडर आदिमें इसका विस्तार हुआ है, किंतु इसके अधिकांश उल्लेख कर्नाटकमें प्राप्त हुए हैं।

प्रायः चौदहवीं शताब्दीसे इसके साथ सरस्वतीगच्छ जुड़ा है। बलगाम्बेके लेखमें बलात्कारगणके चित्रकूटाम्नायके मुनि मुनिचन्द्र और उनके शिष्य अनन्तकीर्तिका उल्लेख है।[४] कोणूरके लेखमें मुनियोंकी परम्परा दो गयी हैं—नयनन्दि—श्रीधर। श्रीधरके तीन शिष्य चन्द्रकीर्ति, श्रुतकीर्ति ओर वासुपूज्य। चन्द्रकीर्तिके नेमिचन्द्र और वासुपूज्यके पद्मप्रभ।[५]

चौदहवीं शतीके उत्तरार्धसे इस गणका विशेष प्रभाव द्योतित होता है। १३७१ ई० के तवनन्दिके शिलालेखमें बलात्कारगणके अग्रणी सिंहनन्द्याचार्यका उल्लेख है।[६] अन्य दो लेखोंमें इस गणकी परम्परा इस प्रकार मिलती है—कीर्तिदेव, कीर्तिदेवके शिष्य सुदाम और देवेन्द्रविशालकीर्ति, देवेंद्र विशालकीर्तिके शुभकीर्तिदेव, और उनके भट्टारक—धर्मभूषण (प्रथम), अमरकीर्ति। अमरकीर्तिके दो शिष्य धर्मभूषण (द्वितीय)

---

१. जै० शि० सं० भाग ३ : प्रस्तावना : पृ० ६२।

२. जै० धर्मका प्राचीन इतिहास, भाग २, पृ० ५७।

३. उत्तरपुराणटिप्पण "बलात्कागणश्रीश्रीनन्दाचार्यसत्कविशिष्येण चन्द्रमुनिना।" पद्मचरितटिप्पण·····"श्रीमद्बला (त्कार) गणश्री संघ····"

४. जै० शि० सं० भाग २ : लेख न० २०८।

५. वही, भाग २, लेख सं० २२७।

६. वही, भाग ३ : सं० ५६९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व सिंहनन्दि। धर्मभूषणके वर्धमान स्वामी। वर्धमान स्वामीके धर्मभूषण (तृतीय)[१] दो अन्य लेखोंमें भी इनके उल्लेख मिलते हैं।[२]

शत्रुंजयसे प्राप्त लेखकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—

सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति, ज्ञानभूषण, विजयकीर्ति, शुभचन्द्र, सुमतिकीर्ति, गुणकीर्ति, वादिभूषण, रामकीर्ति, पद्मनन्दि।[३] चितौड़के सन १३००के लेखमें उत्तरभारतमें इस गणकी आचार्य परम्परा निम्नप्रकार दी गयी है—केशवचन्द्र—देवचन्द्र—अभयकीर्ति—वसन्तकीर्ति—विशालकीर्ति—शुभकीर्ति—धर्मचन्द्र।[४] चित्तौड़के एक अन्य लेख व देवगढ़के लेखसे इसका समर्थन होता है।[५]

देवगढ़से प्राप्त एक लेखमें बलात्कारगणके मदसारदगच्छकी गुरुपरम्परा दी गई है। यह श्रीमद् शारद्गच्छ अर्थात् सरस्वतीगच्छ ही है।[६]

परम्परा इस प्रस प्रकार है धर्मचन्द्र—रत्नकीर्ति—प्रभाचन्द्र—पद्मनन्दि—शुभचन्द्र।[७] इस गणके भट्टारकोंने पर्याप्त ग्रन्थ-सर्जना की है।

नन्दिगण

श्रवणबेलगोलसे प्राप्त पाँच-छह लेखोंमें नन्दिगणकी पट्टवलियाँ दी गयी हैं।[८] वह परम्परा इस प्रकार है—पद्मनन्दि (कोण्डकुन्द) के अन्वयमें उमास्वाति–बलाकपिच्छ–गुणनन्दि–देवेन्द्र सैद्धान्तिक–कलद्योतनन्दि। इस संग्रहमें लेख नं० ४० में बलाकपिच्छके बाद देवनन्दि (पूज्यपाद) और अकलंकका नाम दिया गया है। इसी लेखमें कहा गया है कि मूलसंघके नन्दिगणका प्रभेद देशीगण हुआ, जिसमें गोल्लाचार्य नामके प्रसिद्ध मुनि हुये।[९] लेख नं० १०८ के शिलालेखमें भी इसी प्रकार "नन्दिसंघ सदेशीगणे गच्छे च पुस्तके" कहा गया है। इसी प्रकार नं० ४२, ४३, ४७, ५०

---

१. वही, भाग १ से १११ तथा भाग ३ लेख ५८५ तथा डॉ० दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित न्यायदीपिका, प्रस्तावना, ९१-९६.
२. जै० शि० सं० भाग ३ सं० ६६७ व ६९१।
३. जै० शि० सं०, भाग ३, सं० ७०२।
४. जै० शि० सं०, भाग ५, सं० १५२।
५. वही, १५३, १७२।
६. जै० शि० सं० भाग ४, प्रस्तावना—जोहरापुरकर, फुटनोट पृ० १२।
७. जै० शि० सं०, भाग ३, सं० ६१७।
८. जै० शि० सं०, भाग १ : लेख सं० ४०,४२,४३,४७, व ५०।
९. वही, ४०, श्लोक नं० १३, पृ० २५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदि लेखोंमें भी आरंभमें नन्दिसंघका उल्लेख है तथा बीचमें या अन्तमें मूल संघ देशीगणका उल्लेख है।

नन्दिगणकी परम्पराके गुणनन्दि, देवेन्द्र सैद्धान्तिक आदि देशियगणकी परम्परासे सम्बन्धित हैं, यह देशीगणकी अन्य आचार्यपरम्पराओंसे ज्ञात होता है। कोण्डकुन्दाचार्य, उमास्वाति, समन्तभद्राचार्य आदि आचार्योंके नाम द्रविडसंघसे सम्बन्धित नन्दिगणके ११ वीं शताब्दीके लेखोंमें भी दिखाई देते हैं।[1]

मूलसंघ और द्रविडसंघके लेखोंमें नन्दिगणके प्राचीन आचार्योंके नाम एकसे देखकर चौधरीका अनुमान है कि इन दोनों संघोंमें कोई प्राचीन नन्दिगण बाहरसे सम्मिलित किया गया होगा। यापनीयसंघमें नन्दिसंघ महत्त्वपूर्ण था। इसीसे द्रविड-संघ और मूलसंघने नन्दिगणको अपनाया है।[2]

प्रथम भागके लेख नं. १०५ तथा १०८में नन्दिगणको नन्दिसंघ कहा गया है यहाँ सेन, नन्दि, देव और सिंह इन संघोंका इतिहास भी दिया गया है।

नविलूर या नमिलूर संघका उल्लेख भी कुछ लेखोंमें है। एक लेखमें इसे ही पहले नमिलूर फिर मयूर संघ कहा गया है। एक अन्य लेख में इसे मयूर ग्राम संघ कहा है। स्पष्ट उल्लेख न होनेपर भी डॉ० हीरालालजीने इसे देशीगणके अन्तर्गत माना है।[3]

निगमावन्य

(बीजापुर) विजापूर मैसूरसे सन १३१०का एक लेख मूलसंघ निगमान्वयका प्राप्त हुआ है। इसमें कृष्णदेव द्वारा एक मूर्ति स्थापनाका उल्लेख है।[4]

कूर्चक सम्प्रदाय

कदम्ब राजवंशके दानपत्रोंमें कूर्चकोंके सम्प्रदायका उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि कर्नाटक प्रान्तमें ईसाकी पाँचवी शताब्दी या उसके पहले जैनोंका एक सम्प्रदाय "कूर्चक" नामसे और वह निर्ग्रन्थ, श्वेतपट और यापनीय संघसे पृथक् था, क्योंकि एक दानपत्रमें मृगेशवर्मा द्वारा स्वर्गगत शान्तिवर्माकी भक्तिसे पलाशिका नामक नगरमें जिनालय निर्माण कराके अपनी विजयके आठवें वर्षमें यापनीयों, निर्ग्रन्थों और कूर्चकों के लिये भूमिदानका उल्लेख है।[5]

---

१. जै. शि. सं. भाग २ : लेख सं. २१३, २१४. २८७ आदि

२. जै. शि. सं. भाग ३ : प्रस्तावना पृ. ५७

३. जै. शि. सं. भाग १ : की प्रस्तावना, डॉ० हीरालाल जैन

४. जै. शि. सं. भाग ४, सं. ३९०

५. जै. शि. सं. भाग २, लेख सं. ९,९९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमीजी के अनुसार दाढ़ी-मूंछ रखनेके कारण जैन साधुओंका यह सम्प्रदाय कूर्चक-सम्प्रदाय कहलाता होगा। वरांगचरितके कर्ता आचार्य जटासिहनन्दि संभवतः ऐसे ही साधुओंमें थे, जिनकी जटाओंका वर्णन "जटाः प्रचलवृत्तयः" के रूपमें आचार्य जिनसेनने अपने आदिपुराणमें किया है। उत्तराध्ययन और बृहत्कल्पसूत्रके लघुभाष्य और वृत्तिमें कूर्ची साधुओंके उल्लेख हैं, जो प्रसंगतः अजैन साधुओंके प्रतीत होते हैं। इस परसे अनुमान होता है कि जैन साधुओंमें भी कूर्चक-सम्प्रदाय रहा होगा।[1]

लेख नं. १०३ में बहुवचनका प्रयोग है, जिससे कूर्चक सम्प्रदायके कई संघ होनेका ज्ञान होता है। इसी लेखमें कूर्चकोंके अवान्तर भेद-वारिषेणाचार्य संघका उल्लेख है। इसके अनुसार उक्त संघके प्रधान मुनि चन्द्रक्षान्तको कदम्ब नरेश हरिवर्माने अपने पितृव्य शिवरथके उपदेशसे सिंह सेनापतिके पुत्र मृगेश द्वारा निर्मापित जैन मन्दिरमें अष्टान्हिका पूजाके लिये तथा सर्वसंघके भोजनके लिये वसुन्तवाटक नामक ग्राम दानमें दिया था।

लेख नं. १०३ में अहिरिष्टि नामक एक और श्रमणसंघका उल्लेख है, जिसे सेन्द्रक सामन्त भानुशक्तिकी प्रार्थना पर कदम्बनरेश हरिवर्माने मरदे नामक ग्राम दानमें दिया था। उक्त संघके आचार्य धर्मनन्दिको यह दानमें भेंट किया गया था, ताकि वे अपने अधीन चैत्यालयकी पूजा आदिका प्रबन्ध कर सकें और उस दानका उपयोग साधुओंके लिये भी कर सकें। यद्यपि इस लेखमें कूर्चक सम्प्रदायका उल्लेख नहीं है तथापि चौधरीजीका अनुमान है कि वारिषेणाचार्यसंघके समान ही अहिरिष्टि श्रमणसंघ भी कूर्चकोंका एक भेद था।[2]

द्राविड या द्रविड संघ

द्रविड देशके साधु समुदायका नाम द्रविड संघ है। इस संघके अनेकों लेख प्राप्त हैं। इसे द्रमिड, द्रविड, द्रविण, द्राविड, द्रविल, दरविल, या तिवुल नामसे उल्लिखित किया गया है।

देवसेनाचार्यके अनुसार[3] पूज्यपादके शिष्य वज्रनन्दिने वि० सं० ५२६ में दक्षिण

---

१. श्री नाथूराम जी प्रेमी : जैनसाहित्य का इतिहास, पृ. ५५९-५६२

२. डॉ० चौधरीकृत प्रस्तावना पृ० ३३

३. दर्शनसार २४-८ सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्थो।
अप्पासुयचणयाण भक्खणदो वज्जिदो मुणिदेहिं।
परिरइयं विवरीयं विसेसियं वग्गणं चोज्जं॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मथुरा 'मदुरा'में द्राविडसंघकी स्थापना की। यह प्राभृतग्रंथोंका ज्ञाता, महान् शक्तिशाली तथा दुष्ट था। मुनियोंने इसे अप्रासुक चने खानेसे रोका, जिससे बिगड़कर इसने विपरीत प्रायश्चित्त ग्रन्थोंकी रचना की। इनकी दृष्टिमें बीजोंमें जीव नहीं होता। मुनियोंके लिए स्थिति-भोजनका विधान नहीं है। ये सावद्य तथा गृहकल्पित[1] अर्थको नहीं मानते। इन्होंने कछार, खेत वसतिका और वाणिज्य आदि द्वारा जीवन-निर्वाह तथा शीतल जलमें स्नान करते हुए प्रचुर पापका संचय किया।

इस संघके लेख प्रायः कोगाल्ववंशी, शान्तरवंशी तथा होटसलवंशी राजाओंके राज्यकालके हैं। इन वंशोंके नरेशोंका इस संघको संरक्षण प्राप्त था। इस संघके आचार्योंने पद्मावतीकी पूजा एवं प्रतिष्ठाके प्रसारमें बड़ा योग दिया था।

वीरगण वीर्णय्यान्वय

सन् ९१५ के वजीरखेड ताम्रपत्रोंमें इस संघके विशेष वीरगण वीर्णाय्यान्वयके लोकमेंद्रके शिष्य वर्धमानगुरुको मिले हुये ग्रामदानका वर्णन है। चन्दनापुरीकी अमोघवसति तथा वडनेरकी उरिअम्मबसतिकी देखभाल उनके द्वारा होती थी। यह लेख द्राविड संघके प्राप्त उल्लेखोंमें प्राचीनतम है तथा इसमें वर्णित वीरगण वीर्णाय्य-अन्वयका अन्य किसी लेखमें उल्लेख नहीं मिलता।

द्राविडसंघ कोण्डकुन्दान्वय

इस संघके आदि एवं प्राचीन कुछ लेख होय्सलोंके उत्पत्ति-स्थान अंगदि (सोसेबूर) से हो प्राप्त हुये हैं। एक लेखमें द्रविडसंघ कोण्डकुन्दान्वयका उल्लेख है।[2]

मूलसंघ द्रविडान्वय

अंगदिके ही दूसरे लेखमें व्रजपाणि-पंडितका उल्लेख है, जिन्हें मूलसंघ द्रविडान्वयका कहा गया है।[3] इस लेखमें वज्रपाणि व्रतीश्वरके अतिरिक्त रविकीर्ति और कल्ने-

---

बीएसु णत्थि जीवो उब्भसण णत्थि मुणिदाणं।
सावज्जं ण हु मण्णइ ण गणइ गिहकप्पियं अट्ठं॥
कच्छं खेत्तं वसहिं कारिऊण जीवंतो।
ण्हंतो सीयलनीरे पावं पउरं च संचेदि॥
पंचसए छब्बीसे विक्कमरायस्य मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो॥

१. हमें गृहकल्पितका अर्थ स्पष्ट नहीं हो सका है।
२. जै० शि० सं०, भाग ५ : क्रमांक १४ व १५
३. जै० शि० सं०, भाग २ : क्रमांक १७८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेयदेवका उल्लेख है। इन दोनोंके उल्लेख मूलसंघ सूरस्थगणके दो लेखोंमें मिलते हैं।[१] अङ्गदिके ही एक अन्यलेखमें वज्रपाणिपण्डितको सूरस्थ-गणका कहा गया है।[२] इससे प्रतीत होता है वज्रपाणि पंडित सूरस्थगणसे सम्बन्धित थे।

डॉ० चौधरीजीका अनुमान है कि देवसेनके दर्शनसारमें निर्दिष्ट द्राविड संघके संस्थापक वज्रनन्दि ही उक्त वज्रपाणि हो सकते हैं।[३] वज्रपाणि पण्डितकी गुरु-शिष्यपरम्पराका पता लेखोंसे नहीं चलता। इसके बाद इस संघके लेखोंमें नन्दिसंघके आचार्योंकी परम्परा चलने लगती है।

नन्दिसंघ अरूङ्गलान्वय

यही इस संघका प्रमुख व महत्वपूर्ण अन्वय है। ११वीं शताब्दीके अनेकों लेखोंमें द्रविड गणके साथ नन्दिसंघ अरूङ्गलान्वयका उल्लेख है।[४]

द्रविड संघका प्रथम कुन्दकुन्दान्वय तथा मूलसंघके साथ और फिर नन्दिसंघके साथ सम्बन्ध देखकर चौधरीजीका अनुमान है कि नवसंगठित द्रविड संघने प्रारंभमें अपना आधार मूलसंघ या कुन्दकुन्दान्वयको बनाया होगा, पर पीछे यापनीय सम्प्रदायके विशेष प्रभावशाली नन्दिसंघमें इस सम्प्रदायमें अपना व्यावहारिक रूप पानेके लिये उससे विशेष सम्बन्ध रखा या द्रविडगणके रूपमें उक्त संघके अन्तर्गत हो गया। बादमें यह द्रविड गण इतना प्रभावशाली हुआ कि उसे ही संघका रूप दे दिया गया और साथमें नन्दिसंघको नन्दिगणके रूपमें निर्दिष्ट किया गया।[५] दर्शनसारमें द्रविड संघको यापनीयोंके साथ जो जैनाभास कहा गया है, वह संभवतः इस ओर ही संकेत कर रहा है।[६]

अनेकों लेखोंमें प्राचीन प्रतिष्ठित आचार्योंको द्रविड संघ नन्दिसंघके अन्तर्गत समाविष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है। जैसे कुन्दकुन्द, भद्रबाहु, समन्तभद्र, सिंहनन्दि, अकलंकदेव, वज्रनन्दि व पूज्यपाद।[७]

---

१. जै० शि० सं० : भाग २ : लेख सं० २६९ व भाग ५ सं० १७
२. जै० शि० सं० : भाग २ लेख सं० १८५
३. जै० शि० सं० : भाग ३, प्रस्तावना पृ० ३६
४. जै० शि० सं० : भाग ३ क्र० १८८, १८९, १९०, १९२, २०२, २१४, २१५, २१६ आदि।
५. जै० शि० सं०, भाग २, सं० २१३, २१४
६. जै० शि० सं०, भाग ३, प्रस्तावना पृ० ३५
७. जै० शि० सं०, भाग २, सं० २१३, २१४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस संघके अन्तर्गत नन्दिसंघके साथ प्रत्येक लेखमें अरूङ्गलान्वयका उल्लेख मिलता है। अरूङ्गल नामका स्थान तामिल प्रान्तके गुडियपत्तन तालुकामें है। अरूङ्गलान्वयका अर्थ अरूङ्गलप्रदेशसे उद्भूत किया गया है।

ग्यारहवीं—बारहवीं शताब्दीमें द्राविड संघके मुनियोंकी गद्दियाँ कोङ्गाल्व राज्यके मल्लूर तथा शान्तर राजाओं की राजधानी हुम्मचमें थीं। हुम्मचसे प्राप्त लेखोंमें इस संघके अनेकों आचार्योंका परिचय मिलता है। इन लेखोंके अनुसार इस संघकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—मौनिदेव, विमलचन्द्र भट्टारक, कनकसेन, वादिराज। कनकसेनके शिष्य दयापाल, पुष्पसेन, वादिराज, श्रीविजय (पण्डित पारिजात) पुष्पसेनके शिष्य गुणसेन थे। गुणसेनके चार शिष्य श्रेयांसदेव, कमलभद्र अजितसेन (वादीभसिंह) कुमारसेन।[1]

अङ्गदिसे प्राप्त लेखमें मौनिदेव और विमलचन्द्र भट्टारकका द्रविड संघ कुन्दकुन्दानयके आचार्यके रूपमें उल्लेख है।[2] कनकसेन वादिराजका दूसरा नाम हेमसेन दिया गया है।[3] वादिराजका पूरा नाम श्री वर्द्धमान जगेदकमल्ल वादिराज है।[4]

वादिराजके अन्य सधर्माओंमें पुष्पसेन और श्रीविजय पण्डित थे। पुष्पसेनकी पादुकाओंकी स्थापनाका स्मारक लेख मूल्लूरसे प्राप्त लेखमें है, जिसमें उन्हें गुणसेन पंण्डितका गुरु कहा गया है।[5] गुणसेनके कई लेख मुल्लूरसे प्राप्त हुए हैं, जिसमें उन्हें कोङ्गाल्व नरेश राजेन्द्र चोलके कुलगुरु बताया गया है।[6] एक लेखमें इन्हें पोटसलाचारी लिखा है, जिससे होयसल राजाओं पर भी इनके प्रभावका संकेत मिलता है।[7] एक लेख इनके समाधिमरणका स्मारक है, जिसमें इन्हें द्रविडगण, नंदिसंघ, अरुङ्गलान्वयका नाथ तथा अनेक शास्त्रोंका वेत्ता लिखा है।[8]

श्री विजय पण्डितके सम्बन्धमें ज्ञात होता है कि वे अनेक प्रतिष्ठित आचार्योंके गुरु थे।[9] उनका दूसरा नाम वोडेयदेव या ओडेयदेव था, जो कि तियंगुडिके निडुम्बरे

---

१ जै० शि० सं०, भाग २, सं० २१३–२१६
२. जै० शि० सं०, भाग २, सं० १६६
३. जै० शि० सं०, भाग २, सं० २१३–२१५
४. जै० शि० सं०, भाग ३, सं० ३४७
५. जै० शि० सं०, भाग २, सं० १७७
६. जै० शि० सं०, भाग २, सं० १८८–१९२
७ जै० शि० सं०, भाग २, सं० २०१
८. जै० शि० सं०, भाग २, सं० २०२
९. जै० शि० सं०, भाग २, सं० २१३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीर्थ, अरुङ्गलान्वय, नन्दिगणके अधीश्वर थे। उन्हें तामेल्लरु (तमिलप्रांतीय) कहा गया है।[१]

श्रीविजयके शिष्योंमें श्रेयांसदेवको उर्त्रीतिलक जिनालयका प्रतिष्ठापक कहा गया है।[२] दूसरे शिष्य कमलभद्रका उल्लेख दो लेखोंमें है।[३] तीसरे शिष्य अजितसेन बड़े ही विद्वान् थे। उनकी चतुर्मुख, तार्किकचक्रवर्ती, वादीभसिंह, वादिघरट्ट एवं वादीभ-पंचानन आदि उपाधियाँ थीं।[४] कुछ अन्य लेखोंमें भी इनका विवरण है।[५]

हुम्मचके अन्य लेखोंसे इनकी अन्य आचार्यपरम्परा ज्ञात होती है। श्रीविजयके चार शिष्य थे। श्रेयांसदेव, अजितसेन, कुमारसेन तथा कमलभद्र। अजितसेनके तीन शिष्य—मल्लिषेण मलधारी, शान्तिनाथ तथा पद्मनाभ, मल्लिषेण मलधारीके तीन शिष्य—श्रीपाल, चन्द्रप्रभ और वादिराज। श्रीपालके वासुपूज्य व वादिराजके पुष्पसेन। वासुपूज्यके वृषभनाथ तथा मल्लिषेण पण्डित।[६]

द्राविडसंघ सेनगण

सन् ११६७ के उज्जिलिके लेखमें[७] द्राविड संघ–सेनगण–कौरुर गच्छके इन्द्रसेन आचार्यको मिले हुए भूमिदानका वर्णन है। द्राविडसंघके साथ सेनगणका सम्बन्ध बताने वाला यह प्रथम लेख है। कौरुर गच्छका सम्बन्ध सूरस्थ गणके साथ है। वज्रपाणि पण्डितको सूरस्थ गणसे सम्बद्ध बताया गया है। इससे प्रतीत होता है कि सेनगण व सूरस्थ दोनोंका ही द्राविड संघके साथ सम्बन्ध रहा है।

काष्ठासंघ

काष्ठासंघ अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। आचार्य देवसेनके दर्शनसारके अनुसार काष्ठा-संघकी उत्पत्ति जिनसेनके सतीर्थ्य विनयसेनके शिष्य कुमारसेन द्वारा वि० सं० ७५३ में हुई, जो नन्दितटमें रहते थे।[८] काष्ठासंघको मान्यताओंको बतलाते हुये उन्होंने कहा है कि काष्ठासंघी स्त्रियोंकी पुनः दीक्षा, क्षुल्लकोंको वीरचर्या, कर्कशकेशग्रहण तथा छठे अणुव्रतको मानते थे।

---

१. जै० शि० सं०, भाग २, सं० २१४
२. जै० शि० सं०, भाग २, सं० २१३।
३. जै० शि० सं०, भाग २, सं० २१४ व २१६।
४. जै० शि० सं०, भाग २, सं २१४ व २४८।
५. जै० शि० सं०, भाग २, सं० २२६, २४८।
६. जै० शि० सं०, भाग २, सं० २१३ व २१४
७. जै० शि० सं०, भाग ५, सं १०४।
८. दर्शनसार गाथा ३८

सत्तसए तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
णंदियडे वरगामे कट्टो संघो मुणेयव्वो॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इत्थीणं पुणदिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरिअत्तं।
कक्कसकेसग्गहणं छट्टं च अण्णुव्वदं णाम ॥[1]

पं० परमानन्दजी शास्त्रीके अनुसार दर्शनसारमें काष्ठासंघके संस्थापकका समय जो वि० सं० ७५३ बतलाया है, वह संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि विनयसेनके लघु गुरुबन्धु जिनसेनने जयधवला टीका शक सं० ७५९, (ई० सन ८३७) में बनाकर पूर्ण की है, अतः इसे वि० सं० न मानकर शक संवत् माननेसे संगति ठीक बैठ जाती है।[2]

प्रेमीजीने भी इस पर सन्देह करते हुए लिखा है कि दर्शनसारके अनुसार गुणभद्र-की मृत्युके पश्चात् विनयसेनके शिष्य कुमारसेनने काष्ठासंघकी स्थापना की। गुणभद्रने अपना उत्तरपुराण वि० संन् ९१५ के लगभग समाप्त किया है। इसीको मृत्युकाल मान लें तो काष्ठासंघकी उत्पत्ति डेढसौ वर्ष पीछे चली जाती है।[3] अतः दर्शनसारमें उल्लिखित काष्ठासंघकी उत्पत्तिके समयको सुनिश्चित नहीं कहा जा सकता।

पं० बुलाकीचन्द्र कृत वचन-कोश (वि० सं० १७३७) के अनुसार काष्ठासंघकी उत्पत्ति उमास्वामीके पट्टाधिकारी लोहाचार्य द्वारा अगरोहा नगरमें हुई और काठकी प्रतिमाकी पूजाका विधान करनेसे उसका नाम काष्ठासंघ पड़ा। कवि पामोने भी लोहाचार्यके द्वारा काष्ठासंघकी स्थापना तथा उसके चार गच्छ माने हैं।[4]

१९वीं २०वीं शताब्दीके लेखोंमें काष्ठासंघके अन्तर्गत लोहाचार्यान्वयका उल्लेख मिलता है। इस संघके प्रायः सभी लेख उत्तर और पश्चिम भारतमें ही प्राप्त हुए हैं। इस काष्ठासंघ तथा माथुरसंघका हो उत्तर भारतसे विशेष सम्बन्ध रहा है, अन्य संघ दक्षिण भारतसे ही सम्बन्ध रखते हैं। बाबू कामताप्रसादजीने इसकी उत्पत्ति स्थानसापेक्षिताके कारण मथुराके पास यमुनाके किनारे काष्ठा नामक ग्राममें मानी है।[5] विश्रुति है कि लोहाचार्यने ही अग्रवालोंको दिगम्बर जैनधर्ममें दीक्षित किया था,

---

१. दर्शनसार गाथा ३५।
२. पं० परमानन्द जी शस्त्री, जैनधर्मका प्राचीन इतिहास, भाग २, पृ० ६।
३. नाथूरामजी प्रेमी : जैन साहित्य का इतिहास (अमितगति) पृ० २७७
४. भट्टारक सम्प्रदाय, लेख सं० ७४७, पामोक्त भरतभुजबलिचरित।

श्रीकाष्ठांबरसंग गंग सम निर्मल कहिये।
क्षलित पाप-कलंकपंक गणधरमुनि सहिये।
लोहाचार्य वर मुनी गुणी बहु शास्त्रह ज्ञाता।
कलजुग जानी चार गछ थापे सुभे हाता।

५. सिद्धान्त भास्कर, भाग २, किरण ४ पृ. २८-९.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिन लेखोंमें अग्रवालोंका निर्देश है उनमें काष्ठासंघ और लोहाचार्यान्वयका भी निर्देश मिलता है।[१] अतः बुलाकीदासके कथनमें कुछ तथ्य प्रतीत होता है। दो लेखोंमें माथुरान्वय पुष्करगणके साथ कांचीसंघका भी उल्लेख प्राप्त होता है।[२] यह कांचीसंघ काष्ठासंघ ही हो सकता है।

काष्ठासंघका सर्वप्रथम शिलालेखीय उल्लेख दूबकुण्डसे प्राप्त लेखमें है। सन् १०८८ के लेखमें देवसेन—कुलभूषण-दुर्लभसेन-शान्तिषेण-विजयकीर्तिकी परम्परा प्राप्त होती है।[३] इससे सात वर्ष बादके एक अन्य लेखमें काष्ठासंघ महाचार्यवर्य देवसेनकी चरणपादुकाओंकी स्थापनाका निर्देश है।[४] चौदहवीं शताब्दीके पश्चात् इस संघकी अनेक परम्पराओंके उल्लेख मिलते हैं। भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिने,[५] जिनका समय संवत् १७४७ है, अपनी पट्टावलीमें कहा है कि काष्ठासंघमें नन्दितट, माथुर, बागड और लाडबागड ये चार प्रसिद्ध गच्छ हुए। सुरेन्द्रकीर्ति स्वयं नन्दितट गच्छके भट्टारक थे। दर्शनसारके अनुसार भी काष्ठासंघसे ही उसकी उत्पत्तिके दोसौ वर्ष पश्चात् माथुरसंघकी स्थापना हुई किन्तु माथुर, बागड़ और लाडबागड़के १२वीं सदी तकके जो उल्लेख मिलते हैं, उनमें उन्हें संघकी संज्ञा दी गयी है, तथा काष्ठासंघके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं बताया गया है।

माथुर संघके प्रसिद्ध आचार्य अमितगतिने सं० १०५० से १०७३ तक जो अनेक ग्रन्थ रचे हैं, उनकी प्रशस्तिमें माथुरसंघका तो यशोगान है किन्तु काष्ठासंघका कोई निर्देश नहीं है। इसी प्रकार लाडबागड़ संघके आचार्य जयसेनने संवत् १०५५में धर्मरत्नाकर ग्रन्थ रचा। इसी संघके दूसरे आचार्य महासेनने लगभग इसी समय प्रद्युम्नचरित रचा तथा संवत् ११४५में इसी गणके आचार्य विजयकीर्तिके उपदेशसे एक मन्दिर बनवाया गया। तीनोंने अपनी प्रशस्तियोंमें लाडबागड गणकी प्रशंसा तो की है किन्तु काष्ठासंघका कोई उल्लेख नहीं किया है। बागडसंघके आचार्य सुरसेनके उपदेशसे

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय : डॉ० विद्याधर जोहारापुरकर, लेख नं० ५५५, ५६०, ५७५, ५७६, ५७७, ५७८, ५९२, ५९३, ६१३, ६१५, ६१६, ६१८

२. लेख नं० ६३३, ६४०

३. लेख नं० २८८

४. लेख नं० २३५

५. काष्ठासंघो भुवि ख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ।
श्रीनन्दितटसंज्ञश्च माथुरो बागडाभिधः।
लाडबागड इत्येको विख्याताः क्षितिमण्डले।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिष्ठापित की गयी एक प्रतिमापर जो लेख मिलता है, उसमें भी काष्ठासंघका कोई उल्लेख नहीं है।[1] इस प्रतिमाका समय संवत् १०५१ है। बागडसंघके दूसरे आचार्य यशःकीर्तिने जगत्सुन्दरी-प्रयोगशाला नामक ग्रन्थ लिखा है। इसमें भी काष्ठासंघका कोई निर्देश नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि लगभग बारहवीं शताब्दी तक माथुर, लाडबागड और बागडका काष्ठासंघसे कोई सम्बन्ध नहीं था। बादमें ये तीनों काष्ठासंघमें अन्तर्भुक्त हो गये। डॉ० विद्याधर जोहरापुरकरके अनुसार बारहवीं शताब्दीमें चारों संघोंका एकीकरण संभवतः देवसेनने किया होगा, संवत् १५४५ में जिनकी चरणपादुकायें स्थापित की गईं।

परन्तु दर्शनसारमें बताये गये काष्ठासंघकी उत्पत्तिके काल (वि. सं. ७५३) को सही न भी मानें, तो इतना तो मानना ही होगा कि दर्शनासारके रचनाकाल अर्थात् वि.सं. ९९०में काष्ठासंघ अस्तित्वमें था। हाँ, यह कहा जा सकता है कि देवसेनके समय नन्दितटगच्छ ही काष्ठासंघ रहा होगा। तभी माथुर, बागड और लाडबागड गच्छको पूर्व उल्लेखोंमें संघ कहा गया है। इस नन्दितटगच्छ से, जिसे काष्ठासंघ कहते थे, मिलकर चारों गच्छ काष्ठासंघ कहलाने लगे हों।

नन्दितट गच्छ

इसकी उत्पत्ति नन्दितट (नांदेड) महाराष्ट्रमें हुई। दर्शनसारके अनुसार यही काष्ठासंघका उत्पत्तिस्थल है। हमारे अनुमानसे भी काष्ठासंघका मूल यही नन्दितट गच्छ है। परवर्ती कालमें माथुर, बागड, नन्दितटका सम्बन्ध दक्षिणसे है, अन्य तीन संघोंका उत्तर व पश्चिम भारतसे प्रतीत होता है। एक लेखमें इसका नाम मण्डिततट भी मिलता है।[2]

नन्दितटगच्छके विद्यागण तथा रामसेनान्वय नाम भी मिलते है। रामसेनने नरसिंहपुरा और उनके शिष्य नेमिषेणने भट्टपुरा जातिकी स्थापना की। रत्नकीर्तिके पट्टशिष्य लक्ष्मीसेनसे नन्दितटगच्छका वृत्तान्त उपलब्ध होता है। इनके दो शिष्यों-भीमसेन एवं धर्मसेनसे दो परम्परायें आरंभ हुईं। भीमसेनके पट्टशिष्य सोमकीर्ति हुए। आपने संवत् १५३२में वीरसेनसूरिके साथ एक शीतलनाथकी मूर्ति स्थापित की। संवत् १५३६में गोढ़िलीमें यशोधरचरितकी रचना की तथा संवत् १५४०में एक मूर्ति स्थापित की। आपने सुल्तानफिरोजशाहके राज्यकालमें पावागढ़में पद्मावतीकी कृपासे आकाशगमनका चमत्कार दिखलाया था।

सोमकीर्तिके बाद क्रमशः विजयसेन, यशःकीर्ति, उदयसेन, त्रिभुवनकीर्ति, रत्नभूषण, जयकीर्ति, केशवसेन भट्टारक हुए।

---

१. जै० शि० सं०, भाग ५, सं० २१

२. भट्टारक सम्प्रदाय : लेख सं० ११९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नन्दितटगच्छकी दूसरी परम्परा लक्ष्मीसेनके शिष्य धर्मसेनसे आरंभ होती है। इनके बाद क्रमशः विमलसेन, विशालकीर्ति, विश्वसेन, विजयकर्ति भट्टारक हुए। विजयकीर्तिके एक शिष्य विद्याभूषणके शिष्य श्रीभूषणने श्वेताम्बरोंको वादमें परास्त किया। श्रीभूषणके बाद क्रमशः चन्द्रकीर्ति, राजकीर्ति, लक्ष्मीसेन, इन्द्रभूषण तथा सुरेन्द्रकीर्ति भट्टारक हुए। सुरेन्द्रकीर्तिके तीन पट्टशिष्य थे—लक्ष्मीसेन, सकलकीर्ति और देवेन्द्रकीर्ति।[१]

माथुरगच्छ

माथुरगच्छके संस्थापक दर्शनसारके अनुसार रामसेन हैं। इन्हें ही निःपिच्छिक भी कहा गया है। माथुरान्वयके आचार्य छत्रसेनका नाम अर्थूणाके लेखसे मालूम होता है। यहाँ भी काष्ठासंघका उल्लेख नहीं है।[२] मसारसे प्राप्त तीन प्रतिमालेखोंमें इस संघके आचार्य कमलकीर्तिको माथुरान्वयी कहा गया है।[३] ग्वालियरसे प्राप्त दो लेखोंमें तोमरवंशोय नरेश डूंगरसिंह और उसके पुत्र कीर्तिसिंहके समय इस संघके कतिपय भट्टारकोंके नाम मिलते हैं। एक लेखमें भट्टारक गुणकीर्ति और उनके शिष्य यशःकीर्तिका उल्लेख मिलता है। साथमें प्रतिष्ठाचार्य पण्डित रइधूका।[४] भट्टारक यशःकीर्ति अपभ्रंशके पाण्डवपुराण और हरिवंशपुराण तथा चन्द्रप्रभचरितके रचयिता हैं। इन्होंने प्रसिद्ध कवि स्वयंभूके जीर्ण-शीर्ण हरिवंशपुराणका समुद्धार किया था। ये गुणकीर्ति भट्टारकके अनुज तथा शिष्य थे। यशःकीर्तिके शिष्य मलयकीर्ति व प्रशिष्य गुणभद्र हुए।[५] प्रतिष्ठाचार्य रइधू अनेकों ग्रन्थोंके रचयिताके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इस संघके दूसरे भट्टारकोंके नाम गुरुपरम्परापूर्वक मिलते हैं। वे हैं क्षेमकीर्ति हेमकीर्ति, विमलकीर्ति तथा क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति, कमलकीर्ति एवं रत्नकीर्ति।[६] माथुरगच्छ पुष्करगच्छ का उल्लेख करने वाला सं० १८८१का एक लेख पभोसा (कौशाम्बी) से प्राप्त हुआ है, जिसमें भट्टारक जगतकीर्ति और उनके शिष्य ललितकीर्तिका निर्देश है।

माथुर संघके आचार्य अमितगति द्वितीयने अपनी जो गुरुपरम्परा दी है, वह इन्हीं अमितगतिसे शुरू की है। वे हैं अमितगति द्वितीय, शान्तिषेण, अमरसेन, श्रोषेण, चंद्रकीर्ति

---

१. विशेष विवरणके लिये देखिये, भट्टारक सम्प्रदाय।
२. जै० शि०, भाग ३, ३०५ क
३. वही, भाग ३ लेख नं० ५८६
४. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखसंख्या ६३३।
५. जै० साहित्य और इतिहास, पं० नाथूराम प्रेमी, पृ० ५३५।
६. जै० शि०, भाग ३, सं० ६४३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं अमरकीर्ति। अमरकीर्तिकी रचनायें सं० १२४४ से १२४७ तककी उपलब्ध हैं। इन्हीं अमरकीर्तिके शिष्य इन्द्रनन्दिने वि०सं० १३१५ में हेमचन्द्रके योगशास्त्रकी टीका बनाकर समाप्त की है। इससे स्पष्ट है कि काष्ठासंघके माथुरसंघकी यह परम्परा १०१५ से १३१५ तक चलती रही है। इसके बाद इसी परम्परामें उदयचन्द्र, बालचन्द्र और विनयचन्द्र हुए। इन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा अपभ्रंश साहित्यको वृद्धिंगत किया है।

बागड गच्छ

बागड गच्छके दो लेख प्राप्त होते हैं। कटोरिया (राजस्थान) से प्राप्त सन ९९५ के मूर्तिलेखमें आचार्य सुरसेनका उल्लेख है।[1] सन् १००४के अजमेर संग्रहालयके मूर्ति-लेखमें आचार्य धर्मसेनका उल्लेख है।

लाडबागड गच्छ

लाड (गुजरात) और वागड दोनों मिलाकर गच्छ हुआ। जयसेनके मतसे इस संघका आरम्भ मेदार्यकी उग्र तपश्चर्यासे हुआ, जो खण्डिल्ल ग्रामके पास निवास करते थे। इनकी गुरु-परम्परा धर्मसेन, शान्तिषेण, गोपसेन, भावसेन, जयसेन इस प्रकार थी। बादमें इसका प्रभाव मालवा और धाराके आसपासके क्षेत्रोंमें रहा है। इससे सम्बन्धित एक लेख दूबकुण्डसे प्राप्त हुआ है। इस शाखाके देवसेन, कुलभूषण, दुर्लभसेन, शान्तिषेण एवं विजयकीर्ति नामक आचार्योंके नाम गुरु-शिष्यपरम्परासे दिये हुए हैं।[2]

आचार्य महासेनने प्रद्युम्नचरितकी रचना की। वे मुंजराज तथा सिन्धुलके मन्त्री पर्पट द्वारा सम्मानित हुए थे। जयसेन–गुणाकरसेन–महासेन यह इनकी गुरु-परम्परा थी।

महेन्द्रसेनने त्रिषष्टिशलाकापुरुषकी रचना की तथा मेवाडमें क्षेत्रपालको उपदेश देकर चमत्कार प्रदर्शित किया। अनन्तकीर्तिके शिष्य विजयसेनने वाराणसीमें पांगुल हरिश्चन्द्र राजाकी सभामें चन्द्र तपस्वीको पराजित किया। इनके शिष्य चित्रसेनके समयसे इस संघका 'पुन्नाट' यह नाम लुप्तप्रायः हो गया। इनके पट्टशिष्य पद्मसेन हुए। पद्मसेनके शिष्य नरेन्द्रसेनने शास्त्रविरुद्ध उपदेश करने वाले आशाधरका अपने संघसे बहिष्कार किया। पद्मसेनके बाद क्रमशः त्रिभुवनकीर्ति और धर्मकीर्ति भट्टारक हुए। धर्मकीर्तिके तीन शिष्य हुये हेमकीर्ति, मलयकीर्ति, व सहस्रकीर्ति। दिल्लीके शाह पेरुने सं०१४९२ में श्रुतपंचमीके उद्यापनके निमित्त मूलाचारकी एक प्रति मलयकीर्तिको अर्पित की। मलयकीर्तिने एलदुग्गके राजा रणमलको उपदेश देकर

---

१. जै० शि० भाग ४ क्र० २१।

२. भट्टारक सम्प्रदाय सं. २२८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तरसुंबामें मूलसंघका प्रभाव कम कर शान्तिनाथकी विशालमूर्ति स्थापित की थी। मलयकीर्तिके पट्टशिष्य नरेन्द्रकीर्तिके आकाश मार्गसे गमनका उल्लेख मिलता है। नरेन्द्रकीर्तिके शिष्य प्रतापकीर्तिकी पिच्छी चामरकी थी। इनके शिष्य त्रिभुवतकीर्ति हुए।

पुन्नाटसंघ

शिलालेखोंमें सन् ११५४ के सुलतानपुरके आसपासके मूर्तिलेखोंमें आचार्य अमृतचन्द्रके शिष्य विजकीर्तिको पुन्नाट गुरुकुलका कहा गया है।[1] इसके अतिरिक्त पुन्नाटसंघीय दो आचार्य हैं, प्रथम हरिवंशपुराणके रचयिता जिनसेन (शक सं० ७०५) और द्वितीय बृहत्कथाकोशके प्रणेता हरिषेण। दोनोंने ही अपने ग्रन्थकी रचना वर्द्धमानपुरमें की है और दोनोंने ही अपनेको पुन्नाटसंघी घोषित किया है। आचार्य हरिषेणने बृहत्कथाकोशकी रचना यापनीय ग्रन्थ भगवती आराधनाकी गाथाओंको आधार बनाकर की है। इसके अतिरिक्त दोनों ग्रन्थोंमें कुछ ऐसे तथ्य मिलते हैं जिनका दिगम्बर परम्परासे विरोध है।[2]

पुन्नाट-संघको काष्ठासंघका उपभेद लाडबागड माना गया है। एक लेखमें स्पष्ट कहा गया है—"ततः पुन्नाटगच्छ इति भांडागारे स्थितं लोके लाटवर्गटनामाभिधानं पृथिव्यां प्रथितं प्रकटीबभूव[3]।" प्रेमीजीका कथन है कि "जान पड़ता है कि पुन्नाट (कर्नाटक) से बाहर (काठियावाड़) जाने पर ही यह संघ पुन्नाटसंघ कहलाया, जिस तरह कि आजकल जब कोई एक स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानमें जा रहता है, तब वह पूर्वस्थानवाला कहलाने लगता है।[4] हमें भी यही प्रतीत होता है कि जैसे कर्नाटकसे गुजरात आने पर ये पुन्नाटसंघीय कहलाये उसी प्रकार गुजरात और बागड़ (लाडबागड़) से धारा और मालवा पहुँचने पर इनके गच्छको लाडबागड कहा गया।

हमारी दृष्टिसे भी काष्ठासंघका यह पुन्नाट गच्छ आचार्य जिनसेन और हरिषेणके पुन्नाट संघका ही परवर्ती रूप है। परन्तु काष्ठासंघमें इसका अन्तर्भाव आचार्य जिनसेन और हरिषेणके बाद ही हुआ होगा। पहले यह स्वतंत्र संघ रहा होगा, तभी उक्त दोनों आचार्योंने काष्ठासंघका उल्लेख नहीं किया है।

बृहत्कथाकोषके कुछ उल्लेखोंमें स्त्रीमुक्ति,[5] गृहस्थमुक्ति,[6] स्त्रीके तीर्थंकर

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ५, क्रमांक ९८

२. देखिए, तीसरा अध्याय–"पुन्नाटसंघीय दो आचार्य"।

३. भट्टारक सम्प्रदाय लेख सं० ६३१।

४. जैन साहित्य और इतिहास पृ० १२२।

५. कथा ५७ श्लोक २३५।

६. कथा ५७ श्लोक ५६७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नामगोत्रबंध करनेका विधान ।[१] है। यहीं एणिकापुत्रके गंगा पार करते समय समाधिमरण कर मोक्ष जानेका वर्णन है ।[२] हरिवंशपुराणमें भी कुछ उल्लेख विचारणीय हैं। राजा जितशत्रुका अपनी पुत्री यशोदाका भगवान महावीरसे विवाहके लिए उत्सुक होना ।[३] नैगमदेव द्वारा संतान-परिवर्तन, ।[४] नन्दिषेण मुनि द्वारा रोगी मुनिको गोचरी वेलामें सिद्धियोंके बलसे आहार लाकर देना ।[५] नारदकी मोक्षगति ।[६]

इन उल्लेखोंसे पुन्नाट संघ हमें यापनीय संघ प्रतीत होता है। यही पुन्नाट संघ जब पुन्नाट गच्छके रूपमें काष्ठासंघमें अन्तर्भावित हुआ, तब अपने विचारोंसे इसने उसे भी प्रभावित किया। काष्ठासंघकी मान्यताओंका निर्देश करते हुए हम कह आये हैं कि दर्शनसारमें कहा गया है कि वे स्त्रियोंकी पुनः दीक्षा, क्षुल्लकोंकी वीरचर्या, कर्कशकेशग्रहण तथा छठा अणुव्रत मानते थे।

"इत्थीणं पुण दिक्खा" का अर्थ दर्शनसारके वचनिकाकारके अनुसार छेदोपस्थापना है। इनके अनुसार मूलसंघमें स्त्रियोंको छेदोपस्थापना नहीं बतायी गयी है, पर काष्ठासंघके प्रवर्तकोंने उन्हें छेदोपस्थापना बताई है। इसके लिये उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्दके षट्पाहुड़की गाथा भी उद्धृत की है। षट्पाहुडकी टीकामें श्रुतसागरसूरिने भी कहा है, गोपुच्छिक स्त्रियोंको छेदोपस्थापनाकी आज्ञा देते हैं। छेदोपस्थापनाका अर्थ है प्रायश्चित्त कर लेने पर पुनः दीक्षा प्राप्त करना।

क्षुल्लकोंकी वीरचर्याका समर्थन लाटीसंहितासे होता है। लाटीसंहिता में एकादशप्रतिमाधारी श्रावकके विषयमें कहा गया है कि एकादशप्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक ईषत्मुनि और कर्म-निर्जराका स्वामी होता है। उत्कृष्ट श्रावकके दो भेद हैं ऐलक व क्षुल्लक। इन दोनों प्रकारके श्रावकोंमें जो ऐलक हैं, वह केवल कोपीनमात्र वस्त्रको धारण करता है। पुस्तक आदि उपधि धारण करता है। दाढ़ी, मूंछ व मस्तकके केश लुंचन करता है। पीछी कमण्डलु धारण करता है। सावद्य वस्तु ग्रहण नहीं करता है। कोपीनके अतिरिक्त समस्त क्रियायें मुनिके समान होती हैं। ऐलक दुर्धर व्रतोंको

---

१. कथा १०८, श्लोक १२५ ।
२. कथा १३०, श्लोक ९ ।
३. पर्व ६६, श्लोक ८ ।
४. पर्व ३५, श्लोक ४ ।
५. पर्व १८, श्लोक १६४ ।
६. ह० पु० ६५।२४ व ४२।१३ और २२ ।

५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धारण करता है। चैत्यालय, संघ तथा वनमें मुनिके समीप रहता है। दोपहरसे कुछ पूर्व आहारके लिये ईर्यापथशुद्धिसे नगरमें जाता है तथा घरोंकी संख्याका नियम लेकर जाता है। पाणि-पात्र भोजी होता है। निर्व्याजसे मोक्षकारणभूत उपदेश देता है। द्वादशविध-तपश्चरण करता है और किसी व्रतमें दोष लग जाने पर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है।[1]

माथुरसंघीय आचार्योंने तो क्षुल्लकोंकी वीरचर्याका स्पष्ट निषेध किया हैं।[2] इससे प्रतीत होता है कि क्षुल्लकोंकी वीरचर्याकी मान्यता माथुरसंघको छोड़कर शेष काष्ठासंघ अर्थात्, नन्दितट, बागड़ तथा लागवागड़ गच्छकी थी।

रात्रिभोजनविरमणको पूज्यपाद, अकलंक आदि आचार्योंने अहिंसाव्रतकी आलोकित–भोजन-पान भावनामें अन्तर्भूत किया है।[3] यापनीय तथा काष्ठासंघी आचार्योंने इसका पृथक् छठे अणुव्रतके रूपमें उल्लेख किया हैं।[4]

डॉ० चौधरीका यह अनुमान वुद्धिको लगता है कि यापनीयोंके संघ परवर्ती कालमें मूलसंघ, द्राविड़संघ आदि अन्य दिगम्बर सम्प्रदायोंमें अन्तर्भुक्त हो गये हैं, क्योंकि यह पुन्नाट संघ लाडबागड़ देशमें पहुँचकर लाड़बागड़ गच्छके रूपमें विश्रुत हुआ जैसा कि कह चुके हैं कि यह कवि पामोके भुजबलिचरितसे प्रकट है।[5] लाड़बागड़ गच्छ काष्ठासंघमें अन्तर्भुक्त हुआ है, यह भट्टारक सुरेन्द्रकीर्तिकी पट्टावली में कहा गया है।[6] स्त्रियोंकी पुनः दीक्षा जो काष्ठासंघकी विशेषता बतायी गयी है, संभवतः उसका कारण उस संघमें अन्तर्भुक्त यापनीय संघ हो, क्योंकि यापनीय संघ स्त्रीमुक्तिका समर्थक रहा है। साथ ही क्षुल्लकोंकी वीरचर्यामें भी यही गृहस्थोंके

---

१. लाटीसंहिता, सर्ग ६, श्लोक ५६–६२।
२. सागारधर्मामृत ७।५० तथा ८।३६।
३. ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यानम्। न; भावनास्वन्तर्भावात्। सर्वार्थसिद्धि ७।१
स्यान्मतमिह रात्रिभोजनवर्जनाख्यं तु षष्ठमणुव्रतमालोकितपानभोजनभावना-रूपमग्रे वक्ष्यते।—राजवार्तिक।
४. मूलाचार ५।९८, भगवती आराधना गा० ११७९, विजयोदया, पृ० ३३० तथा मूलाराधनादर्पण ६।११८५–८।
५. भट्टारक संप्रदाय, लेखांक ६३१।
६. भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० २९३–४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रति उदारभावना काम कर रही है। रात्रिभोजनविरमणको छठा व्रत मानना तो स्पष्टतया यापनीय मान्यता है।[1]

पुन्नाट संघके विषयमें प्रेमीजीका कथन है कि "पुन्नाट संघका सुदूर कर्नाटक-से चलकर काठियावाड़में पहुँचना और वहाँ दो सौ वर्ष तक रहना एक असाधारण बात है। इसका सम्बन्ध दक्षिणके चौलुक्य और राष्ट्रकूटोंसे ही जान पड़ता है, जिनका शासन काठियावाड़में बहुत समय तक रहा है।[2]

ध्यातव्य है कि यापनीयोंको चालुक्य तथा राष्ट्रकूट राजाओंका संरक्षण प्राप्त रहा है, अतः इससे भी इस संभावनाको बल मिलता है कि पुन्नाटसंघ उत्तरभारत (काठियावाड़) में आकर काष्ठासंघके सम्पर्कमें आया तथा लाड़बागड़ अथवा पुन्नाट-गच्छके रूपमें काष्ठासंघमें अन्तर्भुक्त हो गया।

लाड़बागड़गच्छीय आचार्य जयसेनने लाड़बागड़ गच्छका आरम्भ मेदार्य मुनिकी उग्र तपस्यासे माना है। मेदार्य मुनिकी यह उग्र तपस्या भी श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रसिद्ध है। भगवती-आराधनामें इसका उल्लेख है। यह भी इसका परोक्ष संकेत है कि यापनीय पुन्नाटसंघ ही परवर्तीकालमें पुन्नाटगच्छ अथवा लाड़बागड़ गच्छके रूप-में काष्ठासंघमें अन्तर्भुक्त हुआ। डॉ॰ जोहरापुरकरने भी यापनीय पुनांगवृक्षमूलगण-को पुन्नाटसंघका ही एक रूपान्तर होनेकी संभावना व्यक्त की है।[3]

यद्यपि हरिवंशपुराणमें केवली-कवलाहारका विरोध प्राप्त होता है, जो यापनीयों के विरुद्ध है, पर इसका कारण यापनीयोंका दिगम्बर संप्रदायमें विलीनीकरण हो जानेके उपरांत दिगम्बर आचार्यों द्वारा किया गया संशोधन तथा प्रक्षेपण हो सकता है। हमारा यह कथन निराधार नहीं है। भगवती आराधनाके प्रक्षेपके विषयमें विजयोदया-सहित भगवती आराधनाके सम्पादक पं॰ कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीका कथन द्रष्टव्य है— "विजयोदयाके अध्ययनसे प्रकट होता है कि उनके सामने टीका लिखते समय जो मूलग्रन्थ था उसमें और वर्तमान उपलब्ध मूलमें अन्तर है।[4] स्वयंभूके रिट्ठणोमिचरिउ-के अन्तिम अंशमें मुनि जसकित्तिने भी हाथ लगाया है।[5] तिलोयपण्णत्तिमें मिलावट-को भी विद्वानोंने प्रमाणपुरस्सर सिद्ध किया है।[6]

---

१. विशेषके लिए देखिए, इसी ग्रन्थके चौथा अध्यायका "रात्रिभोजनविरमणव्रत"।
२. जैन साहित्यका इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ॰ १२१।
३. भट्टारकसम्प्रदाय, पृ॰ २५७-२६०।
४. भगवती आराधना, भाग १, प्रस्तावना, पृ॰ ९।
५. जैन साहित्य और इतिहास, पं॰ नाथूरामजी प्रेमी, पृ॰ २०२।
६. वही, पृ॰ ११ और आगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कित्तूर संघ

श्रवणेवलगोलके एक शिलालेखमें कित्तूर नामके संघका उल्लेख है।[1] कित्तूर या कीर्तिपुर पुन्नाटकी राजधानी थी, जो इस समय मैसूरके होग्गडेबन्कोटे तालुकेमें है। प्रेमीजीके अनुसार यह कित्तूर संघ या तो पुन्नाटसंघका ही नामान्तर होगा या उसकी एक शाखा।[2]

भट्टारक-सम्प्रदाय

दिगम्बर संघोंका विवरण प्रस्तुत करते हुए भट्टारक सम्प्रदायका उल्लेख भी प्रासंगिक है। यद्यपि यह कोई पृथक संघ न होकर शिथिलाचारको प्रोत्साहित करने वाली परम्परा विद्यमान रही है। सभी संघोंमें यह परम्परा विद्यमान रही है।

डॉ० विद्याधर जोहरापुरकरने जैन समाजके इतिहासमें तीन कालखण्ड माने हैं। भ० महावीरके निर्वाणके करीब ६०० वर्ष तक जैन समाज विकासशील था। जैन सिद्धान्तोंके प्रसार व विकासके लिए जैन मुनि निरन्तर भ्रमणका अवलम्बन लेते रहे। इस समय तपश्चर्याके नियम भगवान द्वारा उपदिष्ट आदर्शके निकट थे।

दूसरी शताब्दीसे जैन-समाज व्यवस्थाप्रिय होने लगा। मठ, मंदिरोंका निर्माण वेगसे हुआ। यह काल भी ६०० वर्ष तक चला।

तृतीय कालखण्डमें विकास व व्यवस्थाकी प्रवृत्तियाँ पीछे रह गईं और आत्म-संरक्षणकी प्रवृत्तिको ही प्राधान्य मिलने लगा। इसी प्रवृत्तिके फलस्वरूप साधुसंघोंमें भट्टारक सम्प्रदाय उत्पन्न हुए और बढ़े।

श्रुतसागरसूरिने वसन्तकीर्तिके द्वारा मण्डपदुर्ग (मांडलगढ़) (राजस्थान) में यह प्रथा आरंभ की गई, माना है।

भट्टारकोंकी विशिष्ट आचरण-पद्धतियाँ धीरे-धीरे बहुत पहलेसे ही अस्तित्वमें आ चुकी थीं। शिथिलाचारकी प्रवृत्ति तथा संहननकी मंदताने चैत्यवासकी ओर प्रेरित किया। चैत्यवासकी यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि रत्नमालामें कलिकालमें वनवास-को वर्जित ही बता दिया गया।[3]

दिगम्बर सम्प्रदायमें भट्टारक प्रथाका आरंभ वस्त्रग्रहणका आरम्भ है। तात्त्विक दृष्टिसे नग्नता आवश्यक मानकर भी व्यवहारमें वस्त्रका उपयोग भट्टारकोंके लिए समर्थनीय माना गया। दिगम्बर भट्टारक नग्नमुद्राको पूज्य मानते थे। आहारादिके समय उसे धारण भी करते थे। स्नानको भी वर्जित नहीं मानते थे।

---

१. जै० शि० सं०, भाग १, सं० १९४।
२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ११४।
३. शिवकोटिकृत रत्नमाला, श्लोक नं० २२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मठाधीश होकर पीठ स्थापित करते थे तथा उस प्रचुर सम्पदाके उत्तराधिकारी होते थे।

प्रेमीजीके अनुसार देवसेनने दर्शनसारमें जो काष्ठासंघ, माथुरसंघ और द्राविड़संघको जैनाभास बताया है, उसका कारण इनका मठाधीश होना ही है, अन्यथा इनका मूलसंघसे ऐसा कोई विशेष भेद नहीं है; जिसके आधारपर इन्हें मिथ्यात्वी कहा जा सके।

यद्यपि पाँचवीं शताब्दीसे ही मूलसंघीय मुनियोंको दान दिये जानेके विवरण मिलते हैं, इस स्थितिमें भी देवसेनने जो अन्य संघोंको जो जैनाभास कहा है, उसका कारण यह हो सकता है कि देवसेनाचार्यने पूर्वाचार्योंकी गाथायें संग्रहीत की हैं। उस समय मूलसंघके साधुओंमें चैत्य स्थिति नहीं थी।[1]

भट्टारकप्रथाके प्रभावसे कोई भी दिगम्बर संघ अप्रभावित नहीं रहा, सभी संघोंमें इसे पर्याप्त प्रोत्साहन मिला।

वस्त्रके अतिरिक्त भट्टारकोंको दूसरा विशिष्ट आचरण मठ और मंदिरोंका निवास-स्थानके रूपमें निर्माण और उपयोग था। इसीके अनुषंगसे भूमिदानको स्वीकार कर खेती आदिको व्यवस्था भी भट्टारक देखने लगे थे। इन कारणोंसे भट्टारकोंका स्वरूप साधुत्वसे अधिक शासकत्वकी ओर झुका। वे राजाके समान ही छत्र, चँवर, पालकी, बहुमूल्य वस्त्र, गद्दे, स्वर्णमण्डित कमण्डल-पिच्छि आदि रखने लगे। अधिकारक्षेत्रका रक्षण भी आग्रहपूर्वक करने लगे।

साधुत्वके कारण भट्टारकोंका आवागमन भारतके प्रायः सभी भागोंमें होता था। इनके पीठ भी भारतके अनेक स्थानों पर मिलते हैं। दक्षिणमें मूडबिद्री, श्रवणबेलगोल, कारकल, हुंमच इन स्थानोंमें पीठ स्थापित हुये। महाराष्ट्रमें मलखेड बलात्कारगणका पीठ था। इसकी दो शाखायें कारंजा और लातूरमें स्थापित हुईं। कारंजामें सेनगण और लाडवागडके भी पीठ थे। गुजरातमें सूरत बलात्कारगणका और सौजित्रा नन्दितटगच्छका केन्द्र था। समुद्रतटवर्ती इलाकोंमें नवसारी, भडौंच, जांबूसर, घोघा आदि स्थानोंमें भट्टारकोंका अच्छा प्रभाव था। उत्तर गुजरातमें ईडरका पीठ महत्त्वपूर्ण था। धारामें सागवाड़ा और अटेरके पीठ स्थापित हुये। ग्वालियर और सोंनागिरि माथुरगच्छ और बलात्कारगणके केन्द्र थे। राजस्थानमें नागौर, जयपुर, अजमेर, चित्तौड़, भानुपुर और जेरहट आदि स्थानोंमें बलात्कारगणके केन्द्र थे। हिसारमें माथुरगच्छका प्रधान पीठ था। दिल्लीमें भी भट्टारकोंकी गद्दी रही है। आराके समीप मसाढ़में काष्ठासंघके कुछ उल्लेख मिलते हैं। पूर्व भारतसे भट्टारकोंकी गद्दीका प्रायः कोई स्थायी सम्बन्ध न था।

---

१. जैन साहित्यका इतिहास : द्वितीय संस्करण, पृ० ४८६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भट्टारकोंके जीवनका सबसे अधिक विस्तृत कार्य मूर्ति और मंदिरोंकी प्रतिष्ठा थी। समाजको धर्ममें स्थिर रखनेके लिए प्रतिष्ठोत्सवको धार्मिकसे अधिक सामाजिक रूप प्राप्त हुआ। मूर्ति-प्रतिष्ठा के साथ यंत्रोंकी प्रतिष्ठा भी इस कालकी विशेष-निर्मिति है। सभी धर्मतत्वोंको मूर्तरूपमें बाँधनेकी प्रवृत्ति ही इस यंत्रप्रतिष्ठाका मूलभूत कारण है। यक्ष-यक्षणियोंको स्वतन्त्र मूर्तियोंका भी निर्माण हुआ।

इस युगमें मौलिक साहित्यके निर्माणकी प्रवृत्ति छूट गयी थी और पूर्व ग्रन्थोंके संक्षेप और रूपान्तर अधिक हुये हैं। संस्कृतके तीन जैन बड़े पुराण-हरिवंश, पद्म और महापुराणके आधारपर पुराण और कथायें लिखी गयीं। पूजा-पाठकी रचना अधिक मात्रामें हुई। प्राचीन हस्तलिखित और ताड़पत्रीय ग्रन्थोंकी पाण्डुलिपियोंकी रक्षा भट्टारकोंके कार्यका श्रेष्ठ अंग है। शिष्यपरम्पराका विस्तार और जातिसंघटना भट्टारकोंका ही कार्य है। तीर्थक्षेत्रोंकी यात्रा और व्यवस्था मध्ययुगीन जैन समाजके धार्मिक जीवनके प्रमुख अंग थे। भट्टारकोंने यात्रायें भी कीं और उनकी व्यवस्था भी की। चमत्कारप्रदर्शन कर जनताको प्रभावित किया। मूर्तिप्रतिष्ठाके साथ ही आवश्यक होनेसे मंदिरोंमें अंकित व उपयोगी शिल्पकला, चित्रकला और संगीतकलाको प्रोत्साहन मिला।

भट्टारक-सम्प्रदायका इतिहास जैन समाजकी मुख्यतः मुनि-आचारकी अवनतिका इतिहास है, वहाँ समाजको धर्ममें स्थिर रखनेका भी महत्वपूर्ण इतिवृत्ति है। वादिराज, धर्मभूषण तृतीय, सोमदेव, शुभचन्द्र, सकलकीर्ति और प्रतिष्ठाचार्य जिनचन्द्र जैसे भट्टारकोंके साहित्यसर्जन एवं ऐतिहासिक महत्वको भुलाया नहीं जा सकता।

यापनीय संघ

यापनीय संघका सामान्य परिचय प्रथम अध्यायमें आ चुका है। यहाँ उसके विशिष्ट शिलालेखीय उल्लेखोंके आधार पर अन्य संघोंके साथ सम्बन्ध बतानेका उपक्रम किया गया है। यापनीय संघका उल्लेख करने वाले अनेक लेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे इनके गणों एवं गच्छोंका परिचय मिलता है। यह सम्प्रदाय बड़ा ही राजमान्य था और लम्बे समय तक अस्तित्वमें रहा। कदम्ब, चालुक्य, गंग, राष्ट्रकूट और रट्ट वंशके राजाओंने इस संघको और इसके साधुओंको अनेक भूमि आदि दान दिये थे।

यापनीय संघके विवरणोंसे व लेखोंसे इस संघके कुमुदिगण, पुन्नागवृक्षमूल, कारेय, कनकोपलसंभूतवृक्षमूल, कोटिमडुव, कण्डूर, वन्दियूर गण तथा नन्दिसंघका पता चलता है।

कदम्ब वंशके प्रारम्भिक राजाओंके कालमें यह संघ बड़ा प्रभावपूर्ण था। कदम्ब नरेश मृगवेशवर्मा (सन् ४७०–९०) ने पलासिका नामक स्थानमें इस संघको निर्ग्रन्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और कूचंक संघोंके साथ भूमिदान द्वारा सत्कृत किया था।[1] मृगेशवर्माके पुत्र रविवर्माने यापनीय संघके प्रमुख आचार्य कुमारदत्तको पुरुखेटक ग्राम दानमें दिया था।[2] कृष्णवर्माके पुत्र देववर्माने भी विभिन्न यापनीय संघोंको कुछ क्षेत्र दानमें दिया था।[3]

नन्दि संघ

यापनीय सम्प्रदायमें नन्दिसंघ प्राचीन एवं प्रमुख था। इस संघके आचार्योंके नाम विशेषतः नन्द्यन्त और कोर्त्यन्त होते थे।[4] देवरहल्लिके शिलालेखमें श्रीमूलमूलगणसे अभिनन्दित नन्दिसंघान्वयके एरेगित्तूर नामक गण तथा पुलिकल् गच्छका उल्लेख है। यहाँ यापनीय संघका नाम नहीं है। इस गच्छकी परम्पराके चन्द्रनन्दि, कुमारनन्दि, कीर्तिनन्दि, विमलचन्द्राचार्यका उल्लेख है।[5] कडवके लेखमें श्रीयापनीय नन्दिसंघ, पुन्नागवृक्षमूलगण, श्रीकित्याचार्यान्वयका उल्लेख है। इसकी परम्परा इस प्रकार है—कूविलाचार्य, विजयकीर्ति, अर्ककीर्ति। इसके अनुसार राष्ट्रकूट राजा प्रभूतवर्षने जालमंगल नामक गाँव अर्ककीर्तिको भेंट दिया।[6] मदनूरके लेखमें यापनीय संघके कोटिमडुवगण तथा नन्दिगच्छका उल्लेख है। गणधरके सदृश जिननन्दि मुनीश्वरके शिष्य दिवाकराख्य मुनि थे, जो मानों केवलज्ञाननिधि तथा गुणोंसे स्वयं जिनेन्द्रके सदृश थे। उनके शिष्य श्रीमान्दिरदेव हुए।[7] इस लेखके अनुसार पूर्वी चालुक्यवंशके अम्म द्वितीयने जैनमन्दिरके लिये मलियपुण्डी (आन्ध्र) ग्रामका अनुदान दिया था। यह नन्दिसंघ वृक्षमूलपरक गणोंसे सम्बन्धित है।

पुन्नागवृक्षमूलगण

पुन्नागवृक्षमूलगणका सर्वप्रथम उल्लेख राष्ट्रकूट राजा प्रभूतवर्षके समयका कडबका उपर्युक्त दानपत्र है। इसके उपरान्त सन् १०२० के रढवग् लेखमें यापनीय संघ पुन्नागवृक्षमूलगणके प्रसिद्ध उपदेशक आचार्य कुमारकीर्ति पण्डितदेवका उल्लेख

---

१. जै० शि० सं० भाग २, सं० ९९।
२. वही, सं० १००।
३. वही, सं० १०५।
४. वही, सं० १२४।
५. जैन० शि० सं०, भाग २, सं० १२१।
६. वही, सं० १२४।
७. वही, सं० १४३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है।[1] सन् १०२८के होसुर (धारवाड़) के लेखमें यापनीयसंघ पुन्नागवृक्षमूलगणके गुरु जयकीर्तिका उल्लेख है।[2]

हूलिका विवरण दो भागोंमें उपलब्ध हैं। प्रथम विवरणमें यापनीय संघ पुन्नागवृक्षमूलगणके बालचन्द्र भट्टारकदेवका उल्लेख है तथा दूसरेमें रामचन्द्रदेवका विशेष उल्लेख है।[3]

कोल्हापुरके शिलाहारवंशीय बल्लालदेव और गण्डारादित्यके समयमें ११०८ ई० में मूलसंघ पुन्नगवृक्षमूलगणकी आर्यिका रात्रिमती कन्तिकी शिष्या बम्मगवुण्डने मंदिर बनवाया था, जिसके लिये अनुदानका उल्लेख होन्नुर लेखमें विद्यमान है।[4]

१२वीं शताब्दीके असिकेरे (मैसूर) के लेखमें मूर्ति प्रतिष्ठा करनेवाले पुन्नागवृक्षमूलगण यापनीय संघके माणिकसेट्टिका उल्लेख है।[5] कगवाड़ (बेलगाँव) के तलघरमें भगवान् नेमिनाथके पीठिकालेखमें यापनोयसंघ पुन्नागवृक्षमूलगणके साधुओंमें नेमिचन्द्र, धर्मकीर्ति और नागचन्द्रके नाम भी उल्लिखित हैं।[6] कोल्हापुरके मंगलवार पेठ मदिरमें कन्नड लेखमें यापनीय संघ पुन्नागवृक्षमूलगणके विजयकीर्तिके शिष्य रवियण्णके भाई द्वारा पाठशाला बनवाये जानेका उल्लेख है।[7] एकसाम्बि (बेलगाँव) में यापनीय संघ पुन्नागवृक्षमूलगणके महामंडलाचार्य विजयकीर्तिको दान दिये जानेका उल्लेख है।[8]

त्रिभुवनमल्लके शासनमें १०९६ ई० के दोणि (धारवाड़) के विवरणमें यापनीय संघ वृक्षमूलगणके मुनिचन्द्र त्रैविद्यभट्टारकके शिष्य चारुकीर्ति पण्डितको उपवन दानका उल्लेख है।[9]

शिर 'जमखंडि' विवरणसे ज्ञात होता है कि पार्श्वनाथ भट्टारककी प्रतिमा कुसुम जिनालयके लिए यापनीय संघ और वृक्षमूलगणके कालसेट्टिने भेंट की थी।[10]

---

१. जर्नल ऑफ द बाम्बे हिस्टारिकल सोसायटी १११, पृ० १०२–२००।
२. यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश, डॉ० एन० उपाध्ये, अनेकांत १९७५।
३. जैन शि० सं०, भाग ४, सं० १३० ।
४. इण्डियन एण्टीक्वेरी NII, पृ० १०२।
५. जर्नल ऑफ कर्नाटक यूनि० भाग १०, वर्ष १९६५, पृ० १५९।
६. जिनविजय (कन्नड़), बेलगांव, जुलाई १९३१ ।
७. जिनविजय (कन्नड़), बेलगांव, मई-जून १९३१ ।
८. जैन शिलालेख सं०, भाग ४, सं० २५९।
९. जैन शिलालेख सं०, भाग ४, सं० १६८।
१०. जैन शि० लेख सं०, भाग ४, लेख सं० ६०७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कण्डूर गण

२८० ई० के सुगन्धवर्तिके लेखमें यापनीय संघ कण्डूर गणके कुछ आचार्योंके नाम हैं,—बाहुबलि देव (भट्टारक), रविचन्द्रस्वामी, अर्हनन्दि, शुभचन्द्र, मौनिदेव और प्रभाचन्द्र देव आदि।[1] सौदत्तिके लेखमें भी रविचन्द्रस्वामी तथा अर्हनन्दिका उल्लेख है।[2]

डॉ० पी० बी० देसाईने दौसुर (सौदत्ति) वेलगांव'के एक दूसरे लेखका विवरण दिया है, जिसमें यापनीय संघके शुभन्द्र प्रथम, चन्द्रकीर्ति, शुभचन्द्र द्वितीय, नेमिचन्द्र कुमारकीर्ति, प्रभाचन्द्र और नेमिचन्द्र द्वितीयका उल्लेख है।[3]

हूलि (जिला, वेलगांव) के १२ वीं सदीके लेखमें यापनीय संघ कण्डूरगणके बाहुबलि, शुभचन्द्र, मौनिदेव और माघनन्दिका उल्लेख मिलता है।[4]

१२ वीं सदीके लोकापुर (वेलगांव)के विवरणके अनुसार यापनीय संघके कण्डूर-गणके सकलेन्दु सैद्धान्तिकके शिष्य अभय सिद्धान्तचक्रवर्ती नागचन्द्रसूरिके उपदेशसे कल्लभावुण्डके पुत्र ब्रह्मने पुरुदेवकी मूर्तिकी स्थापना की।[5]

१३वीं सदीके अंदरगुंचि (धारवाड) के विवरणसे यापनीयसंघ कण्डूरगणकी उच्छंगि स्थित वसदिको दी जाने वाली भूमिकी सीमाओंका लेखा-जोखा प्राप्त होता है।[6]

कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण

४८८ ई. अल्तेम (जिला कोल्हापुर)के लेखमें कनकोपलसंभूतवृक्षमूलगणके आचार्यों-की परम्परा इस प्रकार दी गयी है—सिद्धनन्दि, चितकाचार्य, (जिनके पाँच सौ शिष्य थे) नागदेव और जिननन्दि। जिननन्दिके लिये चालुक्यनरेश जयसिंहके एक सामन्त सेन्द्रकवंशी सामियारने एक जैन मंदिर बनवाकर कुछ भूमि और एक गाँव दानमें दिया था। इसी लेखमें काकोपलाम्नायका भी उल्लेख है।[7]

कुमुदिगण-मुगद (जिला-मैसूर)के लेखमें यापनीय संघ और कुमुदिगणका सन्दर्भ मिलता है। इसमें अनेक साधुओंके नामोल्लेख हैं—श्रीकीर्ति, गोखडि, प्रभाशशांक

---

१. जैन शि० लेख सं०, भाग २ लेख सं० १०६
२. जैन शि० लेख सं०, भाग २ लेख सं० २०५
३. जैनिज्म इन साऊथ इंडिया, पृ० १६५
४. जैन शि० लेख सं०, भाग ४ सं० २०७
५. जैन० शि० लेख सं०, भाग ५ सं० ११७
६. जैन शि० लेख सं०, भाग ४, सं० ३६८
७. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २ लेख सं० १०६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नयवृत्तिनाथ, एकवीर, महावीर, नरेन्द्रकीर्ति, नागविविक वृतीन्द्र, निरवद्यकीर्ति भट्टारक, माधवेन्दु, बालचन्द्र, रामचन्द्र, मुनिचन्द्र, रविकीर्ति, कुमारकीर्ति, दामनन्दि, त्रैविद्य गोवर्धन, दामनन्दि, बड्ढाचार्य आदि।[१]

गरग् (जिला, धारवाड)के लेखमें यापनीय संघ कुमुदिगणके शांतिवीरदेवके समाधिमरणका स्पष्ट उल्लेख है।[२] यहींके एक अन्य लेखमें भी इस गणका उल्लेख है।[३]

९वीं शताब्दीके कीरप्पाक्कम् (चिंगलपेट, मद्रास)के लेखमें यापनीय संघ कुमुलिगणिके महावीरगुरुके शिष्य अमरमुदलगुरु द्वारा निर्मित देशवल्लभ जिनालयका वर्णन प्राप्त होता है।[४]

कारेयगण

११वीं शताब्दीके कल्भावीके लेखमें मइलापान्वय कारेयगणके शुभकीर्ति, जिनचन्द्र, नागचन्द्र, गुणकीर्ति, देवकीर्तिके उल्लेख हैं।[५] बइल होंगल (बेलगाँव)के लेखमें यापनीय संघ मइलापान्वय कारेयगणके मूल भट्टारक और जिनेश्वरसूरिका वर्णन है।[६]

सन् १२१९के बदलि (बेलगाँव)के लेखमें यापनीयसंघ कारेयगणके माधव भट्टारक, विजयदेव, कीर्ति भट्टारक, कनकप्रभ और श्रीधर त्रैविद्यदेव।[७]

१२०९ तथा १२५७ ई०के हन्नकेरि लेखमें यापनीय संघ मइलापान्वय कारेयगणके सन्दर्भ मिलते हैं। इसमें जिन गुरुओंके नाम अंकित हैं वे हैं कनकप्रभ और श्रीधर।[८] कनकप्रभ जातरूपधर (दिगम्बर) विख्यात थे तथा अपनी निर्ग्रन्थताके लिये अति प्रसिद्ध थे।

सौदत्तिके लेखमें गुणकीर्तिके शिष्य इन्द्रकीर्तिका, जो मैलापतीर्थ कारेयगणके थे, निर्देश है।[९]

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख सं० १३१।
२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, सं० ६११।
३. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, सं० ६१२।
४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, सं० ७०।
५. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख सं० १८२।
६. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, लेख सं० २०९।
७. कर्नाटक इन्सक्रिप्शन्स, भाग १, धारवाड, १९४१ पृ० ७५-६। संपादक—आर० एस० पंचमुख
८. इन्सक्रिप्शन प्रथम नार्थ कर्नाटक एण्ड कोल्हापुर स्टेट, १९३१।
९. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख सं० १३०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(कोटि) मडुवगण

यापनीय नन्दिगच्छके साथ कोटिमडुवगणका उल्लेख है।[1] १२वीं सदीके मध्यमें लिखे गये अर्सिकेरे (मैसूर)के लेखमें प्रारम्भिक श्लोकोंमेंसे एक श्लोकमें मडुवगण यापनीय संघकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। इसमें प्रतिष्ठाचार्य कुमारकीर्ति यापनीय मडुवगणसे सम्बन्धित थे।[2] सन् ११२४ में सेडम लेखमें मडुवगणके प्रभाचन्द्र त्रैविद्य-का उल्लेख है।[3]

वलहारगण

कलुचुम्बुरुके लेखमें अडुकलि गच्छ वलहारगणके आचार्योंकी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी गयी है—सकलचन्द्र, अय्यपोटि और अर्हनन्दि। अर्हनन्दि मुनिको अम्मराज द्वितीयने सर्वलोकाश्रय जिनालयकी भोजनशालाकी मरम्मत करानेके लिये अत्तिलिनाडु प्रान्तके कलुचुम्बरु नामक ग्रामको दानमें दिया था।[4]

पूर्वीय चालुक्यवंशके अम्मराज द्वितीयके एक अन्य लेखमें यापनीय सम्प्रदायके नन्दिगच्छ कोटि मडुवगणका उल्लेख है।[5] इसी राजाका पूर्वोक्त लेख है, जिसमें अडुकलिगच्छ वलहारिगणका उल्लेख है, अतः १०४८ ईसवीके बेलगामिसे प्राप्त एक अन्य लेखमें केवल वलगार गण (वलहारि गण) का उल्लेख है और नन्द्यन्त नाम वाले मेघनन्दि व केशवनन्दि (अष्टोपवासी) मुनियोंके नाम हैं।[6]

वडियूर या वन्दियूर गण

धर्मपुरी 'जिला बीड़ महाराष्ट्र'से प्राप्त लेखमें बसदिके आचार्य यापनीय संघ और बंदीयूरगणके महावोर पण्डितका वल्लेख है।[7] तेंगलि 'गुलवर्ग'के १२वीं शताब्दी की प्रतिमाके पीठिकालेखसे ज्ञात होता है कि इसकी प्रतिष्ठा यापनीय संघके वडियूर गणके नागदेव सैद्धान्तिकके शिष्य ब्रह्मदेवने कराई थी।[8] वरंगलके सन् ११३२ के लेखमें इस गणके गुणचन्द्र महामुनिके स्वर्गवासका उल्लेख है।[9]

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, सं० १४३।
२. जर्नल ऑफ कर्नाटक यूनि०, भाग १०, सन् १९६५, पृ० १५९।
३. जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, पी० बी० देसाई, पृ० ४०३।
४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख संख्या १४४।
५. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख संख्या १४३।
६. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख संख्या १६०।
७. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ५, सं० ७०।
८. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ५, सं० १२५।
९. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ५, लेख सं० ८६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जम्बूखण्डगण

गोकाक (बेलगाँव) से प्राप्त ताम्रपत्रमें जम्बूखण्डगणके आचार्य आर्यनन्दिको दिये गये दानका विवरण है।[1]

सिंहवूरगण

रण्णिवेण्णूर (धारवाड़, मैसूर) के लेखमें नागुल पोल्लब्वे द्वारा स्थापित नागुलवसदिके लिये शक सं० ७८१ ई० में कुछ भूमि सिंहवूरगणके नागनन्द्याचार्यको दिये जानेका वर्णन है।[2]

यापनीय संघका अन्य दिगम्बर संघोंसे सम्बन्ध

यापनीय संघके कतिपय गण दिगम्बर सम्प्रदायके अन्य संघों द्वारा आत्मसात् कर लिये गये तथा कुछ समयप्रवाहमें विलीन हो गये, यह शिलालेखोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है। हम देख चुके हैं कि यापनीय संघके उल्लेख चौथीसे पन्द्रहवीं शताब्दी तक मिलते में, उनसे ज्ञात होता है कि इस संघके साधुओंका वर्चस्व एवं प्रभुत्व आजके धारवाड़, बेलगाँव, कोल्हापुर और गुलवर्गा आदि क्षेत्रोंमें विपुलतासे था। आन्ध्र तथा तमिलनाडुके कुछ हिस्सोंमें भी इसका प्रभाव था। दक्षिण भारतमें दिगम्बरोंके साथ इन्हें भी भूमिदान देकर सत्कृत किये जानेके उल्लेख हैं।

नन्दिसंघ यापनीय सम्प्रदायका एक महत्त्वपूर्ण संघ था। परवर्ती शताब्दियोंमें यापनीय नन्दिसंघसे सम्बन्धित लेख प्राप्त नहीं होते। ११ वीं शताब्दीमें नन्दिसंघ द्रविड़संघसे तथा १२वीं शताब्दीमें मूलसंघसे[3] सम्बन्धित दिखाई देता है। यापनीय नन्दिसंघके साथ अरुंगलान्वयका उल्लेख मिलता है। तामिल प्रान्तमें यापनीय नन्दिसंघका अस्तित्व पूर्वीय चालुक्योंके राज्यमें था। इस विषयमें डॉ० चौधरीका कथन है कि तामिल प्रान्तके यापनीयोंके नन्दिसंघसे ही द्रविडसंघके नन्दिसंघको उत्तराधिकार मिला था।[4]

श्रवणबेलगोलसे प्राप्त लेखोंमें नन्दिगणकी गुरुपरम्परा दी गयी है, जिसमें अन्तमें या बीचमें इसे मूलसंघ देशियगण कहा गया है, पर आरंभमें केवल नन्दिगण कहा गया है। मूलसंघसे सम्बद्ध नन्दिगणके प्राचीन आचार्य वे ही हैं, जो द्रविड़ संघसे सम्बद्ध नन्दिगणके हैं। इस आधार पर डॉ० चौधरीने अपने अनुमानकी पुष्टि की है

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, सं० २२।
२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, सं० ५६।
३. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, प्रस्तावना, पृ० ३० व ३७।
४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, प्रस्तावना, पृ० ३७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि इन दोनों संघों में नन्दिगण कोई प्राचीनगण है, जो दोनोंमें बाहरसे आया है। ये आचार्य उसी गणके हैं और वह संघ यापनीय संघ है।[1]

नन्दिगणकी उक्त दोनों संघों (मूल तथा द्राविड) से सम्बन्धित परम्परामें प्रायः सभी प्रतिष्ठित आचार्योंको समाविष्ट करनेकी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। इन आचार्योंमें आचार्य कुन्दकुन्दका नाम भी परिगणित है। मूलसंघ और द्राविड़संघ की नन्दिगणप्रभेदकी आचार्यपरम्परा बादमें जोड़ी गयी तथा आनुमानिक है। कालक्रमकी दृष्टिसे भी यह परम्परा विचारणीय है। द्रविड संघ नन्दिसंघ परम्परामें कोण्ड-कुन्दाचार्य, भद्रबाहु, समन्तभद्रस्वामी, सिंहनन्दि, अकलंकदेव, वज्रनन्दि एवं पूज्य-पादस्वामी यह क्रम हैं।[2]

डॉ० उपाध्येकी सूचनाके अनुसार कन्नड़ ग्रन्थ "गणभेद"की पाण्डुलिपिमें चार गण माने गये हैं। सेनगणको मूलसंघसे, बलात्कारगणको नन्दिसंघसे, देशीगणको सिंह संघसे तथा कालोग्रगणको यापनीय संघसे सम्बन्धित बताया गया है।[3]

इस ग्रन्थके अनुसार बलात्कारगण नन्दिसंघसे सम्बद्ध था। और जैसा कि हम देखते हैं कि नन्दिसंघ सर्वप्रथम यापनीय संघसे सम्बद्ध था। बलहारिगणके दो लेख हैं। एक लेखमें[4] अड्डकलिगच्छ बलहारिगणका निर्देश है और दूसरेमें केवल बलगारगणका।[5] ये दोनों यापनीय संघके माने गये हैं। ये क्रमशः १० वीं शताब्दी उत्तरार्ध और ११वीं शताब्दी पूर्वार्धके हैं। ११ वीं शताब्दीके उत्तरार्धसे बलहारि अथवा बलगारगणको हम बलात्कारगणके रूपमें मूलसंघसे सम्बद्ध पाते हैं।[6] बलगार शब्द स्थानविशेषका द्योतक है। बलगार ग्राम भी था।[7] बलगार शब्दका संस्कृत रूपान्तरण बलात्कार किया गया है। यह संस्कृत बलात्कार शब्द स्थान-विशेषका द्योतक नहीं है।

यापनीय पुन्नागवृक्षमूलगण भी परवर्ती कालमें मूलसंघमें विलीन प्रतीत होता है। होन्नूरके लेखमें मूलसंघ पुन्नागवृक्षमूलगणका उल्लेख है।[8]

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, प्रस्तावना (नन्दिगण), पृ. ५६–५८।
२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २ लेख सं० २१३–२१४।
३. "यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश", डॉ० ए०एन० उपाध्ये, अनेकांत १९७५।
४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, सं० १४४।
५. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, सं० १६०।
६. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, सं० १५४।
७. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, प्रस्तावना, पृ० ६२।
८. इण्डियन एण्टीक्वेरी, ivii, पृ० १०२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यापनीय कण्डूरगणका अस्तित्व रट्टनरेशोंके दो लेखोंमें हैं।[1] ये लेख दसवीं शताब्दी उत्तरार्धके हैं। इसके पश्चात् ११वीं शताब्दोके उत्तरार्धमें मूलसंघके साथ क्राणूर गणको सम्बद्ध बताया गया है।[2]

पहले लिख चुके हैं कि कन्नड़ग्रन्थ गणभेदमें कालोग्रगण (कण्डूरगण) यापनीय संघका एक प्रमुख गण बताया गया है। मूलसंघके साथ क्राणूर गणके उल्लेख ११वीं शताब्दीके उत्तरार्धसे १४ वीं शताब्दीके अन्त तक मिलते हैं। मेषपाषाण और तिन्त्रिणीक गच्छ इसके प्रसिद्ध गच्छ हैं। ये दोनों पाषाणान्त और वृक्षपरक नामक यापनीय संघके कनकोपल तथा पुन्नागवृक्षमूलगण आदि गणोंकी स्मृति दिलाते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रभावशाली आचार्य थे, मूलसंघने उनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर दिगम्बर सम्प्रदायमें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। अतः द्राविड़ और यापनीयसंघके अनेक गच्छ उस प्रभावशाली मूलसंघमें सम्मिलित हो गये थे। मूलसंघका प्राचीन व महत्वपूर्ण संघ सेनसंघ है। यह तथ्य शिलालेखीय तथा साहित्यिक उल्लेखोंसे प्रमाणित है। उल्लिखित गणभेदनामक पाण्डुलिपिमें भी सेनगणको मूलसंघसे सम्बद्ध माना गया है। सेनगणके अतिरिक्त देवगण भी प्राचीन है, जिसके प्राचीन पाँच उल्लेख लक्ष्मेश्वर और कडवन्तिसे प्राप्त हुये हैं, इसके पश्चात् इसका कोई शिलालेखीय उल्लेख नहीं है।

नीतिवाक्यामृत तथा यशस्तिलकचम्पूके रचयिता सोमदेवने यशस्तिलककी प्रशस्तिमें अवश्य अपने प्रगुरु यशोदेवको देवसंघतिलक कहा है। आचार्य सोमदेव व उनके गौड़संघका विवरण देने वाला ताम्रपट–वेमुलवाड (करीमनगर, आंध्र) से प्राप्त हुआ है। इस कीर्तिलिखमें चालुक्य राजा बद्दिग द्वारा गौड़संघके आचार्य सोमदेवसूरिके लिए एक जिनालय बनवाये जानेका उल्लेख है। इस दानपत्रमें इन्हें गोड़संघीय यशोदेवके प्रशिष्य तथा नेमिदेवके शिष्य कहा गया है।[3] इससे देवसंघकी एकता प्रतीत होती है इसे देव नामान्त मुनियोंका गण होनेसे देवगण और गौड़देशसे सम्बद्ध होनेके कारण गौड़संघ ये दोनों संज्ञायें प्राप्त हुई होंगी।

सेनगण और देवगणके अतिरिक्त अन्य कई गण मूलसंघमें सम्मिलित हो गये हैं। मूलसंघ द्रविडान्वय मूलसंघमें द्राविडसंघीय गणोंके अन्तर्भावको सूचित करता है। अङगदिसे प्राप्त द्रविडसंघीय लेखोंमें सूरस्थगणके वज्रपाणि पण्डित, रविकीर्ति और

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख सं० १६० व २०५।

२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख सं० २०७ व २०९।

३. जैन साहित्य और इतिहास, पं० नाथूराम प्रेमी, पृ० १७७, द्वितीय संस्करण तथा डॉ० वी राघवन "नीतिवाक्यामृत आदिके रचयिता" जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १०, किरण २।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कल्नेलेयदेव मुनियोंके उल्लेख है।[1] यही उल्लेख मूलसंघ सूरस्थगणके शिलालेखोंमें मिलते हैं, वहाँ सूरस्थगणको सेनसंघकी शाखा बताया गया है। सूरस्थगणके चित्रकूटान्वय तथा कौरुरगच्छ उपभेद मिलते हैं। यहाँ भी रविचन्द्र, रविनन्दि तथा कल्नेयेलदेवके उल्लेख मिलते हैं।[2] इमसे द्राविड तथा मूलसंघके सूरस्थगणकी एकता स्पष्ट होती है। द्राविडसंघमें सेनगण कौरुरगच्छका भी उल्लेख मिलता है।

नन्दिसंघके माध्यमसे द्राविडसंघ तथा मूलसंघके साथ यापनीयसंघका सम्बन्ध था।[3] यापनीय बलात्कारगण तथा क्राणूरगण भी परवर्ती कालमें मूलसंघमें अन्तर्भावित हो गये हैं। परवर्ती काष्ठासंघ भी यापनीयसंघसे प्रभावित है, यह हम पुन्नाटसंघके अन्तर्गत देख चुके हैं।

काष्ठासंघका उपभेद लाडबागड़ गच्छ है। यह संघ पहले पुन्नाटसंघके रूपमें था।[4] पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेन (हरिवंशपुराणकार) तथा हरिषेण (बृहत्कथाकोशकार) के ग्रन्थोंके अन्तःपरीक्षण इन्हें यापनीय संभावित करते हैं।

जयसेनने अपने ग्रन्थ धर्मरत्नाकारमें लिखा है कि लाडबागड़ गच्छका आरम्भ मेदार्यकी उग्रतपश्चर्यासे हुआ है।[5] मेदार्य (मेतार्य) की यह कथा श्वेताम्बर तथा यापनीय सम्प्रदायमें प्रसिद्ध है।

काष्ठासंघी मान्यताएँ यापनीयोंसे प्रभावित हैं। यापनीय स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति तथा अपवादलिंग मानते थे। काष्ठासंघी भी स्त्रियों व गृहस्थोंके प्रति उदार दृष्टिकोण रखते हैं। यापनीय सवस्त्रमुनिको अपवादलिंगी कहते हैं। काष्ठासंघीय लाटीसंहितामें ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावकको ईषत्मुनि तथा वीरचर्याका अधिकारी माना गया है। उत्कृष्ट श्रावकके दो भेद हैं—ऐलक व क्षुल्लक। ऐलक शब्द हमें

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, सं० १६६, १७८।
२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, लेख सं० २६९।
३. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, चौधरीकृत प्रस्तावना, पृ० ३० और आगे।
४. भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ६३१—
ततः पुन्नाटगच्छ इति भांडागारे स्थितं लोके लाटवर्गटनामाभिधानं पृथिव्यां प्रथितं प्रकटीबभूव।
५. धर्मरत्नाकर ५, अ० ८, पृ० १०३। भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ६२५
मेदार्येण महर्षिभिर्विरहता तेपे तपो दुश्चरं।
श्रीखण्डिल्लकपत्तनान्तिकरणाभ्यर्थिप्रभावात्तदा॥
शाठ्येनाप्युपतस्पृता सुरतरुप्रख्यां जनानां श्रियः
तेनाजीयत लाडबागड इति स्त्रेको हि संघोऽनघः॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चेलक (चेलखण्डधारी)।[1] से विकसित प्रतीत होता है। दिगम्बर निर्वस्त्रता मुनिके लिए अपरिहार्य मानते हैं। अतः दिगम्बर और यापनायोंके पारस्परिक साहचर्यमें यह अपवादलिंगी मुनि उत्कृष्ट श्रावकके रूपमें मान्य कर लिया। इसे एकादश प्रतिमाधारी श्रावकके रूपमें मान्य कर लिया गया। हमारी दृष्टिसे परिवर्तीकालमें नग्नत्वको ही मुनिवेश माननेवाली दिगम्बर परंपराने यापनीयोंके प्रभावसे उनके अपवादरूपमें मान्य सचेल (चेलक) मुनिको ऐलकके रूपमें मान्यता प्रदान की होगी। और उसे एकादश प्रतिमाधारी श्रावकसे श्रेष्ठ बतानेके लिए ही ग्यारहवीं प्रतिमाके दो भेद किये गये। क्षुल्लकोंकी वीरचर्याको मानने वालोंमें भी यही गृहस्थोंके प्रति उदार दृष्टिकोण तथा अपवादलिंगी मुनिकी दृष्टिसे इसे गृहस्थोंसे श्रेष्ठ स्थान दिलानेकी प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। अतः यह मान्यता माथुरसंघके अतिरिक्त शेष तीन काष्ठासंघोंकी मानी जानी चाहिए, जिसके विषयमें हम बता चुके हैं। लाडबागड तो यापनीय शाखा ही है। हम यह भी बता चुके हैं कि रात्रिभोजनविरमणको पंच-महाव्रतोंके पालनके लिए छठा व्रत मानना भो यापनीय मान्यता है, जिसे काष्ठासंगने स्वीकार किया हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यापनीय संघ, जिसके शिलालेखीय उल्लेख चौथीसे पन्द्रहवीं शताब्दी तक मिलते हैं, धीरे-धीरे दिगम्बर सम्प्रदायमें विलीन हो गया। इसका कारण एक ओर यापनीयोंकी सहिष्णुवृत्ति और दूसरी ओर दिगम्बरोंका अधिक प्रभाव, साथ ही दिगम्बरोंसे इनकी समानता है।

नन्दिसंघ पहले ही मूलसंघ द्वारा अपना लिया गया था। मूलसंघके बढ़ते हुए प्रभावके कारण बलात्कारगण तथा क्राणूरगण आदि भी उसीमें सम्मिलित हो गये। यह शिलालेखोंसे स्पष्ट है। कुछ गण जो अपनी विचारधाराको एकाएक छोड़ नहीं सके, वे काष्ठासंघमें अन्तर्भूत हो गये। इस विश्लेषणसे यापनीय संघके अन्य संघोंमें विलयकी धुंधली रूपरेखा दिखाई देती है।

●

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचारमें ऐलकको चेलखण्डधारी कहा गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तृतीय परिच्छेद

यापनीयोंका साहित्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यापनीय साहित्य : एक विमर्श

यापनीय आचार्योंने विपुल साहित्यकी सर्जना कर जैन साहित्यको अभिवृद्ध किया है। इनका अधिकांश साहित्य दिगम्बर-साहित्यमें अन्तर्भुक्त हो गया है। मूलाचार, भगवती आराधना, सन्मति-तर्क तथा स्वयंभूके पउमचरिउ आदि ग्रन्थोंके अवलोकनसे स्पष्ट है कि यापनीयोंके साहित्यका दिगम्बर साहित्यसे बहुत अधिक साम्य है व यापनीय आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें कहीं भी अपने संघका उल्लेख नहीं किया है।

हरिभद्रसूरिने अपनी ललितविस्तरामें इनके 'यापनीय तंत्र' से उद्धरण दिया है, किन्तु उक्त ग्रन्थके अप्राप्य होनेसे उनके समस्त आचार-विचारोंसे परिचित होना कठिन है। हरिभद्र[1] तथा श्रुतसागरसुरि[2] के उल्लेखोंसे हम मात्र इतना जान सकते हैं कि वे आचरणमें दिगम्बर मुनियोंकी भाँति निर्वस्त्र रहते थे, तथापि सवस्त्रताको अपवादरूपमें स्वीकार करते थे। विचारोंकी दृष्टिसे वे श्वेताम्बरोंकी भाँति स्त्रीमुक्ति केवलिभुक्ति, गृहस्थमुक्ति तथा परशासनसे भी मुक्ति स्वीकार करते हुए श्वेताम्बर आगमोंको भी प्रमाण मानते थे। डॉ० ए० एन० उपाध्येके अनुसार वे दिगम्बर ग्रन्थ षट्खण्डागम आदिके भी वेत्ता रहे हैं।[3] मूलाचार और भगवती आराधनासे स्पष्ट है कि यापनीय साधुओंकी चर्या दिगम्बर साधुओंकी भाँति ही थी। यही कारण है कि दिगम्बर साहित्यसे यापनीय साहित्यको पृथक् करना एक क्लिष्ट कार्य है।

पूर्वोल्लिखित शिलालेखोंके आधारसे अवगत होता है कि यापनीय सम्प्रदायका प्रभाव कर्नाटक प्रदेशमें विशेष रूपसे रहा है, अतः प्राकृत, संस्कृत और कन्नड़ भाषामें लिखित यापनीय-साहित्यके कन्नडलिपिमें लिखे जाने और उसके पाए जानेकी अधिक संभावना है।

यापनीयोंके इस साहित्यको सैद्धांतिक, दार्शनिक, आचारात्मक, लक्षणात्मक और कथात्मक इन विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है।

सैद्धांतिक साहित्य

तत्त्वार्थसूत्र

यह यापनीय ग्रन्थ है। इसमें १० अध्याय तथा लगभग ३५० सूत्रोंमें समस्त जैन तत्वज्ञानका प्रतिपादन किया गया है। इसका विशेष विचार आगे किया गया

१. ललितविस्तरा, पृ० ४०२।

२. दंसणपाहुड–टीका, गाथा, ११।

३. अनेकान्त, वीर-निर्वाण विशेषांक १९७५, "जैन सम्प्रदायके यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है । इसमें सम्पूर्ण जैन धर्म, दर्शन और न्यायको सन्निविष्ट किया गया है । इस रचनामें साम्प्रदायिकताका समावेश न होनेसे इसे दोनों सम्प्रदायोंमें आदर प्राप्त है । इस ग्रन्थ पर दोनों सम्प्रदायोंमें लिखी गई विस्तृत और गम्भीर टीकाएँ इसकी महत्ता और लोकप्रियताकी सूचक हैं । इसे जैन परम्पराका आद्य सूत्रग्रन्थ कहे जानेका गौरव प्राप्त है ।

दार्शनिक साहित्य

(क) सन्मति-तर्क

दार्शनिक ग्रन्थोंमें सिद्धसेन दिवाकर यापनीय संघके महत्त्वपूर्ण आचार्य हैं । इनकी प्रतिभा बहुमुखी तथा व्यक्तित्व तेजस्वी था । इनका सन्मतितर्क दर्शनका प्रभावक ग्रन्थ है, जिसका दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों परम्पराके आचार्योंने बहुमानपूर्वक उल्लेख किया है । अकलंकदेव, वीरसेन, विद्यानन्द आदि दिगम्बर आचार्योंने इनके ग्रन्थवाक्योंका उल्लेख किया है । आचार्य हरिभद्र, अभयदेव आदि श्वेताम्बर आचार्योंने भी इनका निर्देश किया है ।

प्राकृत गाथाओंमें रचित इस ग्रन्थमें तीन काण्ड हैं । प्रथम काण्डमें द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय तथा सप्तभंगीका विवेचन है । द्वितीय काण्डमें दर्शन और ज्ञानका विवेचन है । इसीमें केवलीके ज्ञान और दर्शनका अभेद प्रतिपादित किया है । तृतीय काण्डमें अनेकान्तवादका विवेचन है । ग्रन्थकी प्रत्येक गाथामें विपुल अर्थ तथा दर्शन निहित है । तत्त्वार्थसूत्र की भाँति यह ग्रन्थरत्न भी जैन परम्परामें बहुमान्य रहा है ।

(ख) स्त्रीमुक्तिप्रकरण तथा केवलिभुक्तिप्रकरण

शाकटायनने दो स्त्रीमुक्ति तथा केवलिभुक्ति नामके दार्शनिक ग्रन्थ लिखे हैं । यद्यपि मान्यताके रूपमें दोनों सिद्धांत श्वेताम्बर तथा यापनीय दोनों सम्प्रदायोंको मान्य रहे हैं, तथापि इनका सर्वप्रथम व्यवस्थित विवेचन शाकटायन द्वारा ही किया गया है । शाकटायनके नैयायिक शैलीमें रचित इन सिद्धांतोंकी समीक्षा दिगम्बराचार्य प्रभाचन्द्रने अपने न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्डमें की है ।

आचार-ग्रन्थ

(क) मूलाचार

यह मुनि आचारका प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । दिगम्बर सम्प्रदायमें इसे बहुत आदर एवं मान्यता प्राप्त है । मूलाचारके धवला-टीकामें आचार्य वीरसेनने आचाराङ्गके रूपमें उल्लिखित किया है । मूलाचारकी आचारवृत्ति संस्कृत टीकाके रचियता वसुनन्दिके अनुसार यह आचाराङ्गके आधारपर निर्मित संक्षिप्त ग्रन्थ है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह ग्रन्थ बारह अधिकारोंमें विभक्त है। आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें अवश्य मुनि आचारका प्रतिपादन है, उन्हें छोड़कर दिगम्बर परम्परामें मूलाचारके अतिरिक्त मुनि आचारका सम्पूर्णतया प्रतिपादक और कोई प्राचीन एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है।

(ख) भगवती-आराधना

यह भी मुनि आचारका प्रतिपादक महत्त्वपूर्ण और दिगम्बर सम्प्रदायमें मान्य प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें कुल २१६६ गाथाएँ हैं। इसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप इन चार आराधनाओंका विस्तृत और अपूर्व वर्णन है। ग्रन्थके अन्तमें जो प्रशस्ति उपलब्ध है, उसमें पाणितलभोजी शिवार्यने अपने ज्ञानदाता गुरु आर्य जिननंदिगणि, आर्य सर्वगुप्तगणि और आर्य मित्रनन्दिके चरणोंके निकट मूल सूत्र और उसके अभिप्राय-को अच्छी तरह समझकर पूर्वाचार्यों द्वारा निबद्ध की गई रचनाके आधारसे इसे अपनी शक्तिके अनुसार लिखा प्रकट किया है।

जैनधर्ममें समाधिमरणका विशेष महत्त्व है। मरणकी सफलतापर जीवनकी सफलता तथा सुन्दर भविष्यकी आशा निर्भर रहती है। भगवती आराधनामें मरणके भेद-प्रभेदों तथा उत्तम मरणसम्बन्धी शिक्षाएँ हैं। समाधिमरणका इतना व्यवस्थित और विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थमें प्राप्त होता है।

(ग) श्रीविजयोदया-टीका

भगवती आराधनापर कई टीकायें हैं। इनमेंसे एक अपराजितसूरि द्वारा लिखित श्रीविजयोदया नामकी बृहद् टीका है। इस टीकाकी प्रशस्तिमें अपराजितासूरिने अपने-को बलदेवसूरिका शिष्य और चन्द्रनन्दि महाप्रकृत्याचार्यका प्रशिष्य बताया है। नागनन्दिगणिकी चरणसेवासे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था और श्रीनन्दिगणिकी प्रेरणासे उन्होंने यह टीका लिखी। वे आरातीय सूरियोंमें श्रेष्ठ थे।

पं० आशाधरजीने अपराजितका अपने ग्रन्थोंमें श्रीविजयाचार्यके नामसे भी उल्लेख किया है[1]। इसी नामपर उनके द्वारा रचित दशवैकालिक तथा भगवती आराधनाकी टीकाओंके नाम भी 'श्रीविजयोदया' हैं।

दिगम्बर सम्प्रदायमें 'आरातीय' पद विजयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त तथा अर्हद्दत्त इन चार आचार्योंके अतिरिक्त किसीके लिए व्यवहृत नहीं किया गया है।[2] सर्वार्थ-

---

१. "एतच्च श्रीविजयाचार्यविरचितसंस्कृतमूलाराधनाटीकायां सुस्थितसूत्रे विस्तरतः समर्थितं दृष्टव्यम्।"
अनगारधर्मामृत, टीका पृ० ६७३।

२. विनयधरः श्रीदत्तः शिवदत्तोऽन्योऽर्हद्दत्तनामैते।
आरातीयाः यतयस्ततोऽभवन्नङ्गपूर्वधराः॥
इन्द्रनन्दिकृतश्रुतावतार, श्लोक २४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धिमें दशवैकालिक आदिको उपनिबद्ध करने वाले आचार्योंको आरातीय कहा गया है।[1]

अपराजितसूरिका अध्ययन विस्तृत और गम्भीर था। वे गम्भीर आगमवेत्ता थे। उनकी इस टीकामें उद्धरणोंका बाहुल्य है, जिससे उनका अन्य ग्रन्थोंके स्वाध्यायका ज्ञान होता है। भगवती आराधना तथा यापनीयोंके आचार-विचारोंको समझनेके लिए यह टीकाग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

लाक्षणिक ग्रन्थ

(क) शाकटायन व्याकरण

शाकटायन प्रसिद्ध व प्रतिभाशाली आचार्य हैं। शाकटायन व्याकरणकी चिन्तामणि टीकाके कर्ता यक्षवर्माने तो इन्हें "सकलज्ञानसाम्राज्यपदमाप्तवान्" कहा है। इनके व्याकरणका नाम शब्दानुशासन है, जिसपर इनकी अमोघवृत्ति नामक स्वोपज्ञ वृत्ति है। राजशेखरकी काव्यमीमांसासे इनके किसी साहित्य-शास्त्रविषयक ग्रन्थके प्रणेता होनेकी संभावना प्रतीत होती है। उन्होंने 'इति पाल्यकीर्तिः" कहकर इनके मतको उद्धृत किया है। इनका यह व्याकरण संस्कृत-व्याकरणकी शृंखलामें महत्त्वपूर्ण कड़ी है। शाकटायन वैयाकरणके साथ-साथ तार्किक व सैद्धान्तिक भी थे।

(ख) स्वयंभू-छंद

यह छंदशास्त्रका ग्रन्थ है। इसमें आरंभके तीन अध्यायोंमें प्राकृत छन्दोंका वर्णन है और शेष पाँच अध्यायोंमें अपभ्रंश छंदोंका विवेचन किया गया है।

पउमचरिउसे स्वयंभूके व्याकरण ग्रन्थका पता चलता है—

तावच्चिय संच्छंदो भमइ अवब्भंस-मच्चमायंगो।
जाव न सयंभु-वायरण-अंकुसो तच्छिरे पडई॥
सच्छन्द-वियड-दाढ़ो छंदोलंकार-णहर-दुप्पेच्छो।
वायरण-केसरड्ढो सयंभु पंचाणणो जयउ॥

कथात्मक

(क) पद्मचरित

कथात्मक साहित्य-ग्रन्थोंमें आचार्य रविषेणका पद्मचरित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें राम-कथाकी विमलसूरिके पउमचरिउकी परम्पराको ग्रहण किया गया है। यह संस्कृतमें रचित प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

---

१. आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तमायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धं तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिव।
सर्वार्थसिद्धि, अध्याय, सूत्र २०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(ख) हरिवंश पुराण

पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेनकृत महापुराणमें ६६ सर्ग हैं। इसकी रचना वर्द्धमानपुरमें हुई।

(ग) पउमचरिउ

साहित्य-संसारको स्वयंभूकी तीन कृतियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं। पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ और स्वयंभूछंद। इनमें पउमचरिउ और स्वयंभूछंद प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त उनके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभूने रिसिपंचमी और सुद्धयचरित नामक दो ग्रन्थोंका और उल्लेख किया है।

स्वयंभूकी प्रबन्ध-प्रतिभा अप्रतिम है। अपनी इसी प्रतिभाके बलपर उन्होंने पउमचरिउ और रिट्ठणेमिचरिउ इन दो अमर महाकाव्योंकी रचनाकर अपभ्रंश भाषाको अभूतपूर्व गौरवसे मंडित किया है।

कथाकोश

आचार्य हरिषेणने भगवती आराधनाके आधारपर आराधनाके महत्त्वको प्रदर्शित करने वाली कथाओंकी रचना की है, जिसे उन्होंने कथाकोश कहा है। उसे ही बृहत्कथाकोश कहा जाता है। ये भी पुन्नाटसंघीय आचार्य हैं। इन्होंने भी अपने ग्रन्थकी रचना वर्द्धमानपुरमें की है।

यापनीयोंके उपलब्ध साहित्यके इस परिचयको देखते हुए कहा जा सकता है कि यापनीय आचार्योंने विविध एवं विपुल साहित्यकी रचनाकर जैन साहित्यके भण्डारको समृद्ध किया है। इनका पर्याप्त साहित्य साम्प्रदायिक उपेक्षाके कारण नष्ट हो गया प्रतीत होता है। विभिन्न शास्त्रभंडारोंमें अनुसंधान करनेपर अभी भी उनका बहुत-सा साहित्य उपलब्ध हो सकता है।

तत्त्वार्थसूत्रकारकी परम्परा

यहाँ विचारणीय है कि तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताकी परम्परा क्या है ?

उद्‌भव-स्रोतके समान होनेके कारण जैन तत्त्वज्ञानमें सैद्धान्तिक मतभेद नगण्य-सा है। श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदायोंमें मुख्य भेद बाह्य आचारविषयक है अत एव तत्त्वज्ञानविषयक कृतिको देखकर कृतिकारकी परम्पराका निर्धारण एक जटिल समस्या है। विशेषतः ऐसी कृतिके विषयमें जिसे दोनों सम्प्रदायोंमें समान समादर प्राप्त है, यह समस्या और अधिक जटिल बन जाती है। तत्त्वार्थसूत्र ऐसी ही रचना है, जिसका आद्यन्त वाचन उसे एक साम्प्रदायिक अभिनिवेशसे रहित आचार्यकी कृति घोषित करता है।

श्वेताम्बर विद्वान् भाष्य और प्रशमरति आदिके आधारपर उन्हें श्वेताम्बर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परम्पराका मानते रहे हैं,[1] किन्तु भाष्य और प्रशमरतिके आधारपर सूत्रकारकी परम्पराका निर्धारण गलत दिशामें प्रयास होगा, क्योंकि इन ग्रन्थोंकी एककर्तृकता स्वयं विवादास्पद है। सूत्रके टोकाकार भी सूत्रकारकी परम्पराके निर्धारणमें सहायक सिद्ध नहीं होते हैं। श्वेताम्बर टीकाकार इन्हें श्वेताम्बराचार्य मानते रहे हैं और दिगम्बर टीकाकार दिगम्बर। श्वेताम्बराचार्य रत्नसिंहके टिप्पणसे अवश्य यह ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर परम्परामें कुछ लोग इन्हें दिगम्बर निह्नव समझते रहे हैं।[2] भाष्यके आधारपर ही पं० नाथूरामजी प्रेमीने सूत्रकारको यापनीय स्वीकार किया है।[3]

तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंपर ही विचार करके सूत्रकारकी परम्पराका निर्धारण अधिक योग्य होगा। तत्त्वार्थसूत्रके वर्तमानमें दो सूत्रपाठ उपलब्ध हैं। एक भाष्यसम्मत और दूसरा (पूज्यपादकी टीका तत्त्वार्थवृत्ति) सर्वार्थसिद्धिसम्मत। इन दोनोंमें कुछ पाठभेद हैं। समान सूत्रपाठोंमेंसे भी कुछ सूत्र सूत्रकारकी परम्पराके निर्धारणके लिए विचारणीय हैं।

पं० सुखलालजी द्वारा विवेचित "तत्त्वार्थसूत्र हिन्दी विवेचन" की प्रस्तावनामें जापानी विदुषी कु० सुजुको ओहिराका एक निबन्ध प्रकाशित हुआ है—"तत्त्वार्थसूत्रका मूल पाठ"।[4] इस निबन्धमें उन्होंने अपने अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है कि श्वेताम्बर पाठ मूल है। इनके अध्ययनके तीन पहलू हैं,—१. भाषागत परिवर्तन, २. प्रत्येक आवृत्तिमें सूत्रोंका विलोपन, ३. सूत्रगत मतभेद। उनका कथन है कि इस समस्याके समाधानमें मुख्यतया अन्तिम दो साधनोंका उपयोग किया गया है, परन्तु तार्किक दृष्टिसे समुचित निर्णयके लिए वे पूर्णतः सक्षम सिद्ध नहीं हुए हैं। आश्चर्य-

---

१. पं० सुखलालजी संघवी, तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, तृतीय संस्करण, १९७६।
२. जैन साहित्यका इतिहास भाग २, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, पृ० २३९,
परमेतावच्चतुरैः कर्तव्यं श्रुणुत वच्मि सविवेकः।
शुद्धो योऽस्य विधाता स दूषणीयो न केनापि।
टीका—एवं चाकर्ण्य वाचको ह्युमास्वातिर्दिगम्बरो निह्नव इति
केचिन्मावदन्नदः शिक्षार्थं परमेतावच्चतुरैरिति पद्यं ब्रूमहे—शुद्धः सत्यःप्रथमः इति यावद्यः कोऽप्यस्य ग्रन्थस्य निर्माता स तु केनापि प्रकारेण न निन्दनीय एतच्चतुरैर्विधेयमिति।
३. जैन साहित्यका इतिहास, पं० नाथूरामजी प्रेमी—पृ० ५२०–५४७।
४. तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना, पं० सुखलालजी संघवी, तृतीय संस्करण, १९७६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की बात यह है कि भाषागत अध्ययन भी विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ, यद्यपि यह साधन सर्वथा प्रामाणिक है।.........अब हम मतभेदके दो प्रकरणोंकी छानबीन करेंगे। ये इस प्रकार हैं—१. पौद्गलिक बन्धका नियम और २. परीषह। ये दो प्रकरण, जिनमें दोनों परम्पराओंके सैद्धान्तिक मतभेदका समावेश है, विचाराधीन मूलपाठकी यथार्थताकी सिद्धिके लिए महत्त्वपूर्ण हैं।"

इस प्रकार इस निबन्धके अनुसार मुख्य विचारणीय दो प्रकरण हैं। पुद्गल बन्धके नियम, २. परीषह-विधायक सूत्र। सूत्रकारकी परम्पराके निर्धारणके लिए यहाँ हम भी इन्हीं प्रकरणोंका विचार प्रस्तुत करते हैं।

बन्ध-विचार

तत्त्वार्थसूत्रमें पौद्गालिक बन्धके निरूपक सूत्र इस प्रकार हैं—

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ५-३३

न जघन्यगुणानाम् ५-३४

गुणसाम्ये सदृशानाम् ५-३५

द्वयधिकादिगुणानां तु ५-३६

बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ ५-३७ दिगम्बर पाठ

बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ ५-३६ श्वेताम्बर पाठ

इन सूत्रोंमें प्रथम चार सूत्र दोनों सूत्रपाठोंमें समान हैं। अन्तिम सूत्रमें किंचित् भेद है। सूत्रोंके समान होने पर भी दोनोंके अर्थमें पर्याप्त भिन्नता है। समान सूत्रोंके अर्थमें भिन्नता होना आश्चर्यजनक है।

सर्वार्थसिद्धिके अनुसार बन्ध-विचार

स्निग्ध और रूक्ष गुणोंके कारण ही पुद्गलपरमाणु परस्पर बन्धको प्राप्त होते हैं, 'जिन परमाणुओंमें स्निग्ध या रूक्ष गुणांश जघन्य हो, उनका बन्ध नहीं होता। मध्यम या उत्कृष्ट गुणांशवाले परमाणुओंमें बंधनेकी योग्यता है, पर ये भी सदैव बन्धको प्राप्त नहीं होते, इनमें भी अपवाद हैं। गुणांशोंकी समानता होने पर सदृश (तुल्यजातीय) परमाणुओंका बन्ध नहीं होता। पूज्यपादके अनुसार इसका अर्थ है कि सम गुणांश वाले सदृश और विसदृश दोनों ही परमाणुओंका बन्ध नहीं होता है। चौथे (३६ वें) सूत्र द्वारा बन्धकी मर्यादा निश्चित की गयी है। इस सूत्रका अर्थ यह है कि दो गुणांश अधिक होने पर ही बन्ध होता है। परमाणुओंकी बन्धयोग्यता सर्वत्र द्वयधिकता मानी गयी है।

आचार्य पूज्यपादकी व्याख्याका निष्कर्ष यह है कि जघन्य गुणांशवाले पुद्गलोंका परस्पर बन्ध नहीं होता। एक पुद्गल परमाणु जघन्य तथा दूसरा मध्यम या उत्कृष्ट हो तो भी बन्ध नहीं होता। यह द्वितीय सूत्रका अर्थ है। मध्यम तथा उत्कृष्ट गुणांशोंमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी सम गुणांश होने पर सदृश या विसदृश परमाणुओंका परस्पर बन्ध नहीं होता, यह तृतीय सूत्रका अर्थ है। "गुणसाम्ये सदृशानाम्"में सदृशोंके प्रतिषेधसे विसदृशोंका ग्रहण नहीं किया गया है।[1] सदृशका सदृश या विसदृशके साथ बन्ध होनेके लिए दो गुणांश अधिक होना आवश्यक है। एक या तीन आदि अधिक होने पर बन्ध नहीं होता है। यह चौथे सूत्रका अर्थ है। बन्ध होने पर दो अधिक गुणांशवाला दो कम गुणांशवालेको अपने रूप परिणमा लेता है, यह पाँचवें सूत्रका अर्थ है।

आचार्य अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें एवं आचार्य विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें सर्वार्थसिद्धिकारके अनुसार व्याख्यान किया है। उसके समर्थनमें युक्तियाँ दी हैं।

पूज्यपाद स्वामी, अकलंकदेव तथा आचार्य विद्यानन्द तीनोंके ही समक्ष षट्खण्डागमकी पौद्गलिक बन्धकी विधायक गाथा रही हैं। आचार्य अकलंकदेव उस गाथाके "विसमे समे वा" का अर्थ अनुल्यजातीय और तुल्यजातीय करते हैं, किंतु उनका यह अर्थ उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि गाथाको प्रथम पंक्तिमें स्निग्धका स्निग्धके साथ तथा रूक्षका रूक्षके साथ द्व्यधिक होने पर बंध होता है, इस कथनमें तुल्यजातीय बन्धका कथन आ हो गया है और दूसरी पंक्तिमें स्निग्ध और रूक्षका बन्ध बताया गया है। यहाँ अनुल्यजातीय बन्धका कथन आ ही गया है। इस स्थितिमें "विसमे समे वा" का अर्थ अधिक और पुनरुक्त हो जाता है। साथ हा 'विसमे समे वा" का अर्थ दूसरी पंक्तिके साथ है, तो इसका अर्थ हुआ "स्निग्ध और रूक्षका बन्ध जघन्यको छोड़कर अतुल्यजातीय अथवा तुल्यजातीय दोनों ही स्थितियोंमें होता है।" यह अर्थ नितान्त दोषपूर्ण है, क्योंकि स्निग्ध और रूक्षका बन्ध सदैव अनुल्यजातीय ही होता है, तुल्यजातीय नहीं। षट्खण्डागमके बन्ध-नियम पर आगे विचार किया जायेगा।

भाष्यानुसार बन्ध-विचार

स्निग्ध व रूक्ष अवयवोंका परस्परमें बन्ध होता है। जघन्य गुणवाले परमाणुओंका पारस्परिक बन्ध नहीं होता अर्थात् दो जघन्य गुण वाले परमाणुओंका पारस्परिक बन्ध नहीं होता, परन्तु एक जघन्य गुणांशका अन्य मध्यम या उत्कृष्ट गुणांशके साथ बन्ध होता है। मध्यम तथा उत्कृष्ट गुणांशोंमें भी समान गुणांशवाले सदृश अवयवोंका पारस्परिक बन्ध नहीं होता। असमान गुणांशवाले सदृश अवयवोंका बन्ध होता है। दो, तीन, चार आदि गुणांश अधिक होने पर ही सदृशोंका बन्ध होता है।

---

१. एतदुक्तं भवति द्विगुणस्निग्धानां द्विगुणरूक्षैः, त्रिगुणस्निग्धानां त्रिगुणरूक्षैः द्विगुणस्निग्धानां, द्विगुणस्निग्धैः द्विगुणरूक्षैश्चेत्येवमादिषु नास्ति, बन्ध इति। यद्येवं सदृशानामपि किमर्थम्? गुणवैषम्ये सदृशानामपि बन्धनिषेधप्रतिपत्त्यर्थं सदृशग्रहणं क्रियते। सर्वार्थसिद्धि ५।३५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोनों परम्पराओंकी भिन्नता इस प्रकार है :–

१. भाष्यके अनुसार दोनों परमाणु जब जघन्य गुणवाले हों, तभी उनका बन्ध निषिद्ध है। जघन्यगुण और अजघन्यगुण वालोंका बन्ध निषिद्ध नहीं है। पर सर्वार्थ-सिद्धिके अनुसार एक जघन्यगुण परमाणुका दूसरे अजघन्यगुण परमाणुके साथ भी बन्ध नहीं होता।

२. "गुणसाम्ये सदृशानाम्"से भाष्यकारने यह फलितार्थ माना है कि विसदृशोंमें सम और विषम दोनों स्थितियोंमें बन्ध होता है। सर्वार्थसिद्धिकारने गुणांशोंकी समानता होने पर सदृश और विसदृश दोनोंका बन्ध नहीं माना है।

३. भाष्यानुसार "द्व्यधिकादिगुणानां तु" में "आदि" पदका "अर्थ तीन आदि संख्या लिया गया है, सर्वार्थसिद्धिकारके अनुसार "आदि" प्रकारवाची है।

४. "द्व्यधिकादि" सूत्रसे विहित बन्ध-विधान भाष्यानुसार केवल सदृशों पर लागू होता है, सर्वार्थसिद्धिमें वह विधान असदृश परमाणुओं पर भी लागू होता है।

सर्वार्थसिद्धिके अर्थकी दृष्टिसे यहां "गुणसाम्ये सदृशानाम्" सूत्र विचारणीय है। इसके अनुसार सदृश अथवा विसदृश दोनों स्थितियोंमें द्व्यधिक गुणांश होना आवश्यक है और यह विधान "द्व्यधिकादिगुणानां तु" से हो ही रहा है, अतः "गुणसाम्ये" यह सूत्र यहाँ अनावश्यक लगता है। सदृश शब्द भ्रान्तिमूलक है और इसी प्रभावसे कु०सजुको ओहिराने श्वेताम्बर पाठको मूल माना है।

षट्खण्डागमके अनुसार बन्ध–विचार

इस प्रसंगमें षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डगत पुद्‌गलबन्धके निरूपक सूत्रोंपर भी विचार किया जाता है—

वेमादा णिद्धदा वेमादा ल्हुक्खदा बंधो। ३२
समणिद्धदा समल्हुक्खदा भेदो। ३३
णिद्धणिद्धा ण वज्झंति ल्हुक्खल्हुक्खा य पोग्गला।
णिद्धल्हुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला ॥ ३४ ॥
वेमादा णिद्धदा वेमादा ल्हुक्खदा बंधो। ३५ ॥
णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण ल्हुखस्स ल्हुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स ल्हुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥ ३६ ॥

इन सूत्रोंका अर्थ इस प्रकार है–विसदृश स्निग्धता तथा विसदृश रूक्षता बन्ध है। समस्निग्धता तथा समरूक्षता भेद (बन्धका कारण नहीं) है। स्निग्धका स्निग्ध के साथ तथा रूक्षका रूक्षके साथ (सदृश) बंध नहीं होता है, किन्तु सदृश और विसदृश ऐसे स्निग्ध और रूक्ष पुद्‌गल परस्पर बन्धको प्राप्त होते हैं। द्विमात्रा स्निग्धता और द्विमात्रारूक्षता बन्ध है। दो गुण अधिक स्निग्धका स्निग्धके साथ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और दो गुण अधिक रूक्षका रूक्षके साथ तथा स्निग्ध पुद्गलका रूक्ष पुद्गलके साथ जघन्य गुणको छोड़कर सम अथवा विषम गुणांश होने पर बन्ध होता है।

षट्खण्डागमके उक्त प्रतिपादनके अनुसार पुद्गल-बंधकी स्थितिको निम्न-तालिका द्वारा स्पष्ट किया जाता है[1]—

क्रमांक	गुणांश	सदृशबंध	विसदृशबन्ध
१.	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
२.	जघन्य + एकादि अधिक	नहीं	नहीं
३.	जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	है।
४.	जघन्येतर + एकाधिकजघन्येतर	नहीं	है।
५.	जघन्येतर + द्वयधिकजघन्येतर	है।	है।
६.	जघन्येतर + त्र्यादि–अधिकजघन्येतर	नहीं	है।

सर्वार्थसिद्धिकार, तत्वार्थवार्तिककार और तत्वार्थश्लोकवार्तिककारके अनुसार पुद्गल बंधकी स्थितिकी तालिका इस प्रकार है—

क्रमांक	गुणांश	सदृशबन्ध	विसदृशबन्ध
१.	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
२.	जघन्य + एकादि अधिक	नहीं	नहीं
३.	जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	नहीं
४.	जघन्येतर + एकाधिकजघन्येतर	नहीं	नहीं
५.	जघन्येतर + द्वयधिकजघन्येतर	है	है
६.	जघन्येतर + त्र्यादि अधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं

भाष्यानुसारी तालिका इस प्रकार है—

क्रमांक	गुणांश	सदृशबन्ध	विसदृशबन्ध
१.	जघन्य + जघन्य	नहीं	नहीं
२.	जघन्य + एकादि अधिक	नहीं	है
३.	जघन्येतर + समजघन्येतर	नहीं	है
४.	जघन्येतर + एकाधिकजघन्येतर	नहीं	है
५.	जघन्येतर + द्वयधिकजघन्येतर	है	है
६.	जघन्येतर + त्र्यादिअधिकजघन्येतर	है	है

१. षट्खण्डागम खण्ड ५; भाग ६, पुस्तक १४, सूत्र ३२, ३३, ३४, ३५ व ३६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्त्वार्थसूत्रोंसे जो अर्थ व्यक्त होता है, वह इस प्रकार है—

१. स्निग्धता और रूक्षताके कारण पुद्गलोंका परस्परमें बन्ध होता है।
१. जघन्यगुणवाले पुद्गलोंका बन्ध नहीं होता।
३. शक्त्यंशोंके समान होने पर समान गुणवाले पुद्गलोंका भी बन्ध नहीं होता। (अर्थात् विसदृश गुणवाले पुद्गलोंका बन्ध होता है)।
४. किन्तु द्वयधिक गुणवाले सदृश पुद्गलोंका बन्ध होता है।
५. बन्ध होने पर दो अधिक गुणवाला पुद्गल दो कम गुणवाले पुद्गलको अपने रूप परिणमा लेता है। श्वेताम्बर पाठके अनुसार समगुणांश होने पर विसदृशबन्धमें कोई एक सम गुणांश दूसरे समगुणांशको अपने रूप परिणमा लेता है।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रमें निबद्ध पुद्गलबन्धकी प्रक्रियाकी अर्थसंगति दिगम्बर परम्पराको आर्षरूपमें मान्य षट्खण्डागमगत पुद्गलबन्धसे हो जाती है। अतः इस दृष्टिसे तत्त्वार्थसूत्रके पुद्गलबन्धको दिगम्बर मान्यताकेविरुद्ध नहीं कहा जा सकता। षट्खण्डागम यापनीयोंको भी मान्य था, अतः तत्त्वार्थसूत्रगत पुद्गल-बन्ध-नियम यापनीय सम्मत भी कहा जा सकता है।

परीषह-प्रकरण

तत्त्वार्थसूत्रकारने दश सूत्रोंमें परीषहोंका विचार किया है। उनके अनुसार जिनोपदिष्ट मार्गसे च्युत न होने और कर्मोंकी निर्जराके लिए परीषह सहन आवश्यक है। ये परीषह २२ हैं। सूक्ष्मसाम्पराय तथा छद्मस्थ वीतरागके चोदह परीषह तथा जिन भगवानके ११ परीषह कहे गये हैं। बादर साम्पराय तक सभी होते हैं।

ये परीषह भिन्न-भिन्न कर्मोंके उदयसे सम्बद्ध हैं। ज्ञानावरणकर्मके उदयसे प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते हैं। दर्शनमोहसे अदर्शन, अन्तरायसे अलाभ तथा चारित्र-मोहसे नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते हैं। शेष ग्यारह परीषह वेदनीय कर्मके उदयसे होते हैं।

परीषहोंसे सम्बद्ध इन सूत्रोंका यह सरलार्थ है।

पूज्यपाद स्वामी तथा आचार्य अकलंक आदिने छद्मस्थ वीतरागमें चौदहों परीषहोंके सद्भावका शक्तिमात्रकी विवक्षासे माना है। जिनेन्द्रके ११ परीषहोंके विधायक सूत्रके टीकाकारोंने विभिन्न अर्थ किये हैं। सर्वार्थसिद्धिमें "न सन्ति" और राजवार्तिक-"कैश्चित् कल्प्यन्ते" का अध्याहार किया गया है।

सर्वार्थसिद्धिके अनुसार मोहनीयकर्मकी सहायताके अभावमें क्षुधादि वेदनारूप भावपरीषहोंका अभाव होनेपर भी वेदनीय कर्मके उदयरूप द्रव्य-परीषहका

---

१. त० सू० ९/११ की वृत्ति.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सद्भाव मानकर जिन भगवानमें उपचारसे ११ परीषह कहे गये हैं। "ननु च मोहनीयोदयाभावसहायात् क्षुधादिवेदनाभावेऽपि द्रव्यकर्मसद्भावापेक्षया परीषहोपचार : क्रियते।"

राजवार्तिककारने उदाहरण दिया है कि जब मंत्रबलके द्वारा विषद्रव्यकी मारण-शक्तिका क्षय कर दिया जाता है, तब विषद्रव्य मरण करानेमें समर्थ नहीं होता। उसी प्रकार ध्यानरूपी अग्निसे घातियाकर्मोंका क्षय हो जाने पर वेदनीयकर्म अपना फल दिखानेमें असमर्थ हो जाता है।[1]

आधुनिक विद्वानोंमें पं० फूलचन्द्रजी शास्त्रीने परीषहोंपर विस्तारसे विचार किया है। उनका कथन है कि परीषहोंका विचार छठवें गुणस्थानसे आरंभ होता है, क्योंकि श्रमण्यपदका आरंभ यहीं से होता है। छठवें गुणस्थानमें प्रमादके सद्भाव से वेदनीयके निमित्तसे जो वेदनकार्य छठवें गुणस्थानमें होता है, वह आगे कथमपि संभव नहीं है।

परीषह-जयका अर्थ बाधाके कारण उपस्थित होने पर उनमें जाते हुए चित्तको रोकना और आश्यक कार्योंमें लगाना है। प्रमत्तसंयत गुणस्थानमें ही जीव चित्तवृत्तिको रोकनेके लिए उद्यमशील होता है। आगेके गुणस्थानोंमें चित्तका बाह्य कारणोंके रहते हुए भी उनमें रंचमात्र भी प्रवेश नहीं होता। अगले गुणस्थानोंमें न बाह्य कारण ही रहते हैं और न चित्तवृत्ति ही रहती है।

तत्त्वार्थसूत्रमें इन गुणस्थानोंमें केवल अन्तरंग कारणोंको ध्यानमें रखकर ही परीषहोंका निर्देश किया है। तत्त्वार्थसूत्रमें भी वे अन्तरंग कारण ज्ञानावरण, वेदनीय, दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय और अन्तरायके उदयरूप कहे गये हैं।

प्रज्ञा और अज्ञान परीषह ज्ञानावरणके उदयसे होते हैं व ज्ञानावरणका उदय क्षीणमोह गुणस्थान तक होता है। अदर्शनपरीषह दर्शनमोहनीयके उदयमें और अलाभपरीषह अंतरायके उदयमें होते हैं। इसलिये अदर्शनपरीषहका सद्भाव अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तथा अलाभपरीषहका सद्भाव क्षीणमोह गुणस्थानतक होता है।

क्षुधा आदि ग्यारह परीषह वेदनीयकर्मके उदयसे होते हैं। इसप्रकार अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानोंमें सूत्रकारने जो परीषहोंका सद्भाव कहा है उसमें उनकी दृष्टि कारणको ध्यानमें रखकर विवेचन करनेकी रही है। कार्यरूपमें ये परीषह छठवें गुणस्थानसे आगे नहीं होते।

सर्वार्थसिद्धिकारने पहले तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार व्याख्यान किया है, फिर विपर्यास

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ९।११ का वार्तिक।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करने वालेको यह बतानेके लिए कि केवलीके कार्यरूपमें ग्यारह परीषह नहीं होते, "न सन्ति" पदका अध्याहार कर दूसरा अर्थ फलित किया है।[1]

पण्डितजीका उक्त विवेचन सर्वार्थसिद्धि आदिकी भाँति दिगम्बर परम्पराके अनुसार परीषहोंकी व्याख्या है।

तत्त्वार्थसूत्रकारकी दृष्टिसे भी क्या इन सूत्रोंका यही आशय है, यह विचारणीय है।

डॉ० हीरालाल जैनने एक निबन्धमें इस विषयमें अपनी कुछ युक्तियाँ दी हैं। प्रकृतमें उपयोगी होनेसे हम उन्हें उद्धृत कर रहे हैं—

१. सूत्रोंमें वाक्यशेषकी कल्पना तभी की जा सकती है, जब वे अपने रूपमें अधूरे हों और बिना कुछ जोड़े उनका ठीक अर्थ ही न लगता हो। ऐसी अवस्थामें दो प्रकारसे वाक्यशेषकी कल्पना की जा सकती है। पूर्व निर्दिष्ट सूत्रोंसे शब्दोंकी अनुवृत्ति और दूसरे कदाचित् ऐसे शब्दोंकी कल्पना, जो सूत्रकारकी विशेष शैलीके अनुसार हों और वह शैली अनेक स्थलोंपर स्पष्ट दिखाई दे रही हो। प्रस्तुत स्थलमें "न सन्ति" तथा "कैश्चित् कल्प्यन्ते" अध्याहार करनेका कोई आधार दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत इन वाक्यांशोंके अध्याहारसे कतिपय आशंकाओंको जन्म मिलता है कि शेष ११ कौनसे हैं तथा दूसरी आशंका यह है कि सूत्रकारके समक्ष दो मतभेद थे, जिसका उन्होंने उल्लेख किया है तथा उनका मत उसीके पक्षमें है।

२. यदि हम कर्मसिद्धांतानुसार मोहनीय और वेदनीय कर्मोंके स्वरूपपर विचार करें, तो ज्ञात होता है कि वेदनीय कर्मकी स्थिति और अनुभागबन्ध मोहनीयकर्मोदयके अधीन हैं। जब मोहनीयकर्मका उदय मन्द मन्दतर होने लगता है, तब उसीके अनुसार वेदनीयकर्मका स्थितिबन्ध भी उत्तरोत्तर कम होता जाता है और जब सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तमें मोहके उदयका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब वेदनीयका स्थितिबन्ध भी समाप्त हो जाता है। यहाँ तक तो वेदनीयकर्म मोहनीयके अधीन है, किन्तु बंधे हुए कर्मकी सत्ता और उसके उदयमें वेदनीयकर्म मोहनीयसे सर्वथा स्वतंत्र है। मोहनीयका उदयाभाव ही नहीं उसकी सत्ताभावके क्षय हो जाने पर भी वेदनीयके बंधे हुए कर्मकी सत्ता जीवमें बनी रहती है और वह बराबर उदयमें आती रहती है एवं उसकी तीव्रता व मंदता उसके अनुभागोदयपर अवलम्बित रहती है। जब मोहनीय कर्मका उदय रहता है, तब उसके योगसे वेदनीयोदयके अभावमें रागद्वेष परिणतिका भी अभाव माना जायगा, पर उससे वेदनीयोदयजन्य शुद्ध वेदना कम नहीं होगी, अभाव तो बहुत दूरकी बात है। हाँ, वेदनीय कर्मका उदय जितनी मात्रामें कम होगा, उतनी ही मात्रामें क्षुधादि वेदनायें कम होती

---

१. सर्वार्थसिद्धिकी प्रस्तावना, पृ० २६ और आगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जावेगीं, किंतु वेदनाका सर्वथा अभाव तो तभी माना जा सकता है, जब उस कर्मके उदयका सर्वथा अभाव हो जाए। इस प्रकार कर्मोदय, वेदना और परीषहकी तीव्रता व मन्दताका तरतमभाव व अभाव उत्तरोत्तर आनुषंगिक रूपसे होता है।

३. जब वेदनीयकर्मकी फलदायिनी शक्ति मोहनीयकर्मके अधीन नहीं है, तब अन्य घातियाकर्मोंके अधीन तो हो ही कैसे सकती है ? दर्शनावरणकर्मके अभावसे उनकी समझदारी परिपूर्ण होगा एवं मोहनोय कर्मके अभावसे रागद्वेष प्रवृत्ति नहीं होगी, पर इनसे वेदनीयकर्मजन्य वेदनामें तो कोई परिवर्तन न होगा। अन्तरायकर्मके अभावसे न केवल वेदनीयके उदयमें कोई बाधा नहीं आयेगी, बल्कि दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन शक्तियोंके विकासकी रुकावट दूर हो जाएगी, अत एव यह कहना ठीक नहीं जान पड़ता कि घातियाँ कर्मोंके अभावमें वेदनीयकी फलदायिनी शक्ति नष्ट या जर्जरित हो जाती है। सूक्ष्मसाम्परायके अन्त समयमें जब ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायका स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त मात्र होता है, उसी समय वेदनीयका स्थितिसत्व थोड़ा नहीं असंख्यातवर्ष प्रमाण होता है, जो क्षीणकषाय और सयोगी एवं अयोगी गुणस्थानोंमें बराबर अपनी स्थितिके अनुसार अनुभागका उदय दिखाया करता है। सयोगी जिन विहार करते हुये कर्मप्रदेशोंकी निर्जरा करते हैं, पर वे भी उक्त कर्मस्थिति बहुत नहीं घटा पाते। उसकी स्थितिको आयुप्रमाण करनेके लिए उन्हें समुद्घात करना पड़ता है। वेदनीयका उदय, अभाव व मोक्ष आयुके अन्तके साथ ही हो पाता है।

४. शक्तिका सद्भाव होते हुये भी उसके उपयोगका अभाव वहीं माना जा सकता है, जहाँ उसका कोई प्रतिबन्धक कारण विद्यमान हो, वीतरागमें कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं है। साथ हो वेदनीयजन्य चर्यादि क्रियायें स्पष्टतः मानी ही जाती हैं।

५. मन्त्रबलसे विषद्रव्यका प्रभाव अवश्य नष्ट होता है, किन्तु घातियाँ कर्मोंके नाश और वेदनीय आदि अघातिया कर्मोंके उदयाभावमें उस प्रकारका कोई कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है।

६. केवलीके योग-निराध रूप ध्यान वास्तविक होता है, इस दृष्टांतमें भी उपचार घटित नहीं होता। दार्ष्टान्तमें तो बिलकुल ही नहीं होता। वेदनीयकर्मका उदय होते हुए द्रव्यपरीषहका अभाव और वेदनारूप भावपरीषहका अभाव कैसे घटित होगा ?

इस प्रकार टीकाकारोंका विवेचन न तो सूत्रकारके वचनोंकी सार्थकता सिद्ध करनेमें समर्थ होता है और न कर्मसिद्धान्तके नियमोंके अनुसार बैठता है।[1]

---

१. "क्या तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके टीकाकारोंका अभिप्राय एक ही है ?" —शीर्षक निबन्ध, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १०, किरण २।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'एकादश जिने' सूत्रसे यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूत्रकार जिनके ११ परीषह मानते हैं। यदि वे जिनके ११ परीषह नहीं मानते, तो वे ऐसे सूत्रकी रचना नहीं करते, जो उनके अभिप्रायके विपरीत हो और विवादका कारण बने। वे अपने अभिप्रायको स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित करते। उनके परीषह-विषयक सूत्रोंका अर्थ यही है कि जिनके ११ परीषह होते हैं और यह मान्यता दिगम्बर परम्पराकी विरोधिनी है।

तत्त्वार्थसूत्रकी श्वेताम्बर श्रुतसे तुलना करनेपर प्रतीत होता है कि परीषहोंका विचार श्वेताम्बरश्रुतगत विचारसे भिन्न है। वहाँ 'दंसणपरीसह' अथवा 'सम्मत्त-परीसह' मानी गयी है, जबकि तत्त्वार्थसूत्रमें अदर्शन परीषहका उल्लेख है। भद्रबाहुने उत्तराध्ययन नियुक्तिमें एक जीवके एक समयमें अधिक-से-अधिक २० परीषहोंका सद्भाव स्वीकार किया है, तत्त्वार्थसूत्रमें एक समयमें १९ परीषह माने गये हैं।

यापनीय अपराजितसूरिको २२ परीषह मान्य हैं।[1] तत्त्वार्थसूत्रके परीषह सम्बन्धी विचार दिग० तथा श्वे० परम्पराके विरुद्ध है। परीषहोंकी संख्या २२, एक समयमें १९ परीषह मानना व एक परीषहका नामभेद ये तीन बातें श्वेताम्बर परम्पराके विरुद्ध हैं। इससे इनको यापनीय होना प्रतीत होता है।

कालद्रव्य

तत्त्वार्थसूत्रसे प्रतीत होता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार कालको स्वतंत्र द्रव्य मानने/न माननेके विषयमें तटस्थ हैं। श्वेताम्बर पाठ 'कालश्चेत्येके' (५/३८) तो निश्चित रूपसे कालके स्वतंत्र द्रव्यत्वके विषयमें सूत्रकारको तटस्थताको द्योतित करता है। दिगम्बर सूत्रपाठ 'कालश्च'के द्वारा भी सूत्रकारकी मान्यताका विश्लेषण करें, तो कह सकते हैं कि सूत्रकार इस विषयमें तटस्थ थे।

अजीवद्रव्योंके वर्णनसे पाँचवें अध्यायका आरम्भ होता है। यहाँ प्रथम सूत्रमें धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन चारोंको अजीवकाय कहा गया है। यहाँ कालके कायत्वका अभाव होनेसे उसका परिग्रहण नहीं किया गया। 'द्रव्याणि' व 'जीवाश्च' इन दोनों सूत्रोंके उपरान्त कालद्रव्यका उल्लेख संभव तथा अवसरप्राप्त था, किन्तु यहाँ कालद्रव्यका वर्णन नहीं है।

जीवद्रव्यका वर्णन पहलेके अध्यायोंमें हो चुका। पाँचवेंमें कालव्यतिरिक्त चार अजीवद्रव्योंका वर्णन कर चुकनेके पश्चात् सूत्रकार द्रव्यका सामान्यलक्षण करते हैं—'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'।

१. भगवती आराधना–गाथा ८४ की व्यख्या क्षुधादयो बाधविशेषाः द्वाविंशतिप्रकाराः।

७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके उपरान्त वे कालद्रव्यका वर्णन करते हैं। यदि वे कालको भी पृथक् स्वतंत्र द्रव्य मानते, तो उसका उल्लेख भी अजीवद्रव्योंकी गणनाके साथ अर्थात् 'अजीवकाया धर्माधर्माकाश-पुद्गलाः'के तुरन्त बाद 'द्रव्याणि' सूत्रके पहले करते अथवा 'जीवाश्च'के साथ अथवा तुरन्त बाद करते। इतना नहीं तो कम-से-कम द्रव्यका सामान्यलक्षण करनेके पूर्व अवश्य करते।

'आ आकाशादेकद्रव्याणि', 'निष्क्रियाणि च' इन सूत्रों द्वारा धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्योंको एक-एक तथा निष्क्रिय कहा है। कालद्रव्य भी निष्क्रिय है, पर उसको निष्क्रियताका सूत्रोंमें कहीं संकेत नहीं है। द्रव्योंके प्रदेशोंकी संख्या विचार करते समय 'नाणोः' सूत्रके द्वारा अणुको अप्रदेशी कहा है। काल भी अप्रदेशी है, परन्तु उसका उल्लेख नहीं है। कालद्रव्यकी इस उपेक्षासे प्रतीत होता है कि वे काल स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानते और उनकी कालद्रव्यके सम्बन्धमें की गयी उपेक्षासे यह भी लगता है कि तत्त्वार्थसूत्रकार यापनीय परम्पराके हो सकते हैं क्योंकि वे भी आगम-ग्रन्थोंको मानते थे। और अवशिष्ट आगमोंको प्रमाण मानने वाली श्वेताम्बर परम्परामें ये कालको स्वतंत्र द्रव्य मानने तथा न माननेकी दोनों परम्पराएँ हैं।

यहाँ यह ध्यातव्य है भगवती आराधना तथा विजयोदयामें कालको स्वतंत्र द्रव्य माना गया है।[1]

तीर्थङ्कर प्रकृतिके बन्धके कारण

तीर्थङ्कर प्रकृति-बन्धके कारणोंमें दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें काफी मतभेद है। दिगम्बर परम्परा १६ कारण मानती है तथा श्वेताम्बर परम्परा २० कारण मानती हैं। षट्खण्डागमगत बंधसामित्तविचयमें संख्यापूर्वक तीर्थङ्करप्रकृतिके बन्धके कारणोंका नाम–निर्देश इस प्रकार किया गया है :—

दंसणविसुज्झदाए विणयसंपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जधाथामे तथा तवे, साहूणं पासुअपरिचागदाए, साहूणं समाहिसंधारणाए, साहूणं वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए, अरहंतभत्तीए, बहुसुदभत्तीए, पवयणभत्तीए, पवयणवच्छलदाए, पवयणप्पभावणदाए, अभिक्खणं अभिक्खणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति।[2]

श्वेताम्बर आगम 'नायाधम्मकहाओके अनुसार तीर्थङ्करत्वके २० कारण ये हैं—

1. भगवती आराधना, गाथा ३६, मलाराधना, सं० भागचन्द पाटनी, कलकत्ता, १९७६।
2. षट्खण्डागम खण्ड ३, पुस्तक ८, सूत्र ४१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अरहंत-सिद्ध-पवयण-गुरुथेर-बहुस्सुए तवस्सीसुं।
वच्छलया य तेसिं अभिक्खनाणोवओगो य॥
दंसण-विणए आवस्सए सीलव्वए निरइयारं।
खणलव-तवच्चियाए वेयावच्चे समाही य॥
अप्पुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणा॥
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो॥[1]

तत्त्वार्थसूत्रमें तीर्थङ्करनामकर्मके बन्धके कारण इस प्रकार दिये हैं—'दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्त्यकरण-मर्हदाचार्य-बहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थङ्करत्वस्य।[2]

तत्त्वार्थसूत्रकारके तीर्थङ्करप्रकृतिके बन्धके ये कारण दिगम्बर परम्परासे मेल खाते हैं। दिगम्बरश्रुत षट्खण्डागममें भी यहीं १६ कारण प्रतिपादित हैं। तुलनाके लिये तत्त्वार्थसूत्र, षट्खण्डागम और नायाधम्मकहाओकी तालिका प्रस्तुत है—

तत्त्वार्थसूत्र	षट्खण्डागम	नायाधम्मकहाओ
१. दर्शनविशुद्धि	१. दर्शनविशुद्धता	१. दर्शननिरतिचारिता
२. विनयसम्पन्नता	२. विनयसंपन्नता	२. विनयनिरतिचारिता
३. शीलव्रतानतिचार	३. शीलव्रतनिरतिचारिता	३. शीलव्रतनिरतिचारिता
४. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग	४. अभीक्ष्ण-अभीक्ष्णज्ञानोपयोगयुक्तता	४. अभीक्ष्णज्ञानोपयोग
५. संवेग	५. लब्धिसंवेगसंपन्नता	५. त्यागसमाधि
६. शक्त्यनुसार त्याग	६. साधुप्रासुकपरित्यागता	६. तपःसमाधि
७. शक्त्यनुसार तप	७. यथाशक्ति तप	७. वैयावृत्यसमाधि
८. साधुसमाधि	८. साधुसमाधिसंधारणता	८. अरिहंतवत्सलता
९. वैयावृत्यकरण	९. साधुवैयावृत्ययोगयुक्तता	९. गुरुवत्सलता
१०. अर्हद्भक्ति	१०. अरहंतभक्ति	१०. बहुश्रुतवत्सलता
११. आचार्यभक्ति	११. बहुश्रुतभक्ति	११. श्रुतभक्ति
१२. बहुश्रुतभक्ति	१२. प्रवचनभक्ति	१२. आवश्यकनिरतिचारिता
१३. प्रवचनभक्ति	१३. आवश्यकापरिहीनता	१३. प्रवचनप्रभावना

१. नायाधम्मकहाओ अ० ८, सू० ६४ तथा आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १७९-८१
२. तत्त्वार्थसूत्र ६|२४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्त्वार्थसूत्र	षट्खण्डागम	नायाधम्मकहाओ
१४. आवश्यकापरिहाणि	१४. प्रवचनप्रभावना	१४. प्रवचनवत्सलता
१५. मार्गप्रभावना	१५. प्रवचनवत्सलता	१५. क्षणलवसमाधि
१६. प्रवचनवत्सलत्व	१६. क्षणलवप्रतिबोधनता	१६. सिद्धवत्सलता
		१७. स्थविरवत्सलता
		१८. तपस्विवत्सलता
		१९. व्रतनिरतिचारिता
		२०. अपूर्वज्ञानग्रहण.

तत्त्वार्थसूत्रमें प्रतिपादित आचार्यभक्ति षट्खण्डागममें उपलब्ध नहीं है, इसके स्थानपर क्षणलवप्रतिबोधनता दिया गया है, जिसका अर्थ धवलाकारके अनुसार काल-विशेषमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, व्रत और शील गुणोंको उज्जवल करना है ।[1] नाया-धम्मकहाओमें छह कारण तो विलकुल ही पृथक् और अधिक हैं, शेष भी पूर्णतया नहीं मिलते हैं, पर तत्त्वार्थसूत्रमें प्रतिपादित तीर्थङ्करप्रकृतिके कारण षट्खण्डागमके प्रायः अनुसार हैं, पूर्णतया वे हो नहीं ।

श्रीविजयोदया टीकामें अपराजितसूरिने दर्शनविशुद्धि आदिको तीर्थङ्करत्वप्राप्तिका कारण बताया है,[2] । यद्यपि यहाँ उन्होंने कारणोंकी संख्या नहीं दी है, तथापि "दर्शन-विशुद्धयादि' शब्दके उल्लेखसे प्रतीत होता है, उन्हें तत्त्वार्थसूत्र अथवा दिगम्बर सम्प्रदायसम्मत १६ कारण ही मान्य होंगे, श्वेताम्बरमान्य बीस कारण नहीं, क्योंकि श्वेताम्बरश्रुत नायाधम्मकहाओ आदिमें तीर्थङ्करपद प्राप्तिका प्रथमकारण अरिहंत-वत्सलता दिया गया है । इससे भी अनुमानित होता है कि तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर ग्रंथ नहीं है । इसके तीर्थंकरप्रकृतिबन्धके कारण दिगम्बर तथा यापनीय दोनों परंपराओं-के अनुकूल हैं ।

बाह्य तप

व्याख्याख्याप्रज्ञप्तिमें बाह्य तपके निम्नलिखित छह भेद बतलाये गये हैं—

१. "खणलवा णाम कालविसेसा । सम्मद्दंसण-णाण-वद-सील-गुणाणमुज्जालणं, कलंकपक्खालणं संधुक्खणं वा पडिवुज्झणं णाम, तस्स भावो पडिवुज्झणा ।"

२. भगवती आराधना, गा० १७१२ की टीका ।

कल्लाणपावगाणं उपाये विचिणादि जिणमदमुवेच्च ।
विचिणादि वा अवाए जीवाण सुभेय असुभे य ॥

टीका—कल्लाणपवागाणं उपाये तीर्थङ्करपददायकानां दर्शनविशुद्धयादीनामुपायान् विचिनोति जिनमतं जिनकथितं उपदेशः ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

5293

अणसण ऊणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो पडिसंलीणता वज्झो तवो होई ॥[1]

निर्युक्तिकार भद्रबाहुने दशवैकालिकनिर्युक्तिमें बाह्य तपोंके यही छह भेद मानें हैं—१-अनशन, २-ऊनोदर, ३- वृत्तिपरिसंख्यान, ४-रसत्याग, ५-कायक्लेश और ६-संलीनता।

तत्त्वार्थसूत्रकारने प्रतिसंलीनता (संलीनता) के स्थानपर विविक्तशय्यासन तप माना है।[2] मूलाचार और भगवती आराधना नामक ग्रंथोंमें यही तत्त्वार्थसूत्रोक्त छह बाह्य तप बताये गये हैं।[3]

सम्यक्त्व, हास्य, रति व पुरुषवेदको पुण्यरूपता

भाष्यसम्मत सूत्रपाठ तथा उसके भाष्यमें सम्यक्त्व, हास्य, रति तथा पुरुषवेदको पुण्यरूप माना गया है।

सद्वेद्य-सम्यक्त्व-हास्य-रति-पुरुषवेद-शुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्।(८/२६)

श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों ही परम्पराओंमें सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेदको पुण्य प्रकृति नहीं माना गया है, किन्तु यापनीय इन्हें पुण्यरूप मानते हैं। अपराजितसूरिने इन्हें पुण्यरूप माना है। तथा तत्त्वार्थसूत्रका यही भाष्यसम्मत सूत्रपाठ उद्‌धृत किया है।[4]

सूत्रकारको यापनीय सिद्ध करनेवाला यह एक प्रबल प्रमाण है। भाष्यकार स्वयं श्वेताम्बर परम्पराके विद्वान हैं तथा उक्त चारोंकी पुण्यरूपता श्वेताम्बर परम्पराको भी इष्ट नहीं है तथापि उन्होंने इस सूत्रका संग्रह किया है, क्योंकि उन्हें यही सूत्रपाठ उपलब्ध हुआ होगा।

---

१. व्याख्याप्रज्ञप्ति श०, २५ उ० ७, सू० ८।

२. त० सू० ९।१८।

३. भगवती—आराधना गा० २०८।

अणसण अवमोयरियं चाओ य रसाणं वुत्तिपरिसंखा।
कायकिलेसो सेज्जा य विवित्ता बाहिरतवो सो ॥

४. विजयोदया, पृ० ८१४, गाथा १८२८ की व्याख्या

"सद्वेद्यं सम्यक्त्वं रतिहास्यपुंवेदा शुभे नामगोत्रे शुभंचायुः पुण्यं, एतेभ्योऽन्यानि पापानि।"

मूलाचारमें भी सम्यक्त्वको पुण्यरूप कहा गया है—

सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेंहि।
जो परिणदो स पुण्णो तव्विवरीदेण पावं तु ॥ ५/३७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यापनीय टीकाका अस्तित्व

उपर्युक्त ८/२६ सूत्रकी वृत्तिमें सिद्धसेनगणिने लिखा है कि इस मन्तव्यको (अर्थात् उक्त चारोंको पुण्यरूप माननेका) रहस्य सम्प्रदायका विच्छेद होनेसे हमें मालुम नहीं पड़ता। चौदहपूर्वधारी जानते होंगे। उन्होंने "अपरस्त्वाह" कहकर इन चारोंको पुण्य प्रकृति मानने वाली कारिकाएँ उद्धृत की हैं—

रति-सम्यक्त्व-हास्यानां, पुंवदेस्य च पुण्यताम्।
मोहनीयमिति भ्रान्त्या केचिन्नेच्छन्ति तच्च न॥
शुभायुर्नामगोत्राणि सद्वेद्यं चेति चेन्मतम्।
सम्यक्त्वादिषु तथैवास्तु प्रसादनमिहात्मनः॥
मोहो रागः स च स्नेही भक्तिरागः स चार्हति।
रागस्यास्य प्रशस्तत्वान्मोहत्वेनापि मोहता॥

ये कारिकाएँ तत्त्वार्थसूत्रकी किसी यापनीय टीकाकी ही हो सकती हैं, जो रति, सम्यक्त्व, हास्य और पुरुषवेदको पुण्यरूप मानती है।

श्रावकके बारह व्रतोंके अतिचारोंका वर्णन

तत्त्वार्थसूत्रकारने ही सर्वप्रथम श्रावकके बारह व्रतोंके पाँच-पाँच अतिचारोंका वर्णन किया है। इससे पूर्व दि० परम्परामें अतिचारोंका वर्णन किसीने नहीं किया। ये अतिचार श्वेताम्बर आगम उपासकदशासूत्रमें मिलते हैं। उपासकदशासूत्रकी भाँति ही यहाँ आठ मूलगुणोंका भी कोई वर्णन नहीं है।

श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंका अनुल्लेख

सभी दिगम्बर श्रावकाचारोंमें ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्दने तो चारित्तपाहुडमें श्रावकाचारका वर्णन प्रतिमाओंके आधार पर ही किया है।

परन्तु यापनीयग्रन्थों-पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, पउमचरिय आदिमें ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन नहीं है। भगवती आराधना और उसकी यापनीय टीकामें जहाँ प्रसंगवशात् श्रावकाचारका वर्णन है, वहाँ भी श्रावककी प्रतिमाओंका उल्लेख नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्रमें भी श्रावककी प्रतिमाओंका उल्लेख नहीं है, किन्तु श्वेताम्बर आगम उपासकदशासूत्रमें ग्यारह प्रतिमाओंका वर्णन है।

उक्त सूत्रोंपर विचार करनेपर हमारा झुकाव तत्त्वार्थसूत्रकारको यापनीय माननेकी ओर है, क्योंकि परीषह-प्रकरण तथा कालद्रव्यके प्रकरणके विवेचनमें हमने पाया कि सूत्रकार जिनके ११ परीषह मानते हैं और कालद्रव्यके प्रति अपनी तटस्थता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रदर्शित करते हैं, जबकि दिगम्बर परम्परा एकमतसे जिनके ११ परोपहका निषेध करती है।

इन्हें श्वेताम्बर परम्पराका भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इनके परीषह विषयक विचार श्वेताम्बरश्रुतगत विचारोंसे भिन्न हैं। तीर्थङ्करप्रकृतिके कारणोंमें भी भिन्नता है। बाह्यतपके भेद भी श्वेताम्बरमान्य नहीं है।

भाष्यसम्मत सूत्रपाठ जिसमें सम्यक्त्व, हास्य, रति तथा पुरुषवेदको पुण्यरूप प्रतिपादित किया गया है, सूत्रकारकी यापनीयताका पोषक है।

"एकादश जिने" (सूत्र) इसके दिगम्बर न होनेका प्रमाण माना जाना चाहिये। साथ ही पुद्गल बन्धके नियामक सूत्रोंकी जो व्याख्या पूज्यपादने की है, उससे भी यही प्रतीत होता है, सर्वार्थसिद्धिकारके अनुसार दिगम्बर परम्परामें पुद्गल-बन्धके नियम अन्य ही थे, और उन्हीं नियमोंका प्रतिपादन इन सूत्रों द्वारा करनेका उन्होंने प्रयत्न किया है।

तत्त्वार्थभाष्यकी स्वोपज्ञतापर विमर्श

श्वेताम्बर परम्परा तत्त्वार्थभाष्यको स्वोपज्ञ मानती है। पं० सुखलाल निम्न-लिखित कारणोंसे भाष्यको स्वोपज्ञ मानते हैं—

१. भाष्यके प्रारंभमें जो ३१ कारिकायें हैं, वे मूल सूत्ररचनाके उद्देश्यको जतलानेकी पूर्ति करती हुई मूलग्रन्थको ही लक्ष्य करके कही गयी मालुम होती हैं। ग्रन्थकारने अन्तमें सूत्र और भाष्यकार दोनोंके कर्ता रूपसे अपना परिचय देनेवाली प्रशस्ति भी लिखी है।

२. प्रारम्भिक कारिकाओंमें तथा कुछ स्थानों पर भाष्यमें भी "वक्ष्यामि" "वक्ष्यामः" आदि प्रथम पुरुषका निर्देश है।

३. किसी भी स्थलपर सूत्रका अर्थ करनेमें शब्दोंकी खींचातानी नहीं हुई है। कहीं भी मूल-सूत्रका अर्थ करनेमें संदेह या विकल्प करनेमें नहीं आया। सूत्रकी किसी दूसरी व्याख्याको मनमें रखकर सूत्रका अर्थ नहीं किया गया और न कहीं पाठभेदका अवलम्बन किया गया है।

४. कोई ऐसे प्राचीन या अर्वाचीन आचार्य नहीं पाये जाते, जिन्होंने दिगम्बर आचार्योंकी भाँति भाष्यको अमान्य रखा हो।[1]

पं० नाथूरामजी प्रेमीने भी प्रायः इन्हीं कारणोंसे भाष्यको स्वोपज्ञ माना है।[2]

१. तत्त्वार्थसूत्र हिन्दी विवेचन सहित—"उमास्वातिकी परम्परा" (तृतीय संस्करण) १९७६, पृ० १५ और आगे।

२. जैन साहित्यका इतिहास : द्वितीय संस्करण : उमास्वातीका सभाष्यतत्त्वार्थसूत्र, पृ० ५२१ और आगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाष्यकी स्वोपज्ञताका खण्डन पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार[1], पं० लाल-बहादुरजी शास्त्री[2] तथा पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री[3] आदि विद्वानोंने प्रमाणपुरस्सर किया है।

स्व० पं० जुगलकिशोर मुख्तारने श्वेताम्बर विद्वान रत्नसिंहके टिप्पणका विवरण देते हुये बताया है कि श्वे० परम्परामें भाष्यको असंदिग्धरूपसे स्वोपज्ञ नहीं माना गया है। टिप्पणकार भाष्यकार और सूत्रकारको पृथक् समझते थे।

टिप्पणके अन्तमें दुर्वादापहार रूपसे जो सात पद्य दिये हैं, उनमेंसे प्रथम पद्य और इसके टिप्पणमें साम्प्रदायिक कट्टरताका कुछ प्रदर्शन करते हुये उन्होंने इन शब्दोंमें भाष्यकारका स्मरण किया है—

"प्रागैवेतद्दक्षिणभषणगणादास्यमानमिति मत्त्वा।
त्रातं समूलचुलं सं भाष्यकारश्चिरं जीयात्॥

टिप्पण—दक्षिण सरलोदाराविति हैमः अदक्षिणा असरलाः
स्ववचनस्यैव पक्षपातमलिना इति यावत्त एव भषणा
कुक्कुरास्तेषां गणैरादास्यमानं ग्रहिष्यमानं स्वायत्ती-
करिष्यमाणमिति यावत्तथाभूतमिवैतत्तत्त्वार्थशास्त्रं
प्रागेव पूर्वमेव मत्त्वा ज्ञात्वा येनेति शेषः।
सहमूलचूलाभ्यामिति समूलचूलं त्रातं रक्षितं स कश्चिद्
भाष्यकारो भाष्यकर्ता चिरं दीर्घं जीयाज्जयं
गम्यादित्याशीर्वचोऽस्माकं लेखकानां निर्मलग्रन्थरक्षकाय
प्राक्वचनचौरिकायामशक्याय इति।"

टिप्पणकार उस भाष्यकारकी मंगलकामना करते हैं, जिसने समूलचूल तत्त्वार्थसूत्रकी रक्षा की। इससे यह भी ध्वनित है कि भाष्यकी रचना उस समय हुई, जब कि तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि आदि कुछ प्राचीन दिगम्बर टीकायें बन चुकी थीं और उनके द्वारा दिगम्बर परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका अच्छा प्रचार प्रारम्भ हो गया था। उस प्रचारको देखकर किसी श्वेताम्बर विद्वानको भाष्य रचनेकी प्रेरणा मिली है।

पं० फूलचन्द्रजी शास्त्रीने इस सटिप्पण प्रतिके भाष्यसम्मत तत्त्वार्थसूत्रसे पाठभेद तथा अधिक सूत्रोंका उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—

---

१. श्वेताम्बर तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यकी जाँच" : जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : प्रथम सं० १९५६।
२. "क्या भाष्य स्वोपज्ञ और उसके कर्ता यापनीय हैं?" जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १३, किरण।
३. सर्वार्थसिद्धिकी प्रस्तावना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिमें पाये जाने वाले अधिक सूत्र ये हैं—

तैजसमपि (२/५०)। धर्मा वंशाशैलांजनारिष्टा माघव्या माघवीति च। (३/२) उच्छ्वासाहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्याः (४/२३)। स द्विविधः (५/२४)। सम्यक्त्वं च (६/२१)। धर्मास्तिकायाभावात्। (१०/७)

तत्त्वार्थभाष्यकार इन्हें सूत्ररूपमें स्वीकार नहीं करते। साथ ही तत्त्वार्थभाष्यके मुख्य टीकाकार हरिभद्रसूरि और सिद्धसेनगणि भी इन्हें सूत्र नहीं मानते, फिर भी टिप्पणकारने इन्हें सूत्र माना है। यदि हम इनके सूत्र होने और न होनेके मतभेद की बातको थोड़ी देरको भुला भी दें, तो भी इनके मध्यमें पाया जाने वाला "सम्यक्त्वं च" सूत्र किसी भी अवस्थामें भुलाया नहीं जा सकता। तत्त्वार्थभाष्यमें तो इसका उल्लेख ही नहीं, अन्य श्वेताम्बर आचार्योंने भी इसका उल्लेख नहीं किया है, फिर भी टिप्पणकार किसी पुराने आधारसे इसे सूत्र मानते हैं। इतना ही नहीं वे इसे मूल सूत्रकारकी ही कृति मान कर चलते हैं।

यह तो हुई सूत्रभेदकी चरचा। अब इसके एक पाठभेदको देखिये। दिगम्बर परम्पराके अनुसार तीसरे अध्यायमें सात क्षेत्रोंके प्रतिपादक सूत्रके आदिमें "तत्र" पाठ उपलब्ध नहीं होता, किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमान्य उक्त सूत्रके प्रारम्भमें "तत्र" पद उपलब्ध होता है। फिर भी टिप्पणकार यहाँ तत्त्वार्थभाष्यमान्य पाठको स्वीकार न कर दिगम्बर परम्परा मान्य पाठको स्वीकार करते हैं।[1] इस टिप्पणसे यह स्पष्ट है श्वे० परम्परामें भी भाष्यकारको असंदिग्ध रूपसे तत्त्वार्थसूत्रकार नहीं कहा गया है।

भाष्यकी स्वोपज्ञताके प्रमाणमें दी जाने वाली युक्तियोंमें महत्त्वपूर्ण युक्ति यही दी गयी है कि सूत्रार्थके साथ भाष्यके अर्थमें कहीं विरोध या असंगति नहीं है। मुख्तारजीको इस पर विचार करने पर कतिपय असंगतियाँ प्राप्त हुई हैं।

१. "इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्या पूर्वस्य भेदाः।"

इस ६/६ सूत्रके भाष्यमें भाष्यकारने उक्त क्रमका उल्लंघन कर अव्रत, कषाय और इन्द्रिय इस क्रमसे व्याख्यान किया है।

२. "इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपालानीक-
प्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः।"

---

१. सर्वार्थसिद्धि प्रस्तावना पृ० २२-२३ तथा "तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी एक सटिप्पण प्रति" नामक निबन्ध—जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश। लेखक पं० जुगलकिशोर मुख्तार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त० सू० ४/४के भाष्यमें इनके अतिरिक्त अनीकाधिपति नामकभेद अधिक गिनाया है। इसके विषयमें सिद्धसेनगणिका कथन है कि "अनीक और अनीकाधिपतियोंको एकताका विचार करके ही ऐसा विवरण किया है, अन्यथा दशकी संख्याका विरोध आता है।" पर यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि यदि देव और देवाधिपति एक ही हैं, तो फिर इन्द्रका पृथक्ग्रहण अनावश्यक है तथा भाष्यकारने अनीक और अनीकाधिपति दोनोंकी अलग-अलग व्याख्या की है।

अनीकाधिपतयो दण्डनायकस्थानीयाः अनीकान्यनीकस्थानीयान्येव।

३. "सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च" ४/२६ सूत्रमें लौकान्तिक देवोंके नौ भेद बताये हैं, परन्तु भाष्यकारने पूर्व सूत्रके भाष्य तथा इस सूत्रके भाष्यमें भी लौकान्तिक देवोंके आठ भेद बताये हैं—

ब्रह्मलोकं परिवृत्याष्टासु दिक्षु अष्टविकल्पा भवन्ति।
तद्यथा—एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य
पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिणं भवन्ति यथासंख्यम्।

पं० सुखलालजीने दिगम्बर पाठके आधार पर "मरुत" शब्दको प्रक्षिप्त माना है।

भाष्यकी स्वोपज्ञता तथा भाष्यकारके यापनीयत्वका खण्डन करते हुये पं० बहादुर शास्त्रीने भाष्यकी स्वोपज्ञतामें दी जाने वाली इस युक्तिके विषयमें यह लिखा है कि भाष्यमें प्रथम पुरुष का निर्देश है—

१. भारतीय टीकाकारोंकी शैली रही है कि उन्होंने मूल ग्रंथकारोंमें अपनेको मिला-सा दिया है। कलाकी दृष्टिसे यह उचित भी है। विषयका प्रतिपादन सिलसिलेवार और सुसंबद्ध होना चाहिये। मूल ग्रन्थकार जिस बातको आगे रखना चाहता है, चतुर टीकाकारका कर्त्तव्य है कि उस विषयकी चर्चा वह पहलेसे छेड़ दे और दोनों कथनोंको इस तरह मिला दे कि मानों टीकाकारको यही कहना था।

समस्यापूरकका जो स्थान है, उससे मिलता-जुलता ही टीकाकारका स्थान है। आचार्य विद्यानन्दने अकलंककी अष्टशतीपर अष्टसहस्री-टीका इसी नमूने पर लिखी है। पूज्यपाद, अकलंकदेव, हरिभद्र आदि सभी टीकाकारोंकी टीकाओंमें प्रथमपुरुषपरक निर्देश मिलते हैं।

२. इसके अतिरिक्त भाष्यमें अन्य पुरुषकी क्रियाओंके प्रयोग भी बहुलतासे मिलते हैं। "आद्ये परोक्षम्" (१/११) का भाष्य करते हुये भाष्यकार कहते हैं "आदौ भवमाद्यम् सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्रथमद्वितीये शास्ति।" यहाँ 'शास्ति' पदप्रयोगसे सूत्रकारकी भिन्नता सूचित होती है। स्वयं सिद्धसेनगणि इस पर टीका करते हैं—शास्तीति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रन्थकार एव द्विधा आत्मानं विभज्य सूत्रकार-भाष्यकाराकारेणैवमाह-शास्तीति सूत्रकार इति शेष अथवा पर्यायभेदात् पर्यायिणो भेदः इत्यन्यः सूत्रकारपर्यायः अन्यश्च भाष्यकारपर्याय इत्यतः सूत्रकारपर्यायः शास्तीति ।"

भाष्यकार द्वारा स्वयं सूत्रकारसे अपना पार्थक्य प्रकट करने पर भी सिद्धसेनगणिने पूर्वाग्रहवश इस भाँतिका समाधान किया है ।

३. औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि । (२/३७)

सूत्रका भाष्य इसी अध्यायके उन्चासवें सूत्रमें किया है । सिद्धसेनगणिको भी अन्यत्र कथनीय बातके अन्यत्र कथनके कारण इसे असूत्रार्थं कहकर आचार्यकी भूल स्वीकार करनी पड़ी है ।

४. सूत्रार्थोमें सन्देह भी विद्यमान है ।

"औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः" (२/५२)

भाष्यकार सूत्रमें उत्तमपुरुषके अर्थके लिये सदिग्ध रहे हैं । अपने संदेहका निवारण नहीं होते देख उन्होंने सूत्रका अर्थ दोनों तरहसे किया है, अन्यथा कोई कारण नहीं कि सामान्य अर्थ करते समय तो सूत्रस्थ अन्य पदोंके साथ "उत्तमपुरुष" का अर्थ कर दिया जाय और विशेष अर्थ करते समय सूत्रस्थ सम्पूर्ण पदोंका अर्थ करते हुये उत्तमपुरुषको छोड़ दिया जाय ।

५. ३/१ सूत्रमें 'घन' शब्द की सार्थकता बतलाते हुये भाष्यकार लिखते हैं—

"अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा अति सिद्धे घनग्रहणं क्रियते तेनायमर्थः प्रतीयते घनमेवाम्बु अधः पृथिव्याः ।' यहाँ "तेनायमर्थः प्रतीयते" यह सन्देहपरक वाक्य उनके पार्थक्यको स्पष्ट घोषित कर रहा है ।

ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च । ४/१३

यहाँ "सूर्याश्चन्द्रमसो"का शेष पदसे समास न करने तथा आर्षविरुद्ध क्रम भंग करनेकी आपत्तिका समाधान करते हुये भाष्यकार लिखते हैं—असमासकरणमार्षाच्च सूर्याश्चन्द्रमसो क्रमभेदः कृतः यथा गम्येतैतदेवैषामूर्ध्वनिवेशंआनुपूर्व्यमिति ।

यहाँ भी "यथा गम्येत्" शब्द सन्देहको द्योतित करता है ।[1] पं. फूलचन्द्रजी शास्त्रीका कथन है कि "सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठको उत्तरकालवर्ती सभी दिगम्बर टीकाकार प्रायः आधार मानकर चले हैं । किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है । हरिभद्रसूरि और सिद्धसेन गणिने तत्त्वार्थभाष्यके आधारसे अपनी टीकाएँ लिखी अवश्य हैं और इन दोनों आचार्योंने तत्त्वार्थभाष्यके साथ तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठकी रक्षा करनेका भी प्रयत्न किया है । किन्तु उनके सामने हो

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग. १३, किरण १ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्रपाठमें इतने अधिक पाठभेद और अर्थभेद हो गये थे, जिनका उल्लेख करना उन्हें आवश्यक हो गया। उदाहरणके लिये पाँचवें अध्यायके तीसरे सूत्र "नित्यावस्थितान्यरूपाणि" सूत्रको उपस्थित करते हैं। सिद्धसेनगणिने इस सूत्रको व्याख्या करते हुये अनेक मतभेदोंका उल्लेख किया है। (ये मतभेद पाँच हैं।)

जब तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य एक ही व्यक्तिकी कृति थी और श्वेताम्बर आचार्य इस तथ्यको भलीभाँति समझते थे तब सूत्रपाठके विषयमें इतना मतभेद क्यों हुआ और खासकर उस अवस्थामें जबकि तत्त्वार्थभाष्य उस द्वारा स्वीकृत पाठको सुनिश्चित कर देता है। हम तो इस समस्त मतभेदको देखते हुये इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तत्त्वार्थभाष्यमान्य सूत्रपाठ स्वीकृत होनेके पहले श्वे. परम्परा मान्य सूत्रपाठ निश्चित करनेके लिये छोटे-बड़े अनेक प्रयत्न हुये हैं और वे प्रयत्न पीछे तक होते रहे हैं। यही कारण है कि वाचक उमास्वाति द्वारा तत्त्वार्थभाष्य लिखकर सूत्रपाठके सुनिश्चित कर देने पर भी उसे वह मान्यता नहीं मिल सकी, जो दिगम्बर परम्परामें सर्वार्थसिद्धि और उसके द्वारा स्वीकृत सूत्रपाठको मिली है।[1]

दिगम्बरीय पाठकी एकरूपता तथा श्वेताम्बरीय पाठकी अनेकरूपताको पं. सुखलालजीने भी स्वीकार किया है।[2]

पं. फूलचन्द्रजीने तत्त्वार्थभाष्यके कुछ ऐसे स्थल भी निर्दिष्ट किये हैं, जिससे उसकी स्वोपज्ञतापर प्रश्नचिह्न लग जाता है।

तत्त्वार्थभाष्यकारके निम्नलिखित एक स्खलनके विषयमें उनका कथन है कि १।२० सूत्र तत्त्वार्थभाष्यमें इस रूपमें उपलब्ध होता है—

मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।

किन्तु जब वे ही तत्त्वार्थभाष्कार इस सूत्रके उत्तरार्धको भाष्यमें उद्धृत करते हैं, तब उसका रूप सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ ले लेता है। यथा-'अत्राह—मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्वं वक्ष्यति—"द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु इति"।

कदाचित् कहा जाय कि इस उल्लेखमेंसे लिपिकारकी असावधानीवश 'सर्व' पद छूट गया होगा, किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अपनी टीकामें सिद्धसेन गणि और हरिभद्रने तत्त्वार्थभाष्यके इस अंशको इसी रूपमें स्वीकार किया है। प्रश्न यह है कि जब तत्त्वार्थभाष्यकारने उक्त सूत्रका उत्तरार्ध "सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" स्वीकार किया, तब अन्यत्र उसे उद्धृत करते समय वे उसके "सर्व" पदको क्यों छोड़ गये? पदका विस्मरण हो जानेसे ऐसा हुआ होगा, यह बात बिना कारणके कुछ नपी-

१. सर्वार्थसिद्धिकी प्रस्तावना, पृ० २१,२२,२३.
२. पाठान्तर-विषयक भेद, तत्त्वार्थसूत्र हिन्दी विवेचन, प्रथम संस्करण, पृ० ८४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तुली प्रतीत नहीं होती। यह तो हम मान लेते हैं कि प्रमादवश या जान-बूझकर उन्होंने ऐसा नहीं किया होगा, फिर भी यदि विस्मरण होनेसे ही यह व्यत्यय माना जाय तो इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिये। हमारा तो ख्याल है कि तत्त्वार्थ-भाष्य लिखते समय उनके समय सर्वार्थसिद्धि मान्य सूत्रपाठ अवश्य रहा है और हमने क्या पाठ स्वीकार किया है, इसका विशेष विचार किये बिना उन्होंने अनायास उनके सामने होनेसे सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठका अंश यहाँ उद्‌धृत कर दिया है। यह भी हो सकता है ११२० का भाष्य लिखते समय तक वे यह निश्चय न कर सकें हो कि क्या इसमें "सर्व" पदको "द्रव्य" पदका विशेषण बनाना आवश्यक होगा या जो पुराना सूत्रपाठ है उसे अपने मूलरूपमें ही रहने दिया जाय और सम्भव है ऐसा कुछ निश्चय न कर सकनेके कारण यहाँ उन्होंने पुराने पाठको ही उद्‌धृत कर दिया हो। हम यह तो मानते हैं कि तत्त्वार्थभाष्य प्रारम्भ करनेके पहले ही वे तत्त्वार्थसूत्रका स्वरूप निश्चित कर चुके थे, फिर भी किसी खाससूत्रके विषयमें शंकास्पद बने रहना तथा तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय उसमें परिवर्तन करना संभव है। जो कुछ भी हो उस उल्लेखसे इतना निश्चय करनेके लिये तो बल मिलता ही है कि तत्त्वार्थभाष्य लिखते समय वाचक उमास्वातिके सामने सर्वार्थसिद्धिमान्य सूत्रपाठ अवश्य होना चाहिये।

तत्त्वार्थभाष्यमें सर्थासिद्धिकी अपेक्षा अर्थविकासके दर्शन भी होते हैं, इस विषयमें भी पं. फूलचन्दजीने तीन उदाहरण दिये हैं।

दसवें अध्यायमें "धर्मास्तिकायाभावात्" सूत्र आया है। इसके पहले (सूत्रकार) यह बतला आये हैं कि मुक्त जीव अमुक अमुक कारणसे ऊपर लोकके अन्त तक जाता है। प्रश्न होता है कि वह इसके आगे क्यों नहीं जाता है और उसीके उत्तरस्वरूप इस सूत्र की रचना हुई है। किन्तु यदि टीकाको छोड़कर केवल सूत्रोंका पाठ किया जाय तो यहाँ जाकर रुकना पड़ता है और मनमें यह शंका बनी ही रहती है कि धर्मास्तिकाय न होनेसे आचार्य क्या बतलाना चाहते हैं। सूत्रपाठकी यह स्थिति वाचक उमास्वाति के ध्यानमें आई और उन्होंने इस स्थितिको साफ करनेको दृष्टिसे ही उसे सूत्र न मानकर भाष्यका अंग बनाया है। यह क्रिया स्पष्टतः बादमें की गई जान पड़ती है।

१०/१ सूत्रमें मोहनीय आदि कर्मोंके अभावसे केवलज्ञानकी उत्पत्तिका विधान किया गया है, किन्तु इनका अभाव क्यों होता है। इसका समुचित उत्तर उस सूत्रसे नहीं मिलता और न ही सर्वार्थसिद्धिकार इस प्रश्नको स्पर्श करते हैं, किन्तु वाचक उमास्वातिको यह त्रुटि खटकती है। फलस्वरूप वे सर्वार्थसिद्धिमान्य "बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" इस सूत्रके पूर्वार्द्धको स्वतन्त्र और उत्तरार्ध-

१. सर्वार्थसिद्धिकी प्रस्तावना, पृ० ४४-४५.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को स्वतन्त्र, सूत्र मानकर इस कमीको पूर्ति करते हैं। सर्वार्थसिद्धिमें जबकि इसका सम्बन्ध केवल "कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षः" पदके साथ जोड़ा गया है, यहाँ वाचक उमास्वाति इसे पूर्वसूत्र और उत्तरसूत्र दोनोंके लिये बतलाते हैं।

५/२२ वें कालके उपकारके प्रतिपादक सूत्रमें परत्व-अपरत्वका प्रकरण है। ये दोनों कितने प्रकारके होते हैं, इसका निर्देश सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य दोनोंमें किया है। सर्वार्थसिद्धिमें इनके प्रकार बतलाते हुये कहा है—"परत्वापरत्वे क्षेत्रकृते कालकृते च स्तः।" किन्तु तत्त्वार्थभाष्यमें ये त्रिविध कहे गये हैं—"परत्वापरत्वे त्रिविधे-प्रशंसाकृते क्षेत्रकृते कालकृते इति।"[1]

१/९ के भाष्यमें आभिनिबोधिक ज्ञानीको सम्यग्दर्शनी तथा केवलज्ञानीको सम्यग्दृष्टि कहा गया है। यह कथन तत्त्वार्थसूत्रके अनुरूप नहीं है।

१/१३ सूत्रमें मति, स्मृति और संज्ञा आदि मतिज्ञानके पर्यायवाची नाम हैं, किन्तु तत्त्वार्थभाष्यकार इन्हें पर्यायवाची नाम न मानकर मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान आदिको स्वतन्त्र मानते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ पर तत्त्वार्थभाष्यकी व्याख्या मूल-सूत्रका अनुसरण नहीं करती।

१०/९ के भाष्यमें शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत इन तीनको मूल नय मान लिया गया है, जब कि वे प्रथम अध्यायमें उस सूत्रपाठको स्वीकार करते हैं, जिसमें मूल नयोंमें केवल एक शब्दनय स्वीकार किया गया है।[2]

उपर्युक्त विद्वानोंकी उल्लिखित युक्तियोंपर विचार करने पर यही प्रतीत होता है भाष्य स्वोपज्ञ नहीं है। भाष्यमें अन्यपुरुषका भी निर्देश है। भाष्यकारका सूत्रकारसे विरोध, अर्थ करनेमें संदेह आदि भी प्राप्त होता है। श्वेताम्बर आचार्य भी एकमतसे भाष्यको स्वोपज्ञ स्वीकार नहीं करते। रत्नसिंहका टिप्पण इसमें प्रमाण है। स्वयं सिद्धसेनगणि भी भाष्यकी स्वोपज्ञतामें संदिग्ध रहे हैं।[3] ८/६ सूत्रकी वृत्तिमें वे लिखते हैं—"भाष्यकारोप्येवमेव सूत्रार्थमावेदयते।"

भाष्यकारके समक्ष पूर्ववर्ती व्याख्याएं विद्यमान थीं। इसका निर्देश एक स्थल "सर्वस्य" २/४३ सूत्रकी व्याख्यामें मिलता है। यहाँ उन्होंने अपनेसे पूर्ववर्ती किसी अन्यकृत व्याख्याका संकेत किया है।—"सर्वस्य चैते तैजसकार्मणे शरीरे संसारिणो जीवस्य भवतः, एके त्वाचार्याः नयवादापेक्षं व्याचक्षे। कार्मणमेवैकमनादिसम्बन्धम्।

---

१. सर्वार्थसिद्धिकी प्रस्तावना, अर्थविकास, पृ० ४५-६.
२. सर्वार्थसिद्धि, प्रस्तावना, पृ० ७०-७१.
३. तत्त्वार्थसूत्र, सिद्धसेनीय टीका, पृ० ६८-६९.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तेनैवैकेन जीवस्यानादिः सम्बन्धो भवतीति। तैजसं तु लब्ध्यपेक्षं भवति। सा च तैजसलब्धिर्न सर्वस्य, कस्यचिदेव भवति।"

यहाँ 'सर्वस्य' सूत्रका भाष्य प्रथम पंक्तिके द्वारा करनेके उपरान्त भाष्यकार दूसरों द्वारा किया हुआ अर्थ उपस्थित करते हुये कहते हैं कि कुछ आचार्य इस सूत्रका अर्थ नयवादकी अपेक्षा करते हैं। भाष्यकारसे पूर्व भी तत्त्वर्थसूत्रकी अन्य कोई व्याख्या की जा चुकी थी, जिसका वे यहाँ उल्लेख करते हैं। इससे स्पष्ट मालुम होता है कि भाष्य स्वोपज्ञ नहीं है तथा भाष्यकारसे पूर्व भी सूत्रको स्पष्ट करने वाली टीका, टिप्पणी तथा प्राचीनतम टीकाग्रंथ तथा व्याख्यायें विद्यमान थीं। यदि भाष्य स्वोपज्ञ होता तो भाष्य ही प्राचीनतम टीकाग्रन्थ होता।

अध्याय पाँचवेंमें पुद्गलद्रव्यके वर्णन (५/२३-३७) में दिगम्बर पाठ सम्मत चार (५/२९-३२) तथा भाष्यसम्मत तीन (५/२९-३१) सूत्रोंकी समायोजना की गयी है। पुद्गलद्रव्यके वर्णनके मध्यमें "सद्द्रव्यलक्षणम्", "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्", "तद्भावाव्ययं नित्यम्", "अर्पितानर्पितसिद्धेः" इन द्रव्य–सामान्यके लक्षणादिके प्रतिपादक सूत्रोंका क्या औचित्य है? इसे सर्वार्थसिद्धिकारकी ही तरह भाष्यकारने भी स्पष्ट नहीं किया है। यदि भाष्यकार स्वयं सूत्रकार होते तो अवश्य ही इन सूत्रोंकी समायोजनाका औचित्य निर्दिष्ट करते।

"सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते।" ८।२

में 'कर्मणो योग्यान्' के स्थान पर कर्मयोग्यान् क्यों नहीं कहा, इसका समाधान सर्वार्थसिद्धिकारने किया है, भाष्यकारने नहीं, जबकि भाष्यको स्वोपज्ञ माननेकी स्थितिमें उनके द्वारा वह समाधान होना आवश्यक था।

आचार्य अकलंकने तत्त्वार्थवार्तिक (१०/९) के अन्तमें भाष्यकी ३२ कारिकायें उद्धृत करके लिखा है—इति तत्त्वार्थसूत्राणां भाष्यं भाषितमुत्तमैः।" अर्थात् तत्त्वार्थके सूत्रोंका भाष्य उत्तम पुरुष द्वारा कहा गया है। इस उल्लेखसे स्पष्ट विदित होता है कि वे तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य दोनोंका कर्ता अलग-अलग मानते हैं—भाष्यको स्वोपज्ञ न मान कर उत्तरवर्ती आचार्यकी व्याख्या स्वीकार करते हैं और उनके उस भाष्यसे उन्होंने ये ३२ श्लोक उद्धृत किये हैं।

भाष्यकी स्वोपज्ञताके भ्रमको पल्लवित करने वाली भाष्यकी आरम्भिक कारिकायें तथा अन्तिम प्रशस्तिके कतिपय श्लोक हैं। वे आरम्भिक कारिकायें इस प्रकार हैं—

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं संग्रहं लघुग्रंथम्।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिमर्हद्वचनैकदेशस्य ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महतोऽतिमहाविषयस्य दुर्गमग्रन्थभाष्यपारस्य ।
कः शक्तः प्रत्यासं जिनवचनमहोदधेः कुर्तुम् ॥
नर्ते च मोक्षमार्गाद्धितोपदेशो ऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन् ।
तस्मात्परमिममेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ॥

प्रशस्तिगत विचारणीय श्लोक ये हैं—

अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य ।
दुःखार्त्तं च दुरागमविहितमतिं लोकमवलोक्य ॥
इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम् ।
तत्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥

इनका अर्थ है कि मैं शिष्योंके हितके लिये इस तत्वार्थाधिगम नामक शास्त्रको कहता हूँ जो बहुत अर्थवाला और संग्रहरूप लघुग्रन्थ है।

अर्हद् वचनोंके एकदेश अति महान विषय वाले, भाष्य द्वारा ही जिसका पार पाया जा सकता है ऐसे दुर्गम ग्रंथरूप जिनवचनमहोदधिका स्पष्टार्थ करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ?

मोक्षमार्गको छोड़कर इस सम्पूर्ण जगत्में हितोपदेश नहीं है, इसलिये इसी मोक्षमार्गका प्रवचन करूँगा।

सम्यक् गुरुक्रमसे आते हुए अर्हद्वचनको धारण कर दुःखसे पीड़ित तथा मिथ्या आगमके निमित्तसे नष्ट बुद्धि वाले लोकको देखकर प्राणियोंकी अनुकम्पासे उच्चैनगिर वाचक उमास्वातिने इस तत्वार्थाधिगम नामक शास्त्रको स्पष्ट किया।

इसमें तत्वार्थाधिगमको संग्रहरूप लघुग्रंथ कहा गया है। जिनवचनमहोदधिके तीन विशेषण दिये गये हैं, अर्हद्वचनोंका एकदेश, अति महान विषय वाला, ऐसा दुर्गम ग्रन्थ जिसका भाष्य द्वारा ही पार पाया जा सके। इन विशेषणोंसे प्रतीत होता है कि यहाँ सामान्य द्वादशांग रूप जिनवचनमहोदधिको नहीं, अपितु किसी ग्रन्थ विशेषकी चर्चा है, जो अर्हद्वचनोंका एकदेश है तथा महान् विषय वाला है, साथ ही दुर्गम ग्रंथ है, जिसके लिये भाष्यकी अत्यंत आवश्यकता है।

'गुरुक्रमसे आते हुए' प्रशस्तिके इस शब्दसे यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि अर्हद्वचन (ग्रन्थविशेष)को धारण कर उमास्वातिने तत्त्वार्थाधिगम नामक शास्त्रको स्पष्ट किया। इन्होंने स्वयंको तत्त्वार्थाधिगम नामक शास्त्रका स्पष्टकर्ता (व्याख्याता) बताया है।

अध्यायोंकी समाप्ति पर भी अर्हद्प्रवचनसंग्रहका उल्लेख किया गया है।

इति तत्त्वाथाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे प्रथमोध्यायः समाप्तः।
इति तत्त्वार्थसंग्रहे अर्हत्प्रवचने पंचमोऽध्यायः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाष्यके आरम्भमें तथा अध्यायोंकी समाप्तिपर अपने ग्रन्थको संग्रह कहनेसे प्रतीत होता है कि अर्हद्प्रवचन अथवा अर्हद्वचन नामक कोई ग्रंथविशेष था।

हमारे अनुमानकी पुष्टि अन्य उल्लेखोंसे भी होती है।

आचार्य अकलंकने तत्वार्थवार्तिक तथा उसके भाष्यमें "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" इस सूत्रके विवेचनके सन्दर्भमें शंका उठाते हुये कहा है—

"गुणाभावादयुक्तिरिति चेन्नार्हत्प्रवचनहृदयादिषु गुणोपदेशात्"

भाष्य—"गुण इति संज्ञा तंत्रान्तराणाम् आर्हतानां तु द्रव्यं पर्यायश्चेति द्वितयमेव तत्त्वम्। अतश्च द्वितयमेव नयद्वयोपदेशात्।

अर्थात् "गुण" यह संज्ञा आर्हतमतकी नहीं है, यह तो अन्य मतावलम्बियों (वैशिषकों) की है। आर्हतमतमें तो द्रव्य और पर्याय ये दो ही तत्त्व प्रसिद्ध हैं। इसीसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयोंका उपदेश है।

इस शंकाका समाधान करते हुये तत्वार्थवार्तिककारने कहा है कि अर्हत्प्रवचन-हृदयादिमें गुणका उपदेश है। जैसा कि अर्हत्प्रवचनमें "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" इस सूत्र द्वारा गुणका निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त "गुण इति दव्वविधाणं" इस पुरातन गाथामें भी गुणका स्पष्ट निरूपण मिलता है।

इस उल्लेखमें अकलंकदेवने अर्हत्प्रवचन नामक ग्रन्थका स्पष्ट निर्देश किया है। इसीसे पं० जुगलकिशोर मुख्तार आदि विद्वानोंने भी इसे अर्हत्प्रवचन नामक एक विशेष ग्रन्थका उल्लेख माना है।

तत्वार्थभाष्य की प्रारम्भिक एवं प्रशस्तिपरक कारिकाओं एवं आचार्य अकलंकके कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस नामका एक ग्रन्थ था।

विचारणीय है कि क्या तत्वार्थसूत्रका ही अपर नाम अर्हत्प्रवचन/अर्हत्वचन तो नहीं है? मुख्तारजीका कथन है कि तत्त्वार्थसूत्र की शंकाका समाधान उसी सूत्रसे करना उचित नहीं हैं, अतः यह दूसरा ग्रन्थ होना चाहिये।

अर्हत्प्रवचन एक विशिष्ट ग्रन्थ था, इस बातको दृष्टिमें रखकर जब हम भाष्यकी कारिकाओंको पढ़ते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भाष्य स्वोपज्ञ नहीं है। अर्हत्प्रवचन एक विशाल ग्रन्थ था, जिसके एकदेश वचनोंका संग्रह करके यह विपुल अर्थवाला लघुग्रन्थ रचा गया है। इस महान विषय वाले दुर्गम ग्रन्थ—जो भाष्य द्वारा ही समझा जा सकता है—का स्पष्टीकरण भी अत्यंत दुष्कर कार्य है। गुरुक्रमसे आते हुये इस अर्हत्प्रवचन नामक ग्रन्थको धारण करके लोकपर अनुकम्पा करके उमास्वातिने यह तत्वार्थाधिगम नामक शास्त्र स्पष्ट किया है। इस प्रकार भाष्यकार तत्वार्थाधिगम शास्त्रके रचयिता है, जो अर्हत्प्रवचनके सूत्रोंके संग्रहपर भाष्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्हत्प्रवचन एक स्वतंत्र ग्रन्थ था। इस तथ्यको यदि मान लें तो श्वेताम्बर-दिगम्बर पाठोंमें जो भेद हैं, उनका कारण भी ज्ञात हो जाता है। पूज्यपाद स्वामीने भी अर्हत्प्रवचनके प्रमुख सूत्रोंपर वृत्ति लिखी है। पूज्यपाद स्वामी द्वारा संकलित पाठ दिगम्बर सूत्रपाठ है तथा वाचक उमास्वाति द्वारा संकलित पाठ श्वेताम्बर पाठ है। इन पाठोंके संकलनमें सम्प्रदाय व रुचिभेदके कारण यह वैभिन्य है। यही कारण है कि दिगम्बर पाठमें जम्बूद्वीप आदिके सम्बन्धमें जो सूत्र हैं, भाष्यकारने उन्हें भाष्यमें सम्मिलित कर लिया है।

यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि यदि अर्हत्प्रवचन नामक विशाल ग्रन्थ था, तब इस विशिष्ट और प्राचीन ग्रन्थके रहते हुये भी तत्त्वार्थसूत्र जो परवर्ती है, उसे इतनी महत्ता, प्रसिद्धि व आदर क्यों प्राप्त हुआ? साथ ही अर्हत्प्रवचन ग्रन्थका नाम भी शेष क्यों नहीं रहा?

तत्त्वार्थसूत्रकारकी परम्पराके निर्धारणमें हमने पाया है कि सूत्रोंसे सूत्रकार यापनीय प्रतीत होते हैं, अतः अर्हत्प्रवचन एक यापनीय ग्रन्थ था। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थरत्नको अपने सम्प्रदायमें स्थान दिलानेके लिये इसके सूत्रोंका संग्रह किया तथा व्याख्याग्रन्थ लिखकर अपने सम्प्रदायोंमें प्रवेश व महत्त्व दिलाया। अन्यथा जब अर्हत्प्रवचन आचार्य अकलंकके समय तक विद्यमान था, तो फिर अकलंकके पूर्ववर्ती आचार्योंने उक्त ग्रन्थका उल्लेख क्यों नहीं किया?

अर्हत्प्रवचनमें उद्धृत सूत्र वही हैं, जो तत्त्वार्थसूत्रमें हैं। इससे इस मान्यताको पुष्टि होती है कि अर्हत्प्रवचनका ही संक्षिप्त संग्रह तत्त्वार्थसूत्र है, इसी कारण आचार्य अकलंकने पहले उसका ही सूत्र उपन्यस्त किया, फिर यदि कोई उसी ग्रन्थकी शंकाका समाधान उसी ग्रन्थसे न माने क्योंकि अर्हत्प्रवचनका ही संक्षिप्त रूप होनेके कारण तत्त्वार्थसूत्रको ग्रन्थांश ही मानना होगा, तो अन्य एक प्राचीन एवं उस समय प्रसिद्ध ग्रन्थकी गाथा उपस्थित की है—"गुण इति दव्वविधाणं" आदि।

अर्हत्प्रवचनका संग्रह होनेसे तत्वार्थसूत्रका नाम अर्हद्सूत्र भी था, क्योंकि राजेन्द्रमौलिभट्टारककृत टीकाका नाम अर्हद्सूत्रवृत्ति है,[1]। साथ ही परवर्ती कालमें तत्त्वार्थसूत्रके अनुकरण पर छोटे-छोटे सूत्रग्रन्थ भी लिखे गये, जिनमेंसे प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्रका नाम अर्हद्वचन ही है।[2]

इस विवेचनसे भाष्य स्वोपज्ञ नहीं है, यही प्रतीत होता है।

---

१. जैन साहित्यका इतिहास, दूसरा भाग, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, पृ० २३२।
२. यह अर्हत्प्रवचन मा. ग्र. बम्बईसे प्रकाशित सिद्धान्तसारादि-संग्रहमें प्रकाशित है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रशमरतिप्रकरण, तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्यके कर्त्ताओंपर विमर्श

श्वेताम्बर परम्परा तत्वार्थसूत्र तथा उसके भाष्यके अतिरिक्त प्रशमरतिप्रकरणको भी वाचक उमास्वातिकृत मानती है।[1] यहाँ इन तीनों ग्रन्थोंके साम्य और वैषम्यपर विचार किया जाता है। इससे उनके कर्ताओंके सम्बन्धमें सही-सही अवगति होगी।

प्रशमरतिप्रकरण ३१३ कारिकाओंमें रचित जैन सिद्धान्तका ग्रन्थ है।

तत्त्वार्थसूत्र संस्कृत-गद्य-सूत्र-शैलीमें रचा जैन तत्त्वज्ञानका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। तत्त्वार्थसूत्रकार ही ऐसे प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने प्राकृत भाषाको छोड़कर संस्कृतमें अपने इस ग्रन्थ की रचना की है। उनके पूर्व प्रायः सम्पूर्ण प्राचीन जैन साहित्य प्राकृतभाषामें ही प्रणीत उपलब्ध होता है।

तत्त्वार्थभाष्य श्वेताम्बर परम्पराकी मान्यतानुसार स्वोपज्ञ माना जाता है। प्रस्तुतमें हमें यह देखना है कि इन तीनोंके कर्ता भिन्न-भिन्न हैं अथवा एक, इसके लिये इन तीनों ग्रन्थोंका अन्तःपरीक्षण विशेष सहायक सिद्ध होगा। अतएव इन तीनोंके साम्य और वैषम्यपर विमर्श करना उपयुक्त होगा।

तत्त्वार्थसूत्रसे प्रशमरतिप्रकरणका साम्य

तत्त्वार्थसूत्रसे प्रशमरतिप्रकरणमें अनेक स्थलोंपर साम्य है। यहाँ दोनोंके कुछ तुलनात्मक उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१. तत्त्वा. "उपयोगो लक्षणम्" २/८, "स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः" २/९

प्रशम. "सामान्यं खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानाम्।
साकारोऽनाकारश्च सोऽष्टभेदश्चतुर्धा तु" ॥ का. १९४

२. तत्त्वा. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" ५/३०, तद्भावाव्ययं नित्यम्" ५/३१, अर्पितानर्पितसिद्धेः" ५/३२।

प्रशम. "उत्पादविगमनित्यत्वलक्षणं यत्तदस्ति सर्वमपि।
सदसद्वा भवतीत्यन्यथार्पितानर्पितविशेषात् ।" का० २०४

३. तत्त्वा. 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' १/२, "तन्निसर्गादधिगमाद्वा" १/३

प्रशम. "एतेऽत्रध्यवसायो योऽर्थेषु विनिश्चयेन तत्त्वमिति।
सम्यग्दर्शनमेतच्च तन्निसर्गादधिगमाद्वा॥" का० २२२।

---

१. पं० सुखलालजी, त० सू०, हिन्दी विवेचन सहित, प्रथम संस्करण, पृ० १७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. तत्त्वा० "एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचर्तुभ्यः ॥ १/३० ।
प्रशम० एकादीन्येकस्मिन् भाज्यानि त्वाचर्तुभ्यः इति ॥ का० २२६ ।

५. तत्त्वा० "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" १/१
प्रशम० "सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसम्पदः साधनानि मोक्षस्य ।
तास्वेकतराभावेऽपि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकरः ॥ का० २३०.

ये कुछ उदाहरण हैं, जो दोनोंके साम्यको प्रकट करते हैं। प्रशमरतिकी कारिकाओंमें कहीं कहीं सूत्र ज्योंके त्यों समाविस्ट हैं। इस साम्यके कारण इन दोनोंको एककर्तृक माना जाता है।

तत्त्वार्थसूत्रसे प्रशमरतिप्रकरणका वैषम्य

जहाँ इन दोनों ग्रन्थोंमें साम्य उपलब्ध होता है, वहाँ वैषम्य भी पाया जाता है, जैसाकि नीचेके उदाहरणोंसे स्पष्ट है—

१. तत्त्वार्थसूत्रमें जीवद्रव्यके वर्णनके उपरान्त पाँचवे अध्यायमें अजीवद्रव्योंका वर्णन करते हुये कहा है कि धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल ये चार द्रव्य अजीवकाय हैं।[1] यहाँ अजीव कालको छोड़ दिया गया है। इसका कारण उसमें कायपने (बहुप्रदेशीपने) का अभाव जान पड़ता है, किन्तु इसी अध्यायमें द्रव्यका सामान्य लक्षण "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" करनेके पश्चात् "कालश्चेत्येके" (५/७८) इस सूत्रके द्वारा कालद्रव्यका उल्लेख किया है। इस उल्लेखसे प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर मान्यतानुसार तत्त्वार्थसूत्रकार कालद्रव्यको स्वीकार नहीं करते थे, इसीलिये "एके" कहकर दूसरोंके मतानुसार उसका उल्लेख करते हैं। यही कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रकारने "निष्क्रियाणि च" (५/७) इस सूत्र द्वारा धर्म, अधर्म और आकाश इन द्रव्योंको निष्क्रिय कहा है, किन्तु कालद्रव्यके विषयमें उसकी निष्क्रियता या सक्रियताके सम्बन्धमें पूरे ही अध्यायमें कुछ नहीं कहा—बिलकुल मौन हैं। हाँ, उपकार-प्रकरण (५/१७-२०) में अवश्य कालके उपकारोंका वर्णन किया है। संभवतः यहाँ भी उन्होंने अन्य आचार्योंकी मान्यतानुसार कालद्रव्यके उपकारोंका प्रतिपादन किया है।

प्रशमरतिप्रकरणकारने छहों द्रव्योंका एकसाथ प्रतिपादन किया है। तत्त्वार्थसूत्रकी तरह प्रशमरतिप्रकरणमें कालके विषयमें अपनी तटस्थता प्रदर्शित नहीं की है। इससे प्रतीत होता है कि प्रशमरतिप्रकरणकार छहों द्रव्योंके अन्तर्गत काल द्रव्यको भी समान रूपसे स्वीकार करते हैं, जैसा कि उनकी निम्नलिखित कारिकाओंसे प्रकट है—

धर्माधर्माकाशानि पुद्गलाः काल एव चाजीवाः ।
पुद्गलवर्जमरूपं तु रूपिणः पुद्गलाः प्रोक्ताः ॥

---

१. तत्त्वार्थसूत्र—'अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ।' ५/१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवाजीवा द्रव्यमिति षड्विधं भवति लोकपुरुषोऽयम्।
वैशाखस्थानस्थः पुरुष इव कटिस्थकरयुग्मः ॥

का. २०६ व २१०.

२. तत्त्वार्थसूत्रमें जीवके पाँच भाव माने गये हैं—
"औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च (२/१)।

इसके विपरीत प्रशमरतिप्रकरणमें छह भावोंका प्रतिपादन किया गया है। उक्त पाँचके अतिरिक्त छठे भावके रूपमें सान्निपातिक भावका भी प्रतिपादन है—

भावा भवन्ति जीवस्यौदयिकः पारिणामिकश्चैव।
औपशामिकः क्षयोत्थः क्षयोपशमजश्च पञ्चैते ॥
ते चैकविंशतित्रिद्विनावाष्टादशविधाश्च विज्ञेयाः।
षष्ठश्च सन्निपातिक इत्यन्य पञ्चदशभेदः ॥

(का. १९६-९७)।

३. तत्त्वार्थसूत्र (२/१४) में तेजस्कायिक और वायुकायिकको त्रसकाय कहा गया है किन्तु प्रशमरतिप्रकरणमें उन्हें त्रस नहीं कहा गया है। वहाँ जीवोंके छह भेद बताते हुए कहा है कि क्षिति, अम्बु, वह्नि, पवन, तरु इन पांच एकेन्द्रियके अतिरिक्त द्वीन्द्रिय आदिको त्रस कहा है— इस प्रकार एकेन्द्रिय तेजस्कायिक व वायुकायिक भी त्रस—भिन्न स्थावर हुए। क्षित्यम्बुवह्निपवनतरवस्त्रसाश्च षड् भेदा: ॥ १९२

वैषम्यके ये तीनों उदाहरण सैद्धान्तिक हैं। यदि इन दोनोंका कर्ता एक होता, तो ये सैद्धान्तिक विषमता उनमें नहीं हो सकती थी। यह ऐसी विषमता है, जो भिन्नकर्तृक कृतियोंमें ही संभव है। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता प्रशमरतिप्रकरणके कर्तासे भिन्न हैं और वे उनके उत्तरवर्ती हैं।

अब तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरतिप्रकरणके साम्य एवं वैषम्यपर भी यहाँ विचार किया जाता है।

तत्त्वार्थभाष्यसे प्रशमरतिप्रकरणका साम्य

तत्त्वार्थभाष्यसे प्रशमरतिप्रकरणमें निम्न प्रकारका साम्य उपलब्ध होता है—

१. तत्त्वार्थभाष्यमें ज्ञानोपयोगको साकार तथा दर्शनोपयोगको अनाकार कहा गया है।[1]

प्रशमरतिप्रकरणमें भी उपयोगको साकार और अनाकार बताया है।[2] इन दोनों ग्रन्थोंमें इनकी शब्दावली भी एक-सी है।

---

१. तत्त्वार्थभाष्य २/१

२. प्रशमरतिप्रकरण का. १९४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. तत्त्वार्थभाष्य (१/१) में प्रथम सूत्रकी व्याख्या करते हुये कहा गया है कि "एकतराभावेऽप्यसाधनानि" (१/१)—उनमेंसे एकका भी अभाव रहने पर ये तीनों मोक्षके असाधन हैं—साधन नहीं हैं।

प्रशमरतिप्रकरणमें भी इसी प्रकारके शब्दोंमें प्रतिपादन है। उसकी यह कारिका पूर्वमें दी जा चुकी है। (का. २३०)

३. तत्त्वार्थभाष्यमें कहा गया है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके होने पर चारित्र होता भी है और नहीं भी, किन्तु चारित्रके होने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका लाभ निश्चित है। जैसा कि तत्त्वार्थभाष्यके निम्न उदाहरणसे विदित है—

एषां च पूर्वलाभे भजनीयमुत्तरम् उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः १/१

यही प्रशमरतिप्रकरणमें भी कहा गया है। यथा—

पूर्वद्वयसम्पद्यपि तेषां भजनीयमुत्तरं भवति
पूर्वद्वयलाभः पुनरुत्तरलाभे भवति सिद्धः। (का० २३१)

४. भाष्यमें अधिगमके आगम, अभिगम, श्रवण, शिक्षा और उपदेश ये सब पर्यायवाची शब्द बतलाये गये हैं। तथा परिणाम, स्वभाव और अपरोपदेश इन्हें निसर्गके पर्याय शब्द कहा गया है। यथा—

"आगमः अभिगमः आगमो निमित्तं श्रवणं शिक्षा उपदेश इत्यनर्थान्तरम्।''''निसर्गः परिणामः स्वभावः अपरोपदेशः इत्यनर्थान्तरम्" ॥ (१/३)

प्रशमरतिप्रकरणमें भी इसी प्रकार अधिगम और निसर्गके पर्यायशब्दोंकी परिगणना की गयी है। यथा—

शिक्षागमोपदेशश्रवणान्येकार्थकान्यधिगमस्य।
एकार्थः परिणामो भवति निसर्गः स्वभावश्च ॥ का० २२३.

५. भाष्यमें संसारानुप्रेक्षाका निम्नप्रकार कथन किया गया है—

माता हि भूत्वा भगिनी दुहिता भार्या च भवति। भगिनी भूत्वा माता भार्या दुहिता च भवति। (२/६)

प्रशमरतिप्रकरणमें भी इसी प्रकारका वर्णन है। यथा—

माता भूत्वा दुहिता च भवति भार्या च भवति संसारे।
व्रजति सुतः पितृतां पुत्रः शत्रुतां चैव ॥ (का० २२५)

इस प्रकार तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरतिप्रकरणमें अनेक स्थलोंपर साम्य उपलब्ध होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्त्वार्थभाष्यसे प्रशमरतिप्रकरणका वैषम्य

१. तत्त्वार्थभाष्यमें पाँच द्रव्योंका ही कथन है। उसमें कालद्रव्यका कथन सूत्रकारके "कालश्चेत्येके" इस सूत्रके अनुसार किया है। इससे स्पष्ट अनुमान होता है कि सूत्रकारकी तरह उन्हें भी कालद्रव्य मान्य नहीं है।[1]

परन्तु प्रशमरतिप्रकरणकारने षट् द्रव्योंका स्पष्ट प्रतिपादन किया है। अर्थात् उन्हें कालद्रव्य मान्य है। जैसा कि हम तत्त्वार्थसूत्र और प्रशमरतिप्रकरणके साम्य एवं वैषम्यमें देख चुके हैं।

२. तत्त्वार्थभाष्यमें सूत्रकारकी तरह जीवके पाँच भाव प्रतिपादित हैं।

किन्तु प्रशमरतिप्रकरणकारने उल्लिखित पाँच भावोंके अतिरिक्त सान्निपातिक भावका प्रतिपादन किया है। अर्थात् उन्होंने जीवके छह भावोंका निरूपण किया है।

४. तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरतिप्रकरणमें संयमके १७ भेद प्रदर्शित किये गये हैं, किन्तु संख्या समान होने पर भी दोनोंमें उनके नाम अलग-अलग बताये गये हैं।

तत्त्वार्थभाष्यमें इस प्रकार हैं—

योगनिग्रहः संयमः। सः सप्तदशविधः। तद्यथा पृथिवीकायिक-संयमः, अप्कायिक-संयमः, तेजस्कायिकसंयमः, वायुकायिकसंयमः, वनस्पतिकायिकसंयमः, द्वीन्द्रियसंयमः, त्रीन्द्रियसंयमः, चतुरिन्द्रियसंयमः, पंचेन्द्रियसंयमः, प्रेक्ष्यसंयमः, उपदेशसंयमः, अपहृत्यसंयमः, प्रमृज्यसंयमः कायसंयमः, वाक्संयमः, मनःसंयमः, उपकरणसंयमः, इति संयमो धर्मः (९/६)।

पर प्रशमरतिप्रकरणमें संयमके १७ भेद इस प्रकार बतलाये हैं—

> पंचास्रवाद्विरमणं पंचेन्द्रियनिग्रहश्च कषायजयः।
> दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः॥ (का० १७२)

अर्थात् पाँच आस्रवोंसे विरति, पाँच इन्द्रियोंका निग्रह, चार कषायोंपर विजय तथा तीन दण्ड (मन-वचन-कायका निग्रह) इस प्रकार संयमके १७ भेद हैं।

यहाँ पाँच इन्द्रिय-विजय और तीन दण्ड-विजय दोनोंके समान हैं किन्तु बाकी भेद दोनोंके भिन्न-भिन्न हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये दोनों रचनायें एककर्तृक

---

१. तत्त्वार्थभाष्य ५/५ (क) आ आकाशाद् धर्मादीन्येकद्रव्याण्येव भवन्ति। पुद्गल—जीवास्त्वनेकद्रव्याणि।"
(ख) "एतानि द्रव्याणि नित्यानि भवन्ति''''''न हि कदाचित् पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति।" ५/६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं हैं—उनके भिन्न-भिन्न कर्ता हैं। अन्यथा इस प्रकारका भिन्न कथन अपने ही ग्रन्थोंमें एक ही कर्ता नहीं करता।

५. तत्त्वार्थभाष्य (२/१४) में ही तेजस्कायिक और वायुकारिकको त्रस कहा गया है, इसके विपरीत प्रशमरतिकारने (का० १९२) में इन्हें स्थावर निरूपित किया है।

उपर्युक्त साम्य और वैषम्यके उदाहरणोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थभाष्य और प्रशमरतिप्रकरण ये तीनों एककर्तृक नहीं हैं, अपितु वे भिन्न आचार्यों द्वारा निर्मित हुये हैं। अन्यथा उनमें इस प्रकारका सैद्धान्तिक अन्तर न होता। इनमें जहाँ साम्य मिलता है, वह अपनी पूर्वपरम्परासे प्राप्त तत्त्वज्ञानकृत है। और इस प्रकारका साम्य श्वे० और दिग० परम्पराओंमें भी अनेक स्थलोंपर दिखाई देता है, क्योंकि दोनों ही परम्परायें एक ही तीर्थङ्कर महावीरके श्रुतकी आराधक रही हैं।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि तत्त्वार्थभाष्यकारने ग्रन्थके अन्तमें अपने परिचयपरक एक प्रशस्ति दी है, जबकि प्रशमरतिकारने अपना नामोल्लेख भी नहीं किया है। यह कम महत्त्वकी बात नहीं है। इससे भी दोनों कृतियोंकी भिन्नता जानी जा सकती है।

इन ग्रन्थोंके सूक्ष्म अन्तःपरीक्षणसे हमें तो यही अवगत होता है कि प्रशमरति-प्रकरणकारके समक्ष तत्त्वार्थसूत्र और भाष्य विद्यमान थे। यह इसलिये कह सकते हैं कि प्रशमरतिप्रकरणकारने पूर्वकवियों द्वारा रचित प्रशमजननशास्त्रपद्धतियोंके आधार-ग्रहणका उल्लेख किया है। इससे वे निश्चय ही उत्तरकालीन और भिन्न-समयवर्ती हैं।

इस सम्पूर्ण विवेचनका निष्कर्ष यह है कि तत्त्वार्थसूत्र पहले रचा गया है और उसका भाष्य उसके बहुत काल बाद रचा गया है और इन दोनोंका आधार लेकर प्रशमरतिप्रकरणकारने अपनी रचना प्रशमरति लिखी है। यही कारण है कि उन्होंने जिनवचनरूप समुद्रके पारको प्राप्त हुये महामति कविवरोंके वैराग्योत्पादक शास्त्रोंका स्मरण किया है। और उनसे निःसृत श्रुतवचनरूप कणोंको द्वादशांगके अर्थके अनुसार बतलाया है। इसके सिवाय उनका यह उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है कि—

बहुभिर्जिनवचनार्णवपारंगतैः कविवृषैर्महामतिभिः।
पूर्वमनेकाः प्रथिताः प्रशमजननशास्त्रपद्धतयः ॥ ५ ॥

ताभ्यो विसृताः श्रुतवाक्पुलाकिकाः प्रवचनाश्रिताः काश्चित्।
पारम्पर्यादुत्सेषिकाः कृपणकेन संहृत्य ॥ ६ ॥

तद्भक्तिबलार्पितया मयाप्यविमलाल्पया स्वमतिशक्त्या।
प्रशमेष्टतयाऽनुसृता विरागमार्गैकपदिकेयम् ॥ ७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"जिनवचनरूप समुद्रके पारको प्राप्त हुए महामति कविवरोंने पहले वैराग्यको उत्पन्न करने वाले अनेक शास्त्र रचे हैं। उनसे निकले हुए श्रुतवचनरूप कुछ कण द्वादशाङ्गके अर्थके अनुसार हैं। परम्परासे वे बहुत थोड़े रह गये हैं, परन्तु मैंने उन्हें रंकके समान एकत्रित किया है। श्रुतवचनरूप धान्यके कणोंमें मेरी जो भक्ति है उस भक्तिके सामर्थ्यसे मुझे जो अविमल और थोड़ी बुद्धि प्राप्त हुई है, अपनी उसी बुद्धि-शक्तिके द्वारा वैराग्यके प्रेमवश मैंने वैराग्य-मार्गकी पगडंडी रूप यह रचना की है।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलाचारकी परम्परा

मूलाचार, जैन मुनिके आचारका प्रतिपादक प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें भगवती आराधना तथा आचार्य कुन्दकुन्दकी कई गाथायें प्राप्त होती हैं। अतः प्रारंभमें इसे पं० परमानन्द शास्त्रीने संग्रह-ग्रंथ माना था[1]। पर बादमें इसे मौलिक ग्रन्थ स्वीकार किया है।[2] वट्टकेरिका अर्थ कुन्दकुन्द मानकर तथा इसमें आचार्य कुन्दकुन्दकी गाथायें देखकर कुछ विद्वानोंने इसे आचार्य कुन्दकुन्दका ग्रन्थ माना है।[3]

पं० नाथूरामजी प्रेमीका कथन है कि यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्दका तो नहीं है, उनकी विचार-परम्पराका भी नहीं है, अपितु यह उस परम्पराका ग्रन्थ है, जिसमें शिवार्य और अपराजित हुये हैं। इसके लिये उन्होंने निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं—

१. मूलाचार और भगवती आराधनाकी पचासों गाथायें एक-सी और समान अर्थ वाली हैं।

२. भगवती आराधनामें प्राप्त होने वाली "आचेलक्कुद्देसिय" गाथा (४२१.), जिसमें दश स्थितिकल्पोंकी चर्चा है, मूलाचारमें भी प्राप्त होती है।

जीतकल्पभाष्य नाम श्वेताम्बर ग्रन्थमें भी यही गाथा (१९७२) प्राप्त होती है। श्वेताम्बर सम्प्रदायके अन्य टीकाग्रन्थों और निर्युक्तियोंमें भी यह गाथा है। प्रमेयकमलमार्तंडके स्त्रीमुक्तिविचारमें प्रभाचन्द्रने इसका उल्लेख श्वेताम्बर सिद्धान्तके रूपमें किया है।

३. "सेज्जोगासणिसेज्जा"[4] गाथा भी मूलाचार और भगवती आराधना दोनोंमें मिलती है। इसमें कहा गया है कि वैयावृत्ति करने वाला मुनि रुग्ण मुनिका आहार, औषधि आदिसे उपकार करे।

४. आचार-जीत-कल्प ग्रंथोंका उल्लेख करने वाली भगवती आराधनाकी गाथा[5] भी यहाँ प्राप्त होती है। ये ग्रन्थ यापनीय और श्वेताम्बर पारम्परामें मान्य हैं।

---

१. मूलाचार संग्रह-ग्रन्थ है : अनेकांत, वर्ष २, किरण ५।

२. "मूलाचार संग्रहग्रंथ न होकर आचारांगके रूपमें मौलिक ग्रन्थ है" अनेकांत वर्ष १२, किरण ११।

३. "मूलाचारकी मौलिकता और उसके रचयिता" : श्री पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, अनेकांत, वर्ष १२, किरण ११।

४. मूलाचार, गा. ३९१ तथा भगवती आराधना, गा. ३०५.

५. भगवती आराधना, गा. ४१४ तथा मूलाचार, गाथा ३८७.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. "वावीसं तित्थयरा" और "सप्पडिकम्मो धम्मो" इन गाथाओंमें जो तीर्थंकरोंके उपदेशोंमें भेद बताया गया है वह कुन्दकुन्दकी परम्परामें अन्यत्र कहीं नहीं कहा गया। ये गाथायें भद्रबाहुकृत आवश्यकनिर्युक्तिमें हैं।

६. आवश्यकनियुंक्तिकी लगभग ८० गाथायें मूलाचारमें मिलती हैं और मूलाचारमें प्रत्येक आवश्यकका कथन करते समय वट्टकेरिका यह कथन प्रस्तुत आवश्यकपर संक्षेपसे नियुंक्ति कहूँगा, अवश्य ही अर्थसूचक है, क्योंकि सम्पूर्ण मूलाचारमें षडावश्यक अधिकारको छोड़कर नियुंक्ति शब्द शायद ही कहीं आया हो। षडावश्यकके अन्तमें भी इस अध्यायको नियुंक्ति नामसे ही निर्दिष्ट किया गया है।

मूलाचारमें सामाचार अधिकारमें (गा. १८७) कहा गया है कि अभी तक कहा हुआ यह सामाचार आर्थिकाओंके लिए भी यथायोग्य जानना। यहाँ ग्रंथकर्ता मुनियों और आर्थिकाओंको एक ही श्रेणीमें रख रहे हैं, फिर १८४ वीं गाथामें कहा है कि आर्यिकाओंका गणधर गंभीर, दुर्धर्प, अल्पकौतूहल, चिरप्रव्रजित और गृहीतार्थ होना चाहिये। इससे प्रतीत होता है कि आर्यिका मुनिसंघके ही अन्तर्गत है तथा उनका गणधर मुनि ही होता है। १९६वीं गाथामें स्पष्ट कहा गया है कि इस प्रकारकी चर्या जो मुनि और आर्थिकायें करते हैं वे जगत्पूजा, कीर्ति और सुख प्राप्त करके सिद्ध होते हैं।

> एवं विधाणचरियं करंति जे साधवो य अज्जाओ।
> ते जगपुज्जं कित्ति सुहं च लद्धूण सिज्झंति॥

श्री प्रेमीजीकी युक्तियाँ[1] उचित प्रतीत होती हैं। उनके सिवाय कतिपय अन्य सन्दर्भ दृष्टव्य हैं —

सामाचार अधिकारमें कहा गया है कि—

> सुहदुक्खे उवयारो वसहीआहारभेसजादीहिं।
> तुम्हं अहं ति वयणं सुहदुक्खुवसंपया णेया॥ ४/२१

"मुनियोंको सुख-दुःखमें वसतिका, आहार, औषधि आदिसे परस्पर एक दूसरेका उपकार करना चाहिये। "मैं आपका हूँ" इस प्रकारके वचनोंका प्रयोग सुखदुःखोपसंपत् है।"

यह विचाधारा आचार्य कुन्दकुन्दकी विचारधाराके प्रतिकूल है। वे कहते हैं कि यदि वैयावृत्य करनेमें लगा हुआ श्रमण कायको खेद पहुँचाता है, तो वह श्रमण नहीं है। कायको क्लेश पहुँचाकर वैयावृत्य करना श्रावकोंका धर्म है।

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, पृ०५४८-५५३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो ।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥[1]

२. विरतोंका विरतियोंके उपाश्रयमें ठहरना युक्त नहीं है। वहां बैठना, लेटना, स्वाध्याय, भिक्षा, व्युत्सर्ग आदि उचित नहीं है। इस आशयकी गाथा मूलाचारमें दो बार प्राप्त होती है।

णो कप्पदि विरदाणं विरदीणमुवासयम्हि चिट्ठेउं ।
तत्थ णिसेज्ज उवट्ठण –सज्झायाहारभिक्खवोसरणे ॥[2]

आहार और भिक्षाका भेद करते हुए टोकाकार वसुनन्दिने कहा है कि आर्यिकाओं-का बनाया हुआ भोजन आहार तथा श्रावकों द्वारा प्रदत्त भोजन भिक्षा है।

यह गाथा दिगम्बर परम्पराकी दृष्टिसे विचारणीय है। दिगम्बर परम्पराका साधु श्रावकोंके घर पाणिपात्रमें आहार लेता है। भिक्षा लाकर अन्यत्र कहीं उपाश्रय-आदिमें खानेका कोई विकल्प नहीं है, अतः यह निषेध भी चिन्तनीय ही है। याप-नीय साधु अवश्य अपवादरूपमें वस्त्र-पात्र रखते थे, उनकी दृष्टिसे पात्रमें भिक्षा लाकर उपाश्रय आदिमें खाना उचित हो सकता है, और इसीलिये उस भिक्षाके आर्यिकाओंके के उपाश्रयमें ग्रहण करनेका निषेध है। श्वेताम्बर परम्परामें ऐसी प्रवृत्ति मिलती है।

३. मूलाचारमें मुनिके पाँच पद बताये गये हैं—आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक; स्थविर तथा गणधर। दिगम्बर परम्परामें आचार्य व उपाध्याय इन दो पदोंका ही उल्लेख एवं विवरण मिलता है। तीर्थङ्करोंके वचनोंको गुम्फित करने वाले उनके साक्षात् शिष्य गणधर कहे गये हैं।

तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा ।
आइरियउवज्झायापवत्तथेरा गणधरा य ॥[3]

४. मूलाचारके अनगारभावनाधिकारमें मुनियोंके लिये जो दश संग्रहसूत्र बताये गये हैं, उनमें जिन दश शुद्धियोंका वर्णन है, उनमेंसे अधिकांश शुद्धियाँ उत्तराध्ययनके अनगारमार्गगति नामक ३५वें अध्ययनमें प्राप्त होती हैं। उत्तराध्ययनसे मूलाचारका यह साम्य उनके यापनीयत्वका ही समर्थक हैं।

---

१. प्रवचनसार, गाथा २५०.

२. मूलाचार, ४/१८०.

३. मूलाचार, ४/३१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिंगं वदं च सुद्दी वसदिविहारं च भिक्खं ठाणं च।
उज्झणसुद्दी य पुणो वक्कं च तवं तथा झाणं॥[1]

उपर्युक्त अनेक तथ्य मूलाचारको यापनीय-ग्रन्थ माननेकी ओर प्रेरित करते हैं।

भगवती आराधना : यापनीय ग्रंथ

शिवार्यकी भगवती आराधना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। उसमें आराधना तथा समाधिमरणका विशद विवेचन है। ग्रन्थकर्ताने प्रशस्तिमें अपना परिचय देते हुये लिखा है कि आर्य जिननंदि गणि, आर्य सर्वगुप्तगणि और आर्य मित्रनन्दिके चरणोंके निकट सूत्रों और उनके अभिप्रायको अच्छी तरह समझ करके पूर्वाचार्यों द्वारा निबद्ध की हुई रचनाके आधारसे पाणितलभोजी शिवार्यने यह आराधना अपनी शक्त्यनुसार लिखी। आदिपुराणके कर्ता जिनसेनने उनका नाम शिवकोटि उल्लिखित किया है।

शीतोभूतं जगद्यस्य वाचाऽऽराध्य चतुष्टयं।
मोक्षमार्गं स पायान्नः शिवकोटिमुनीश्वरः॥[2]

शीतीभूत विशेषणसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह भगवतीआराधनाकारका ही शिवकोटिके नामसे उल्लेख है, क्योंकि यह कथन उनकी निम्नलिखित गाथाको लक्ष्य करके किया गया है—

सव्वग्गंथविमुक्को सीदीभूदो पसण्णचित्तो य।
पावइ पीयिसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लहई॥[3]

भगवती आराधनाके कर्ता शिवार्यको प्रायः सभी विद्वानोंने यापनीय माना हैं।

डॉ. ज्योतिप्रसाद जैनने इनके विषयमें कहा है—"शिवार्य संभवतः श्वेताम्बर परम्पराके शिवभूति हैं। ये उत्तरापथकी मथुरा नगरीसे सम्बद्ध हैं और इन्होंने कुछ समय तक पश्चिमी सिन्धमें निवास किया था। बहुत संभव है कि शिवार्य भी कुन्दकुन्दकी भांति सरस्वती आन्दोलनसे सम्बद्ध रहे हों। वस्तुतः शिवार्य ऐसी जैन मुनियोंकी शाखासे सम्बद्ध हैं, जो उन दिनों न तो दिगम्बर शाखाके ही अन्तर्गत थी और न श्वेताम्बर शाखाके ही। यापनीय संघके ये आचार्य थे, अतः मथुराके अभिलेखोंसे प्राप्त संकेतोंके आधार पर इनका समय ई. सन्‌की प्रथम शताब्दी माना जा सकता है।[4]

---

१. मूलाचार ९/३
२. आदिपुराण १|४९
३. भगवती आराधना गाथा ११७८
४. द जैन सोर्सेज ऑफ द हिस्ट्री ऑफ एन्सिएण्ट इण्डिया, पृ. १३०–१.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डॉ. ज्योतिप्रसादका अभिप्राय यहां श्वेताम्बर परम्पराके शिवभूति बोटिक और शिवार्यका समीकरण करना रहा है। समीकरणका कोई ठोस आधार न होनेसे यह संभावनामात्र है।[1] शिवार्य यापनीय आचार्य थे, इसे विद्वानोंने भी स्वीकार किया है।

पं. नाथूरामजी प्रेमीने भी शिवार्यको यापनीय माना है। उनके तर्क इस प्रकार हैं—

१. दिगम्बर-परम्पराकी किसी भी गुर्वावलिमें शिवार्य तथा उनके गुरुओं (जिननन्दि, सर्वगुप्त और मित्रनन्दि)के नाम नहीं मिलते।

२. अपराजितसूरि यदि यापनीय संघके थे तो अधिक संभव यही है कि उन्होंने अपने ही सम्प्रदायके ग्रन्थकी टीका की है।

३. आराधनाकी गाथायें काफी तादादमें श्वेताम्बर सूत्रोंमें मिलती हैं, इससे शिवार्यके इस कथनकी पुष्टि होती है कि पूर्वाचार्योंकी रची हुई गाथायें उनकी उपजीव्य हैं।

४. सर्वगुप्त गणि संभवतः शाकटायन द्वारा उल्लिखित सर्वगुप्त हैं।[2] शाकटायन यापनीय थे, अतः संभव है कि सर्वगुप्त यापनीय सूत्रों तथा आगमोंके व्याख्याता हों।

५. स्वयंको पाणितलभोजी कहना श्वेताम्बरोंसे पार्थक्य प्रकट करनेके लिये ही है।

६. आराधनाकी ११३२ वी गाथामें मेदार्य मुनिको कथा हैं। इसका अर्थ आचार्य अमितगति, पं. सदासुखजी, पं. जिनदास शास्त्री आदि किसीने भी नहीं किया, संभवतः ये सब इस कथासे अपरिचित थे। मेदार्य मुनिकी कथा श्वेताम्बर सम्प्रदायमें बहुत प्रसिद्ध है। हरिषेणकृत कथाकोशमें यह कथा हैं।[3]

७. दशस्थितिकल्पवाली गाथा जीतकल्पभाष्यकी गाथा नं. १९७२ है। श्वेताम्बर-सम्प्रदायकी अन्य टीकाओं और नियुंक्तियोंमें भी यह मिलती है। प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्डमें स्त्रीमुक्ति-विचार प्रकरणमें उसका उल्लेख श्वेताम्बर सिद्धान्तके रूपमें ही किया है।

८. लब्धियुक्त तथा मायाचाररहित चार-चार मुनि ग्लानिरहित होकर क्षपकके योग्य निर्दोष भोजन और पानक लावें। इस आशयकी गाथायें (६६२-६६३) एवं 'सेज्जोगासणिसेज्जा' (गा. ३०५) आदि गाथाएं दिगम्बर-सम्प्रदायसे मेल नहीं खाती हैं।

---

१. देखिये, प्रथम अध्यायके अन्तर्गत "बोटिक सम्प्रदाय"।

२. 'उपसर्वगुप्तं व्याख्यातारः' शाकटायन-व्याकरण, अमोघवृत्ति १।३।१०४.

३. हरिषेणकृत कथाकोशमें भी अनेक दिगम्बर-सम्प्रदाय विरोधो बातें प्राप्त होती हैं। देखिये, दूसरा अध्याय "पुन्नाट संघ"।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

९. गा. ११२३ में जिस तालपलंब सूत्रका उल्लेख किया है वह कल्पसूत्रका है। विजयोदया टीकामें "तथा चोक्तं" कहकर कल्पकी दो गाथायें और उद्धृत की गयी हैं। वे ही आशाधरजीने 'कल्पे' कह कर दी है।

१०. गा. नं. ७९-८३ में मुनिके उत्सर्ग-अपवाद लिंगका वर्णन है। भक्त प्रत्याख्यानके प्रसंगमें कहा है कि उत्सर्गलिंगवाला जो मुनि भक्तप्रत्याख्यान करना चाहता है उसे उत्सर्गलिंगी ही चाहिये, परन्तु जो अपवादलिंगी है, उसे भी भक्त-प्रत्याख्यान-के अवसर पर उत्सर्गलिंग ही प्रशस्त कहा है, अर्थात् उसे भी नग्न हो जाना चाहिये और जिसके लिंगसम्बन्धी तीन दोष दुर्निवार हों, उसे वसतिमें संस्तरारूढ़ होने पर उत्सर्गलिंग धारण करना चाहिये।

११. आराधनाका चालीसवाँ विजहना नामक अधिकार विलक्षण है, जिसमें मुनिके मृत शरीरको रात्रिभर जागरण करके रखनेकी और दूसरे दिन किसी अच्छे स्थानमें वैसे ही बिना जलाये छोड़ आने की विधि वर्णित है। श्वेताम्बर ग्रन्थ व्यवहारसूत्रमें मुनियोंके शवसंस्कारकी यही विधि है।[1]

१२. दिगम्बर-सम्प्रदायकी किसी भी कथामें भद्रबाहु मुनिके ऊनोदर कष्टसे समाधिमरणका उल्लेख नहीं है। भगवती आराधनामें घोर अवमोदर्यसे बिना संक्लेश-बुद्धिसे भद्रबाहुको उत्तम स्थानकी प्राप्तिका निर्देश है—

ओमोदरिए घोराए भद्दबाहू असंकिलिट्ठमदी।
घोराए तिगिंछाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं॥ १५४४

१३. आधारवत्व गुणके धारक आचार्यको "कप्पववहारधारी" विशेषण दिया है।[2] कल्पव्यवहार आदि ग्रन्थ श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें ही प्रसिद्ध हैं।

१४. एक अन्य गाथामें आचारशास्त्र, जीतशास्त्र तथा कल्पशास्त्र ग्रन्थोंका उल्लेख है।[3]

---

१. व्यवहारसूत्र सातवां उद्देश्य सूत्र २१.
"गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खू य आहच्च वीसंभेजा तं च सरीरगं केई साहम्मिए पासेज्जा कप्पइसे तं सरीरगं न सागारियमिति कट्टु थंडिले बहुफासुए पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेत्तए।" अर्थात् ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भिक्षुकी मृत्यु हो जाने पर उसके सहचर श्रमणको यह शरीर गृहस्थ न छुये, इस विचारसे एकान्तमें भूमि प्रतिलेखित परिमार्जित करके रख देना चाहिये।

२. चोद्दस-दस-णव-पुव्वी महामदी सायरोव्व गंभीरो।
कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं नाम॥ ४२८.

३. आयारजीदकप्पगुणदोवणा अत्तसोधिनिज्झंझा।
अज्जव-मद्दव-लाघव-तुट्ठी पल्हादणं च गुणा॥ ४०७.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५. वृहत्कल्पसूत्र, आवश्यकसूत्र आदिकी गाथायें भगवती आराधनामें उद्धृत हैं।

इस प्रकार प्रेमीजोने गवेषणापूर्वक भगवती आराधनाके यापनीय कृति होनेकी सिद्धि की है। उनके यापनीय होनेके कुछ और प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

उत्सर्ग और अपवाद लिंगसे सम्बन्धित तीन कारिकाएँ भक्तप्रत्याख्यानमरणके अवसरपर आराधनामें आयी हैं।

उस्सग्गियलिंगगदस्स लिंगमुस्सग्गियं चेव।
अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं॥

जस्स वि अव्वभिचारो दोसो तिट्ठाणिओ विहारम्मि।
सो वि हु संथरगदो गेहणिज्जोस्सुग्गियं लिंगं।
आवसथे वा अप्पाउगो जो वा महड्ढिओ हिरिमं।
मिच्छजणे सजणे वा तस्स हु होज्ज अववादियं लिंगं॥[1]

प्राचीन और नवीन टीकाकारोंने इनका अर्थ करते समय मुनिके लिंगको उत्सर्ग लिंग तथा गृहस्थके लिंगको अपवाद लिंग माना है।

पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीका इस विषयमें कथन है कि इसकी टीकामें अपराजितसूरिने औत्सर्गिकका अर्थ सकलपरिग्रहके त्यागसे उत्पन्न हुआ किया है, क्योंकि यतियोंके लिये अपवाद होनेसे परिग्रहको अपवाद कहते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि आपवादिकलिंगका धारी गृहस्थ ही होता है। मुनि तो औत्सर्गिक लिंगका धारी होता है।[2]

अपराजितसूरिने "यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवादः" कहकर यतिके परिग्रह धारणको ही अपवाद कहा है। अपवाद उत्सर्ग-सापेक्ष होता है। परिग्रहत्याग मुनिका उत्सर्गलिंग है, अतः परिग्रहधारण यतिका ही अपवादलिंग होगा। गृहस्थ तो परिग्रही होता ही है। अपवादलिंगी मुनिके साथ भक्तप्रत्याख्यानके लिये उत्सुक गृहस्थके लिंगको भी अपवादलिंग कहा गया है।

इन गाथाओंका अर्थ है कि भक्तप्रत्याख्यानके अवसरपर जो उत्सर्गलिंगी मुनि है, उसके लिये तो उत्सर्गलिंग ही युक्त है और जो अपवादलिंगी है, उसके लिये भी इस अवसर पर उत्सर्गलिंग धारण करना योग्य है।

अगली दो गाथाओंमें अपवाद लिंगका वर्णन है। जिसके विहार करनेमें त्रैस्थानिक दोष निरन्तर हों, उसे भी संस्तरपर उत्सर्ग लिंग धारण करना चाहिये।

---

१. भागवती आराधना, ७६-८.
२. भगवती आराधना, प्रथमभागकी भूमिका, पृ. ३०.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह अपवादलिंग मुनिका लिंग है। जिस मुनिके पुरुषलिंग तथा अण्डकोषोंमें (तीन स्थानोंमें) अनिराकार्य दोष हों, वह अपवादलिंग धारण करता है। उसे भी संस्तरगत होते समय उत्सर्गलिंग धारण करना चाहिये।

जो सम्पत्तिशाली हैं, लज्जालु हैं अथवा जिसके स्वजनवन्धुवर्ग मिथ्यादृष्टि हैं, उन्हें सार्वजनिक व अयोग्य निवासस्थानमें आपवादिक लिंग ही धारण करना चाहिए।

सम्पत्तिशाली तथा मिथ्यादृष्टि स्वजन आदि विशेषणोंसे स्पष्ट है कि इस आपवादिकलिंगका धारी गृहस्थ है। इस प्रकार अपवादलिंगमें अपवादलिंगी मुनिके साथ भक्तप्रत्याख्यानके लिए तत्पर गृहस्थका भी संग्रह है।

आर्यिकाओंके लिंगको आराधनाकारने आपवादिक अथवा औपचारिक नहीं कहा है। तपस्विनियोंके लिंगको (आगममें) औत्सर्गिक लिंग कहा है। श्राविकाओंके लिंगको अपवादलिंग कहा है।

इत्थी वि य जं लिंगं दिठ्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा।
तं तह होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करेंतीए ॥[1]

प्राचीन दिगम्बर परम्परामें एक ही मुनि-परम्परा है। जिनकल्पी और स्थविरकल्पी श्वेताम्बर तथा यापनीयोंके मुनिभेद हैं। प्राचीन दिगम्बर साहित्यमें जिनकल्प और स्थविरकल्प शब्दोंके प्रयोग नहीं हैं। भगवती आराधनामें जिनकल्पित (गा० १६०) तथा जिनकल्पी (गा० २०६) शब्दोंके भी प्रयोग हैं।

गाथा ७९० में "तादी" शब्दका प्रयोग है। "तादी" शब्दका अर्थ त्रायी न होकर मोक्षगमनेच्छु है। उत्तराध्ययनमें तायी तथा पालिसाहित्यमें तादी शब्द पाया जाता है। मुनि दुलहराजका कथन है कि ताई शब्द जैन आगमोंमें अनेक बार व्यवहृत हुआ है। उत्तराध्ययनमें पाँच वार (८/४, ११/३१, २१।२२, २३/१०) दशवैकालिकमें सात बार (३/१, ३/१५, ६/२०, ३६/६८, ८/६२), सूत्रकृतांगमें भी यह अनेक बार आया है। टीकाकारोंने इसके दो संस्कृत रूप दिये हैं तायी और त्रायी। तायीके दो अर्थ हैं। सुदृष्ट मार्गकी देशना द्वारा शिष्योंका संरक्षण करने वाला, (२) मोक्षके प्रति गमनशील।[2]

प्रस्तुत गाथामें प्रयुक्त 'तादी' शब्दका अर्थ मोक्षगमनेच्छु या मोक्षके प्रति गमनशील उचित प्रतीत होता है—

---

१. गाथा नं० ८०।

२. तुलसी प्रज्ञा, लाडनूं, जुलाई-सित० १९७५ में मुनि दुलहराजका लेख "उत्तरायनके सन्दर्भमें भदन्तजीके चिंतनकी मीमांसा"—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पासितु कोइ तादी तीरं पत्तस्सिमेहिं किं मेत्ति ।
वेरग्गमणुपत्तो संवेगपरायणो होदि ॥[१]

समाधिमरणमें स्थित कोई क्षपक यति आहारको देखकर तीरप्राप्त (संसारसे किनारे आगये) मुझे इनसे क्या ? ऐसा विचार करता है और वैराग्य प्राप्त करके संवेगपरायण होता है ।

अपराजितसूरिने तादीका अर्थ यति किया है । हमें इस शब्दका अर्थ समाधिमरण-में स्थित क्षपक मुनि प्रासंगिक मालूम पड़ता है । इस शब्दका प्रयोग श्वेताम्बर ग्रन्थों (उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि) के आधारपर किया गया प्रतीत होता है, जिन्हें यापनीय भी प्रमाण मानते हैं और जिनका उल्लेख मुनि दुलहराजने भी किया है ।

दश स्थितिकल्पोंकी विचारधारा आचार्य कुन्दकुन्दके विचारोंसे मेल नहीं खाती है । शय्यातरपिंड तथा राजपिंडके निषेधका विवरण आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें नहीं मिलता है ।

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा ।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वजा एरिसा भणिया ॥[२]

इस गाथामें उत्तम, मध्यम तथा दरिद्र व सम्पन्न सभी जगह निरपेक्ष भावसे आहार ग्रहण करनेका विधान है । दिगम्बर सम्प्रदायमें यदि शय्यातरपिंडत्याग-का विधान होता तो पंडित सदासुखजी इस अर्थसे परिचित होते । वे इसका अर्थ करते हैं शय्यागृह अर्थात् स्त्री पुरुषोंकी क्रीडाका मकान ।

दिगम्बर ग्रन्थोंमें अनगार-धर्मामृतमें यह गाथा मिलती है । पर अनगार-धर्मामृत (पं० आशाधरजी) के समयमें भगवती आराधना और मूलाचार जैसे ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित हो चुके थे । साथ ही पं० आशाधरजी बहुश्रुत व समन्वयवादी थे । उन्होंने भगवती आराधना तथा विजयोदयाका गहन अध्ययन किया है । वे भगवती आराधनापर 'मूलाराधना दर्पण' नामक टीकाके रचयिता हैं ।

भगवती आराधना गा. ६६२-६६३ तथा ३०५ में कहा गया है कि लब्धियुक्त मायाचाररहित चार-चार मुनि ग्लानिरहित होकर क्षपकके योग्य निर्दोष भोजन और पानक लावें तथा वैयावृत्य करने वाला मुनि अहार आदिसे मुनिका उपकार करे ।

आचार्य कुन्दकुन्दके विचार इस मतसे भी मेल नहीं खाते । वे श्रमणोंको शुद्धोप-योगी तथा शुभोपयोगी दो प्रकारके मानते हैं । अरहंतादिके प्रति भक्ति, प्रवचनमें अभियुक्तके प्रति वात्सल्य, वंदना, नमस्कार, आदर-सत्कार आदिको रागचरित मानते

---

१. भगवती आराधना गाथा ६९० ।

२. बोधपाहुड, गाथा ४८ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। दर्शन-ज्ञानका उपदेश, शिष्योंका संग्रह-पोषण, जिनेन्द्रदेवकी पूजाका उपदेश आदि सरागी श्रमणोंकी चर्या स्वीकार करते हैं। कायकी विराधनारहित होकर भी जो नित्य चातुर्वर्ण श्रमणसंघका उपकार करता है, वह रागप्रधान है। यदि वैयावृत्य करनेमें उद्युक्त श्रमण कायको खेद पहुँचाता है, तो वह श्रमण नहीं है। कायको क्लेश पहुँचाकर वैयावृत्य करना श्रावकोंका धर्म है। इस अंतिम गाथा द्वारा आचार्य कुन्द-कुन्दने उक्त प्रकारके वैयावृत्यका स्पष्ट निषेध किया है।

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्मि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा॥

अरहंतादिसु भत्ति वच्छलता पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया॥

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावणओ ण णिंदिया रायचरियम्मि॥

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य॥

उवकुणदि जणे वि णिच्चं चादुव्वणस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहियं सो वि सरागप्पधाणो से॥

जदि कुणदि कायखेदं वेच्चावच्चज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से॥ [1]

आचार्योंके ३६ गुणोंका उल्लेख भी दिगम्बर परम्परामें नहीं मिलता। भगवती आराधनामें उपलब्ध गाथामें आचारवत्व आदि आठ गुण, दशविध स्थितिकल्प, बारह प्रकारका तप तथा छह आवश्यक ये छत्तीस गुण बताये गये हैं। [2] अपराजितसूरिके समक्ष उसके स्थान पर दूसरी हो गाथा थी, उन्होंने आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार द्वादशविध तप, पांच समिति तथा तीन गुप्तियोंको ३६ गुणमें परिगणित किया है।

प्रेमीजीके उल्लेखानुसार शाकटायनके स्त्रीमुक्तिप्रकरणकी एक टीकामें शिवस्वामी-के सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख आया है, जो अकंलकदेवके सिद्धिविनिश्चयसे भिन्न है। हमारा अनुमान है ये शिवस्वामी संभवतः शिवार्य हों। [3]

---

१. प्रवचनसार, गाथा २४५-५०।

२. भगवती आराधना, गा० ५२८।

३. जैन साहित्यका इतिहास, शाकटायनका शब्दानुशासन, द्वितीय संस्करण, पं. नाथूरामजी प्रेमी, पृ० १५८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाणितलभोजीके रूपमें शिवार्यका स्वयं अपना उल्लेख इनके यापनीय होनेकी ओर संकेत कर रहा है। दिगम्बर साधु तो पाणितलभोजी ही होते हैं। यापनीय साधुओंमें अपवादरूपसे पात्रभोजनकी व्यवस्था रही होगी।

उपर्युक्त प्रकारसे विचार करनेपर शिवार्य यापनीय सिद्ध होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विजयोदया टीका और अपराजितसूरि

भगवती आराधनाकी विजयोदया टीकाके कर्ता अपराजितसूरिको विद्वानोंने यापनीय माना है।[1] इनकी यह टीका उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने दशवैकालिकपर भी विजयोदया नामक टीका लिखी थी।[2]

अन्य यापनीय आचार्योंकी भाँति इन्होंने भी अपने संघ आदिका कोई उल्लेख नहीं किया है। परन्तु इन्हें यापनीय सिद्ध करने वाले अनेक प्रमाण हैं।

१. दशवैकालिक, आचारांग, सूत्रकृतांग, कल्प उत्तराध्ययन आदि आगमग्रंथोंसे उद्धरण देनेके कारण यह स्पष्ट है कि ये आगम इन्हें मान्य थे।

२. अपराजितसूरिने अचेलताके गुणोंका विस्तारसे वर्णन किया है। पूर्वागमोंमें जो वस्त्र-पात्र ग्रहणके उपदेश हैं, उसके विषयमें उनका समाधान है कि आगमोंमें विशेष अवस्थामें वस्त्र-पात्र ग्रहणका उल्लेख है।

'आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं, कारणापेक्षया भिक्षूणां ह्रीमानयोग्यशरीरावयवो दुश्चर्माविलम्बमानबीजो वा परीषहसहने अक्षमः स गृह्णाति।........तस्मात्कारणापेक्षं वस्त्रपात्रग्रहणम्। यदुपकरणं गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहणविधिः ग्रहीतस्य च परिहरणमवश्यं वक्तव्यम्। तस्माद् वस्त्रं पात्रं चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम्।'[3]

कारणविशेषसे वस्त्रग्रहणकी अनुज्ञा है। उनकी यह दृष्टि यापनीय दृष्टि है।

(३) इसी प्रसंगमें अपराजितसूरिने भगवान महावीरकी उन भिन्न-भिन्न कथाओंका वर्णन किया है, जिनका दिगम्बर सम्प्रदायमें कोई संकेत तक नहीं है। वे कहते हैं

---

१. (अ) पं० नाथूरामजी प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ६० और आगे।
(ब) पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, भगवती आराधना, भाग १, प्रस्तावना, पृ० २९ और आगे।
(स) पं० सुखलालजी संघवी, तत्त्वार्थसूत्र विवेचनसहित, तृतीय आवृत्ति, प्राक्कथन पृ० १४।

२. भगवती आराधनाकी टीकामें इसका उल्लेख किया है.
दशवैकालिकटीकायां श्रीविजयोदयायां उद्गमादिदोषा नेह प्रतन्यते। भगवती आराधना, भाग २, पृ० ६०४।

३. भगवती आराधना, भाग १, पृ० ३२४-५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि भावना (आचारांगका चौबीसवां अध्ययन) में भगवान महावीरके एक वर्ष तक चीवर धारण और उसके बाद अचेलक होनेका उल्लेख है। इसमें बहुत-सी विप्रतिपत्तियां हैं। कोई कहते हैं उस वस्त्रको जो वीरजिनके शरीरपर लटका दिया गया था, लटकाने वाले मनुष्यने ही उसी दिनसे लिया था। दूसरे कहते हैं कि वह कांटों और शाखाओंमें उलझते-उलझते छह महीनोंमें छिन्न-भिन्न हो गया था। कुछ लोग कहते हैं कि एक वर्षसे अधिक बीत जाने पर खण्डलक नामक ब्राह्मणने उसे ले लिया था और दूसरे कहते हैं कि जब वह हवासे उड़ गया और भगवानने उसकी उपेक्षा की तो लटकाने वालेने फिर उनके कन्धोंपर डाल दिया। इस प्रकार अनेक विप्रतिपत्तियां होनेसे इस बातमें कि भगवान सचेल प्रव्रजित हुये थे, कोई तत्त्व दिखाई नहीं देता। यदि सचेल लिंग प्रकट करनेके लिये भगवानने वस्त्र ग्रहण किया था, तो फिर उसका विनाश उन्हें क्यों इष्ट हुआ ? उसे सदा ही धारण करना था। यदि उन्हें ज्ञात था कि नष्ट हो जायगा, तो उसका ग्रहण निरर्थक था। यदि नहीं ज्ञात था, तो वे अज्ञानी सिद्ध हुये। और यदि उन्हें चेलप्रज्ञापना वांछनीय थी, तो फिर यह वचन मिथ्या हो जायगा कि प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करका धर्म आचेलक्य था। और जो यह कहा है कि जिस तरह मैं अचेलक हूं, उसी तरह पिछले जिन भी अचेलक होंगे, इसमें भी विरोध आयेगा। इसके सिवाय वीर भगवानके समान यदि अन्य तीर्थंकरोंके भी वस्त्र थे तो उनका वस्त्रत्यागकाल क्यों नहीं बतलाया गया ? इसलिये यही कहना उचित मालूम होता है कि सब कुछ त्यागकर जब जिन (वीर भगवान) स्थित थे, तब किसीने उनके ऊपर वस्त्र डाल दिया था और यह एक तरहका उपसर्ग था।[1]

दिगम्बर परम्परामें महावीरके वस्त्रको लेकर इस प्रकारके ऊहापोहके लिये स्थान नहीं है, उन्होंने उन्हें, पूर्णतया निर्वस्त्र ही प्रव्रजित स्वीकार किया है। श्वेताम्बर परम्परामें अवश्य भगवान महावीरके देवदूष्यकी चर्चा है।

(४) अर्हन्त अवर्णवादके अवसरपर दिगम्बर ग्रन्थोंमें केवलीकवलाहारका उदाहरण जाता है, वह विजयोदयामें नहीं है, इस अनुल्लेखसे भी वे यापनीय प्रतीत होते हैं।[2]

(५) आलन्द, परिहारसंयम तथा जिनकल्पकी जिन विधियोंका इसमें वर्णन है, वे वर्णन दिगम्बर साहित्यमें नहीं मिलते हैं।[3]

---

१. भगवती आराधना, विजयोदया सहित, भाग १, पृ० ३२५-६।
२. भगवती आराधना (विजयोदया सहित), भाग १, पृ० ९१।
सर्वज्ञतावीतरागते नार्हंति विद्येते रागादिभिरविद्यया च अनुगतः समस्ता एव प्राणभृतः इत्यादिः अर्हतामवर्णवादः।
भगवती आराधना (विजयोदया सहित), भाग १, पृ० १९७-२०५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(६) रात्रिभोजनत्यागको छठा व्रत कहा है।[1] दिगम्बर परम्परामें इसे अहिंसाव्रत की आलोकितपानभोजन नामक भावनामें अन्तर्भावित किया गया है।[2]

(७) विजयोदयामें जिन ११ भिक्षुप्रतिमाओंका कथन है, श्वेताम्बर परम्परामें तो उनका कथन है किन्तु वह दिगम्बर परम्परामें नहीं है।

(८) सद्वेद्य, सम्यक्त्व, रति, हास्य, पुरुषवेद, शुभनाम, शुभगोत्र तथा शुभ आयु को पुण्य प्रकृति माना गया है। "सद्वेद्यं सम्यकत्वं रतिहास्यपुंवेदा शुभे नामगोत्रे शुभं चायुः पुण्यं एतेभ्योऽन्यानि पापानि।"[3] यह कथन दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओंमें उपलब्ध नहीं है। केवल तत्त्वार्थभाष्यमें वह दिखाई देता है, जिसकी आलोचना सिद्धसेनगणिने की है।

(९) शुक्लध्यानके प्रथम भेद पृथक्त्ववितर्कसवीचारध्यानका अधिकारी उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्तीको माना गया है।[4] सर्वार्थसिद्धिसम्मत पाठवाले तत्त्वार्थसूत्रमें आठवें गुणस्थानसे ही पृथक्त्ववितर्कविचारशुक्लध्यानको माना गया है।

(१०) वृत्तिपरिसंख्यान तपके अन्तर्गत अपराजितसूरि कहते हैं कि विविध नियम लेकर आहार ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। लायी हुई भिक्षामें भी इतने ही ग्रास ग्रहण करूँगा, इस प्रकारका परिमाण उक्त तप है।[5]

वृत्तिपरिसंख्यान तपके अतिचार बताते हुए कहा गया है कि सात ही घरोंमें प्रवेश करूँगा अथवा एक ही दरिद्र घरमें प्रवेश करूँगा। इस विशिष्ट प्रकारके दाता द्वारा प्रदत्त आहार ग्रहण करूंगा, इत्यादि नियम लेनेके उपरान्त सातसे अधिक घरोंमें प्रवेश अथवा दूसरे दरिद्र घरोंमें प्रवेश करना अथवा दूसरोंको भोजन कराना है इस विकल्पसे अधिक ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यानतपके अतिचार बताये हैं। इससे आश्रय आदिमें भिक्षा लाकर ग्रहण करनेका विधान प्रतीत होता है।[6]

इस प्रकार इन्हें यापनीय सिद्ध करने वाले अनेक प्रमाण हैं।

टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिमें अपराजितसूरिने अपनेको आरातीय-चूडामणि कहा है, इससे ज्ञात होता है कि संभवतः यह उनकी उपाधि थी। दिगम्बर परम्परामें यह उपाधि विजयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आचार्योंके सिवाय और

---

१. भगवती आराधना (विजयोदया सहित), भाग १, पृ० ३३० ।
२. सर्वार्थसिद्धि ६-१९ ।
३. भगवती आराधना (विजयोदया सहित), भाग २, पृ० ८१४।
४. भगवती आराधना (विजयोदया सहित, भाग २, पृ० ८३६।
५. विजयोदया सहित (भगवती आराधना), भाग १, पृ० २४१।
६. विजयोदया सहित (भगवती आराधना), भाग ९, पृ० ३७१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किसी आचार्यके लिए व्यवहृत नहीं की गई है।[1] सर्वार्थसिद्धिके अनुसार भगवानके शिष्य गणधर और श्रुतकेवलि आरातीय कहे गये हैं।[2] दशवैकालिककी टीका लिखनेके कारण संभवतया इन्होंने अपनेको आरातीयचूडामणि कहा होगा।

शाकटायनकी परम्परा

शाकटायन 'शब्दानुशासन' नामक व्याकरण-ग्रन्थके रचयिताके रूपमें प्रसिद्ध हैं। यह ग्रन्थ इनके नामपर शाकटायन-व्याकरण कहलाता है। दिग. परम्परा इन्हें अपने सम्प्रदायका मानती रही है, क्योंकि इस सम्प्रदायमें इस व्याकरण-ग्रन्थका अत्यधिक प्रचार था। साथ ही मुनि दयापाल आदि दिग. शास्त्रकारोंने उसपर टीकाग्रन्थ लिखे हैं।

सर्वप्रथम बुलहरने इस ग्रन्थके कर्ताकी खोज करके इन्हें जैन घोषित किया है। डॉ० के० बी० पाठकने इन्हें श्वेताम्बर प्रमाणित किया है।[3] पं० नाथूराम प्रेमीने इन्हें यापनीय माना है,[4]। प्रेमीजीके तर्क इस प्रकार हैं—

(१) मलयगिरि नामक श्वेताम्बराचार्य (विक्रमकी १३वीं शताब्दी) ने नन्दिसूत्रकी टीकामें इन्हें यापनीय—यतिग्रामाग्रणी लिखा है।

"शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणीः स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तादौ भगवतः स्तुतिमेवमाह—श्रीवीरममृतं ज्योतिर्नत्वादिसर्ववेवसम्"।[5]

२. इन्होंने स्त्रीमुक्ति तथा केवलिमुक्ति प्रकरण लिखे हैं। ये प्रकरण इन्हीं शाकटायनने लिखे हैं। इसका प्रमाण वृहट्टिप्पणिकाका उल्लेख है, जिसमें इन प्रकरणोंको शब्दानुशासनकर्ता शाकटायनकी कृति बताया गया है।

"केवलिभुक्तिस्त्रीमुक्तिप्रकरणम्। शब्दानुशासनकृतशाकटायनाचार्यकृतं तत्संग्रहश्लोकाश्च ९४"

---

१. श्रुतावतार, श्लोक २५।
विनयधरः श्रीदत्त शिवदत्तोऽन्योऽर्हद्दत्तः नामैते।
आरातीयाः यतस्ततोऽभवन्नङ्गपूर्वधराः॥
२. सर्वार्थसिद्धि १/२०
आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तमायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धं तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमेव।
३. शाकटायन व्याकरण, सं० शम्भूनाथ त्रिपाठी भूमिका, पृ० १३ और आगे।
४. जैन साहित्य और इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० १५५ और आगे।
५. नन्दिसूत्र टीका पृ० २३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३) शाकटायनकी अमोघवृत्तिमें आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्ति, कालिकसूत्र आदि ग्रन्थोंका जिस तरह उल्लेख किया है, उससे ऐसा मालुम होता है कि उनके सम्प्रदाय-में इन ग्रन्थोंके पठन-पाठनका प्रचार था और ये ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदायके नहीं है, जब कि यापनीयसंघ इन ग्रन्थोंको मानता था।

(४) अमोघवृत्तिमें "उपसर्वगुप्तं व्याख्यातारः" कहकर शाकटायनने सर्वगुप्त आचार्यको सबसे बड़ा व्याख्याता बतलाया है और ये सर्वगुप्त वही जान पड़ते हैं जिनके चरणोंके समीप बैठकर आराधनाके कर्ता शिवार्यने सूत्र और अर्थको अच्छी तरह समझा था और चूंकि शिवार्य भी यापनीय सम्प्रदायके थे, अतएव उनके गुरुको श्रेष्ठ व्याख्याता बतानेवाले शाकटायन भी यापनीय होंगे।

(५) शाकटायनको "श्रुतकेवलिदेशीयाचार्य" लिखा है।[1] श्रुतकेवलिदेशीय अर्थात् श्रुतकेवलीके तुल्य। पाणिनिके अनुसार देशीय शब्द तुल्यताका द्योतक है। चिन्ता-मणिटीकाके कर्ता यक्षवर्माने तो उन्हें 'सकलज्ञानसाम्राज्यपदमाप्तवान्" लिखा है।

पं० नाथूरामजीकी ये युक्तियाँ सबल हैं।

अन्य यापनीय आचार्य शिवार्य, वट्टकेरि, सिद्धसेन, स्वयंभू, तत्त्वार्थसूत्रकार तथा अपराजितसूरि आदि किसीने भी स्वयंको यापनीय नहीं कहा है। शाकटायनने भी स्वयं कहीं भी अपने सम्प्रदायका उल्लेख नहीं किया है। यह प्रवृत्ति भी यापनीय ही प्रतीत होती है।

मगौली (जिला बेलगाँव, मैसूर) से प्राप्त एक शिलालेखमें यापनीय मुनिचन्द्रके शिष्य पाल्यकीर्तिके समाधिमरणका उल्लेख है।[2]

शाकटायनका ही दूसरा अथवा वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति है। यह बात वादि-राजसूरि के पार्श्वनाथचरितसे स्पष्ट है। इसमें इन्होंने पाल्यकीर्तिका इस प्रकार स्मरण किया है—

> कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।
> श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान् कुरुते जनान्॥[3]

---

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, ले० सं० ३००।

२. डॉ० उपाध्येका भी कथन है कि यापनीय साधु अपनेको पृथक् सिद्ध करनेके लिए श्रुतकेवलिदेशीय जैसे विशेषणोंसे घोषित करते थे—इसके लिए उन्होंने तत्त्वार्थ-सूत्रकारको भी श्रुतकेवलिदेशीय बताने वाला पद्य उद्धृत किया है। अनेकांत, निर्वाण-विशेषांक, १९७५।

३. प्रेमीजी द्वारा "जैन साहित्य और इतिहास" में उद्धृत, पृ० १६५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'श्रीपदश्रवणं'' अमोघवृत्तिके मंगलाचरण 'श्रीवीरममृतं' को लक्ष्य करके कहा गया है। पार्श्वनाथचरितकी पार्श्वनाथपंजिका-टीकामें इस श्लोककी व्याख्या करते हुये शुभचन्द्र आचार्यने पाल्यकीर्तिको ही शाकटायनसूत्रोंका कर्ता माना है।[१] शाकटायन-प्रक्रिया-संग्रहके मंगलाचरणमें अभयचन्द्रने जिनेश्वरको मुनीन्द्र और पाल्यकीर्ति इन दो श्लिष्ट विशेषणोंसे स्मरण किया है।

मुनीन्द्रमभिवंद्याहं पाल्यकीर्ति जिनेश्वरम्।
मन्दबुद्धयनुरोधेन प्रक्रियासंग्रहं ब्रुवे॥

यहाँ श्लेषके द्वारा एक अर्थमें जिनेश्वर और दूसरे अर्थमें पाल्यकीर्तिको नमस्कार किया गया है।

कदम्बहल्लिके (शक सं० १०४६) शिलालेखमें भी पाल्यकीर्ति नामक वैयाकरणका उल्लेख है।[२]

इन उल्लेखोंसे पाल्यकीर्ति ही शाकटायनका वास्तविक नाम प्रतीत होता है, और मगौलीके शिलालेखमें यापनीय पाल्यकीर्तिके समाधिमरणका जो उल्लेख है, वह संभवतः इन्हीं पाल्यकीर्तिका हो सकता है।

कीर्तिनामान्त पद भी यापनीयोंके होते थे। नन्दिसंघमें कीर्ति नामान्त पद मिलते थे। यह नन्दिसंघ यापनीय संघका प्रमुख व प्रभावशाली संघ था।[३]

स्त्रीमुक्ति तथा केवलिभुक्तिका सिद्धान्त श्वेताम्बर तथा यापनीय दोनों ही स्वीकार करते हैं, तथापि स्त्रीमुक्ति प्रकरणसे यह ध्वनित होता है कि वे यापनीय साधु निर्वस्त्र रहते थे। तथा सवस्त्रताको अपवादमार्ग समझते थे, जबकि श्वेताम्बर जिनकल्पको व्युच्छिन्न मानकर सवस्त्रताको ही उत्सर्ग मानते हैं।

निम्नलिखित कारिकाओंसे ध्वनित होता है कि वे वस्त्रग्रहणको अपवादमार्ग मानते थे—

वस्त्रं विना न चरणं स्त्रीणामित्यर्हतोच्यत, विनापि
पुंसामिति न्यवार्यंत, तत्र स्थविरादिवद् मुक्तिः॥

---

१. "तस्य पाल्यकीर्तेः महौजसः श्रीपदश्रवणं। श्रिया उपलक्षितानि पदानि शाकटायनसूत्राणि तेषां श्रवणं आकर्णनम्।"

२. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, पृ० ४००।
पल्लकीर्तिर्यथारूढः पुरा व्याकरणे कृती।
तथाभिमानदानेषु प्रसिद्धः पल्लपण्डितः॥

३. देखिये, दूसरा परिच्छेद यापनीय संघका अन्य दिग० संघोंसे संबन्ध।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्शोभगन्दरादिषु गृहीतचीरो यतिर्न मुच्यते।
उपसर्गे वा चीरो गदादिः संन्यस्यते चात्ते ॥[1]

भगवानने स्त्रियोंकी चर्या वस्त्ररहित नहीं बतायी है। पुरुषोंकी चर्या वस्त्रके बिना बतायी है। यह प्रतिपादन इस बातका प्रमाण है कि वे उत्सर्ग रूपमें पुरुषकी चर्या निर्वस्त्र मानते हैं।

आगे वे कहते हैं स्त्रीकी मुक्तिका निषेध वस्त्रधारणमात्रसे नहीं माना जा सकता है। वस्त्रधारिणी साध्वीकी मुक्ति स्थविर मुनिके समान होगी। यदि केवल वस्त्रधारण करने मात्रसे स्त्रीमुक्तिको अस्वीकार करोगे, तो अर्श, भगन्दर आदि रोगसे ग्रस्त तथा उपसर्ग युक्त मुनि वस्त्र धारण करता है, उसकी भी मुक्ति नहीं मान सकोगे।

इन कारिकाओंसे स्पष्ट है कि वे पुरुषोंकी चर्या निर्वस्त्र ही स्वीकार करते हैं, अपवादरूपसे रोग, उपसर्ग आदिमें वस्त्रग्रहणकी स्वीकृति है। उनकी यह मान्यता यापनीय है।

सिद्धसेन और उनका सन्मतिसूत्र

आचार्य सिद्धसेनपर काफी गवेषणापूर्ण अध्ययन हो चुका है,[2] तथापि उनका सम्प्रदाय, समय, कृतियाँ आदि विषय विवादास्पद ही हैं।

स्व० पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार केवल सन्मतितर्कको ही सन्मतिकार सिद्धसेन की कृति मानते हैं। मुख्तारजीके विस्तृत विवेचनका सारांश यह है कि प्रबन्धोंमें सिद्धसेनकी कृतिरूपमें सन्मतिसूत्रका कोई उल्लेख कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। अतः प्रबन्धवर्णित सिद्धसेनसे सन्मतिकार सिद्धसेन भिन्न हैं। गम्भीर गवेषणा और ग्रन्थोंकी अन्तःपरीक्षाके बाद मुख्तारजीका निष्कर्ष है कि सन्मतिसूत्रके कर्त्ता सिद्धसेन अनेक द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता सिद्धसेनसे भिन्न हैं। सन्मतिसूत्रके कर्ता, न्यायावतारके कर्ता और कतिपय द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता तीन सिद्धसेन हैं। शेष द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता इन्हींमें से एक, दो या तीन अथवा कोई अन्य भी हो सकते हैं। उनका यह भी कथन है कि पं० सुखलालजीने तीनोंका एककर्तृत्व प्रतिपादित करनेके लिये कोई विशिष्ट हेतु प्रस्तुत न कर उसका कारण प्रतिभाका समान तत्त्व माना है।[3]

१, स्त्रीमुक्ति प्रकरण, कारिका १६–७।

२. डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पदित—"सिद्धसेनाज न्यायावतार एण्ड अदर वर्क्स" की प्रस्तावना।

३. जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, प्रथम संस्करण, पृ. ५२७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सभी द्वात्रिंशिकाएँ सन्मतिकारकी नहीं हैं, क्योंकि इनमें सन्मतिकारके विपरीत मान्यताएँ प्रतिपादित हैं।

१. प्रथम, द्वितीय तथा पंचम द्वात्रिंशिकाएँ केवलीके उपयोगकी युगपद्वादकी मान्यताको लिये हुये हैं, जबकि सन्मतिकार अभेदवादी हैं।[१]

२. १०वीं द्वात्रिंशिकामें युगपद्वादका समर्थन है।[२] श्रुतज्ञानको मतिज्ञानसे और अवधिज्ञानको मनःपर्ययज्ञानसे अभिन्न माना है।[३]
यह सब कथन सन्मतिसूत्रके विरुद्ध है।[४]

३. १०वीं द्वात्रिंशिकाके प्रथम श्लोकमें ज्ञान-दर्शन-चारित्रको व्यस्तरूपसे हेतु गया है तथा ज्ञानको दर्शनके पूर्व रखा गया है। साथ ही ये सम्यक् विशेषणसे माना शून्य हैं।

४. उसी द्वात्रिंशिकामें धर्म, अधर्म और आकाशकी मान्यताको निरर्थक मानकर मुख्यरूपसे दो ही तत्त्व जीव और पुद्गल माने हैं।[५] सन्मतिकारको इन तीनों द्रव्योंके अस्तित्वकी मान्यता इष्ट है।[६]

इस प्रकार पहली, पांचवीं और १९ वीं द्वात्रिंशिकाएँ सिद्धसेनकी कृति नहीं हो सकती। शेषके विषयमें स्पष्ट प्रमाणके अभावमें कुछ कहना शक्य नहीं है।

न्यायावतार सन्मतिसूत्रसे एक शताब्दी बादकी रचना है। इस पर पात्रस्वामी जैसे जैनाचार्यों तथा धर्मकीर्ति और धर्मोतर जैसे बौद्धाचार्योंका भी स्पष्ट प्रभाव है। यह मुख्तारजीका निष्कर्ष है। इनके अनुसार सिद्धसेनके नाम पर जो भी ग्रन्थ चढ़े हुए हैं, उनमेंसे सन्मतिसूत्रको छोड़कर दूसरा कोई भी ग्रन्थ सुनिश्चतरूपसे सन्मतिकारकी कृति नहीं कही जा सकती। न्यायावतारके रचयिता श्वेताम्बर प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनकी दिगम्बर सम्प्रदायमें वैसी मान्यता नहीं है, जैसी सन्मतिकारकी है।

सन्मतिकारको सेनगण (संघ) का आचार्य माना जाता है। सेनगणकी पट्टावलीमें उनका उल्लेख है। हरिवंशपुराणकार आचार्य जिनसेनने पुराणके अन्तमें दी हुई गुर्वावलीमें सिद्धसेनका उल्लेख किया है।

---

१. प्रथम द्वात्रिंशिका, श्लोक ३२, द्वितीय द्वात्रिंशिका, श्लोक ३०, पंचम द्वात्रिंशिका, श्लोक २१ व २२।

२. श्लोक नं० ९।

३. श्लोक नं० १३ व १७।

४. सन्मतिसूत्र, काण्ड २, गाथा १६, १७ व २७।

५. १९वीं द्वात्रिंशिका, २४, २५ व २६।

६. सन्मतिसूत्र ३|३२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स सिद्धसेनोऽभयभीमसेनकौ गुरू परौ तौ जिनशान्तिषेणकौ।[1]

रविषेणाचार्यने पद्मचरितकी प्रशस्तिमें दिवाकर यतिका उल्लेख किया है—

आसीदिन्द्रगुरुर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः।
तस्माल्लक्ष्मणसेनसन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतम् ॥[2]

इस प्रकार मुख्तारजीके अनुसार दिगम्बर परम्परामें आदरपूर्वक उनका उल्लेख होनेसे वे दिगम्बर आचार्य ही प्रतीत होते हैं।[3] परन्तु ये दिवाकर यति सिद्धसेन ही हैं, यह कैसे कहा जा सकता है, अतः यह उल्लेख विचारणीय है।

डॉ० ए० एन० उपाध्येने भी "सिद्धसेनाज न्यायावतार एण्ड हिज अदर वर्क्स" की प्रस्तावनामें आचार्य सिद्धसेनपर विचार किया है। उनके अनुसार प्रबन्धोंमें जो सिद्धसेनका जीवन-परिचय मिलता है, वह काफी परवर्ती है। इनमें दिवाकरके सन्मतिके कर्ता होनेका उल्लेख नहीं है।

डॉ० उपाध्येके अनुसार सन्मतिसूत्रकार यापनीय थे। इसके लिये उन्होंने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं।

१. हरिभद्रसूरिने सिद्धसेन दिवाकर तथा उनके सन्मतिसूत्रका उल्लेख किया है।[4] उन्होंने इन्हें श्रुतकेवली तथा दिवाकराख्य कहा है। और श्रुतकेवली यापनीय आचार्योंका विशेषण है।

२. सन्मतिसूत्रका श्वेताम्बर आगमोंसे कुछ विरोध होनेसे इन्हें श्वेताम्बर प्रबन्धोंमें स्थान नहीं मिला है।

३. दिवाकरका उपयोग-अभेदवाद दिगम्बर युगपद्वादके अधिक समीप है। अभेदवादका सिद्धान्त इनका श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंसे पार्थक्य सूचित करता है।

४. एक द्वात्रिंशिकामें महावीरके विवाहित होनेका संकेत उन्हें श्वेताम्बर घोषित नहीं करता, क्योंकि यापनीयोंको भी कल्पसूत्र मान्य था।

---

१. हरिवंशपुराण ६६/२९।
२. पद्मचरित १२३/१६७।
३. जैन साहित्य और इतिहासपर विशद प्रकाश, पृ, ५२८ तथा पुरातन जैन वाक्य-सूची, सिद्धसेनका सम्प्रदाय और गुणकीर्तन पृ० १५७–६८।
४. भण्णइ एगंतेणं अम्हाणं कम्मवायणो इट्ठो।
ण य णो सहाववाओ सुअकेवलिणा जओ भणियं ॥
आयरियसिद्धसेणेण सम्मईए पइट्ठिअजसेणं।
दूसमणिसादिवागर कप्पत्तणओ तदक्खेणं ॥—पञ्चवस्तु, गाथा १०४७ व ४८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. निश्चय-द्वात्रिंशिकामें कुछ सैद्धान्तिक मतभेद हैं, जो उनकी साम्प्रदायिक मान्यतायें हो सकती हैं, जिनके कारण उन्हें "द्वेष्यसितपट" कहा गया है।

६. सिद्धसेनके परम्परासे भिन्न मतोंको उनका प्रगतिशील होना ही मानना उचित नहीं है। अपितु संभव है कि वे मान्यतायें यापनीय सम्प्रदायसे संबन्ध रखती हों।

७. सिद्धसेन दक्षिण विशेषतः कर्नाटकके थे। यापनोयोंका सम्बन्ध भी कर्नाटकसे रहा है। इसके कारण ये हैं—

(१) महावीरका सन्मति नाम धनंजय नाममालामें है, जो दक्षिण विशेषतः कर्नाटकमें अति प्रसिद्ध है।

(२) इनका कुन्दकुन्दके ग्रन्थों तथा वट्टकेरके मूलाचारसे साम्य हैं, जो दक्षिण विशेषतः कर्नाटकके आसपासके थे।

(३) सन्मतिके टीकाकार सुमति अथवा सन्मतिका पार्श्वनाथचरित तथा शिलालेखीय उल्लेख कर्नाटकमें है।

(४) एक प्रबन्धमें इन्हें कर्नाटकीय दिवाकर ब्राह्मण कहा गया है।

न्यायावतार सन्मतिसूत्रकारकी रचना नहीं है। इस विषयमें डॉ० उपाध्येका कथन है—

(१) प्रबन्धोंसे हमें सन्मतिसूत्र तथा न्यायावतारके एककर्तृत्वकी सूचना नहीं मिलती।

(२) हरिभद्रने अपने अष्टकमें न्यायावतारका रचयिता महामति बताया है। तथा पंचवस्तुमें सन्मतिकारको दिवाकर तथा श्रुतकेवली कहा है।

३. न्यायावतारकी तथाकथित हरिभद्रीय टीका उपलब्ध नहीं है। बृहद्टिप्पणिका में बतायी गयी इसकी श्लोकसंख्या २०७३ सिद्धर्षिकी विवृत्तिसे मिलती है।

४. न्यायावतारका चौथा व नवां श्लोक क्रमशः हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चय तथा स्वामी समन्तभद्रके रत्नकरण्डश्रावकाचारसे लिये गये हैं। और इस तरह न्यायावतार द्वात्रिंशिकाके रूपमें परिगणित नहीं हो सकता।

५. सर्वप्रथम सिद्धर्षि (११ वीं शताब्दी)ने न्यायावतारको दिवाकरकी कृति कहा है।

६. इस पर पात्रस्वामीका प्रभाव है।

इस प्रकार उपाध्येजीके अनुसार न्यायावतार व सन्मतिसूत्र भिन्नकर्तृक हैं। सन्मतिसूत्रके रचयिता यापनीय सम्प्रदायके थे।

उक्त दोनों विद्वानोंके तर्क और निष्कर्ष देखते हुए हम भी इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि सन्मतितर्कके आधारपर ही सिद्धसेनके सम्प्रदायका विचार करना योग्य है। सन्मतिसूत्र प्राचीन ग्रन्थ है तथा न्यायावतार उस समयकी रचना है, जब जैन आचार्योंने प्राकृतके स्थानपर संस्कृत भाषाका माध्यम स्वीकार कर लिया था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्व० मुख्तारजीने सन्मतिकार सिद्धसेनको दिगम्बर माननेमें जो तर्क प्रस्तुत किया है, वह है हरिवंशपुराणकार जिनसेन तथा आचार्य रविषेण द्वारा सिद्धसेनका अपनी गुर्वावलीमें उल्लेख। पर इस आधारपर हम सिद्धसेनको दिगम्बर आचार्य नहीं कह सकते, क्योंकि आचार्य जिनसेन द्वारा उल्लिखित सिद्धसेनके गुरु हैं अभयसेन तथा रविषेण द्वारा उल्लिखित दिवाकर यतिके गुरु इन्द्र हैं। इस प्रकार ये दोनों सिद्धसेन भी एक नहीं हैं। दूसरे, हरिवंशपुराण तथा पद्मचरित स्वयं भी यापनीय कृतियाँ हैं, जिसका विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है।[1]

मुख्तारजीके अनुसार सन्मतिसूत्रका अभेदवाद युगपद्वादके करीब है, जिसके बीज आचार्य कुन्दकुन्दके साहित्यमें मिलते हैं; यह सत्य है तथापि इस अभेदवादके आधारपर इन्हें दिगम्बर या यापनीय नहीं कहा सकता, क्योंकि यापनीय ग्रन्थ भगवती आराधना आदिमें भी युगपद्वादका उल्लेख है। अतः अभेदवाद इनकी मौलिक मान्यता है। परन्तु अन्य अनेक कारणोंसे सन्मतिसूत्र यापनीय ग्रन्थ प्रतीत होता है। वे कारण इस प्रकार हैं–

(१) सन्मतिसूत्रका श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें भी आदरपूर्वक उल्लेख है। जीतकल्पचूर्णिमें सन्मतिसूत्रको सिद्धिविनिश्चयके समान प्रभावक ग्रन्थ कहा गया है। सिद्धिविनिश्चय भी संभवतः यापनीय शिवार्यकृत ग्रन्थ है, क्योंकि शाकटायन व्याकरणमें शिवार्यकृत सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थका उल्लेख है।[2] निशीथचूर्णिमें भी इसी प्रकार सिद्धिनिनिश्चय, सन्मति आदिका दर्शन-प्रभावक ग्रन्थके रूपमें उल्लेख है और यापनीय साहित्य यापनीय नामसे नहीं, अपितु जैनसिद्धान्त ग्रन्थोंके रूपमें दोनों सम्प्रदायोंमें मान्य रहा है।

(२) सन्मतिसूत्रसे सिद्धसेन अर्द्धमागधीमें संकलित आगमको मानने वाली परम्पराके प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ–सन्मतिसूत्रके प्रथम काण्डकी उन्चासवीं गाथामें स्थानांगसूत्रका उद्धरण है—

एवं एगे आया एगे दंडे य होई किरिया य।
करणविसेसेण य तिविहजोगसिद्धि वि अविरुद्धा ॥१/४९

अर्थात् संसारी जीवके जीव और देह दूध और पानीकी तरह अन्योन्य मिलित हैं, इसलिये देहगत पर्याय पुद्गलके अतिरिक्त जीवके भी है और जीवगत पर्याय देह

१. देखिये, दूसरे परिच्छेदमें पुन्नाटसंघ तथा तीसरेमें आचार्य रविषेण।

२. आ० अकलंकदेवका भी एक सिद्धिविनिश्चय है, उसका भो यहाँ उल्लेख संभव है। शाकटायन व्याकरण (पृ० ९४) में शिवार्यकृत सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख है। प्रेमीजीकी सूचनाके अनुसार मुनि पुन्यविजयको प्राप्त स्त्रीमुक्तिप्रकरणकी खंडित टीकामें शिवस्वामीके सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थका उद्धरण है। (जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २५८)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के भी हैं। जीव और पुद्गलबन्धकी ओतप्रोतताके कारण ही ऐसे शास्त्रीय व्यवहार किये जाते हैं—"एगे आया" आदि। ये उद्धरण स्थानांगसूत्रसे लिये गये हैं। वहाँ यह कथन इस प्रकार है।

एगे आया।
एगे दंडे
एगा किरिया ॥[1]

सन्मतिसूत्रके अध्ययनसे यह स्पष्ट मालूम होता है कि उन्होंने संकलित आगमको आधार बनाकर ही सन्मतिसूत्रकी रचना की है। उदाहरणार्थ अभेदवादके सिद्धान्तका प्रतिपादन ही दृष्टव्य है।

सन्मतिसूत्रकार अभेदवादका प्रतिपादन करते समय क्रमवादका खण्डन करते हैं। वे कहते हैं, कि "जिस समय केवली जानता है, उस समय देखता नहीं है" ऐसा सूत्रका अवलम्बन करने वाले कुछ आचार्य कहते हैं। ये आचार्य तीर्थंकरोंकी आशातनासे डरने वाले हैं।

केई भणंति जइया जाणइ तइया न पासइ (जिणो) त्ति।
सुत्तमवलम्बमाणा तित्थयरासायणाभीरू ॥ २/४

यदि ग्रन्थकार दिगम्बर होते तो उन्हें क्रमवादका खंडन करते समय आचार्योंको सूत्रावलम्बी तथा तीर्थङ्कराशातनाभीरू कहनेकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि वे क्रमवादके समर्थक[2] आगमोंको नहीं मानते। संकलित आगमग्रन्थोंको प्रमाण मानने वालेके लिये ही किसी सूत्रको न मानना तीर्थङ्कराशातनाभीरू कहना यही व्यक्त करता है कि वे भी सूत्रोंको प्रामाणिक मानने वाली परम्पराके हैं।

अभेदवादकी सिद्धिसे आगम—सूत्र अप्रामाणिक हो जायेंगे, इस बातको समझकर उन्होंने आगमका उद्धरण देते हुये ही अभेदवादकी सिद्धि की है। आगेकी गाथामें आगम-कथित अन्य सूत्रका उल्लेख करते हैं कि आगममें हीं केवलज्ञान-दर्शनको सादि—अपर्यवसित कहा गया है।[3] यदि सूत्रोंको आशातनाके भयके कारण ही क्रमवादको नहीं मानते हो, तो सूत्रोंमें ही केवल ज्ञान-दर्शनको सादि-अपर्यवसित भी कहा है, अतः उसे यदि मानोगे तो कैसे क्रमवाद सिद्ध होगा ?

सुत्तम्मि चेव साई —अपज्जवसियं ति केवलं वुत्तं।
सुत्तासायणाभीरूहि तं च दट्ठव्वयं होइ।[4]

---

१. स्थानांगसूत्र—२, ३, ४
२. भगवती सूत्र १८/८/१८१ में क्रमवादका वर्णन इस प्रकार है—
केवली णं मणुस्से परमाणुपोग्गलं जं समयं जाणति नो तं समयं पासति……।
३. भगवतिसूत्र ८/२/१९७ में केवलज्ञान-दर्शनको सादि-अपर्यवसित कहा गया है।
४. सन्मतिसूत्र २/७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूत्र-विरोधको दूर करनेके लिये ही वे कहते हैं कि सूत्र अर्थका स्थान है। सूत्रका ज्ञान प्राप्तकर उसका अर्थ निकालनेका प्रयत्न करना चाहिये—

सुत्तं अत्थनियेणं ण सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती।
अत्थगई उण णयवा यगहणलीला दुरभिगम्मा॥
तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्मि जइयव्वं।
आयरियधीरहत्था हंदि महाणं विलंबेंति॥[1]

शास्त्रमें प्रतीत होने वाले विरोध-परिहारका भी प्रयास किया है :—

ताई अपज्जवसियं ति दो वि ते ससमयओ हवइ एवं।
परतित्थवत्तव्वं च सगसमयंततरुप्पाओ॥[2]

शास्त्रमें सादि अपर्यवसित केवलज्ञानको ही स्वसमय कहा गया है। एक समयके अंतरसे उत्पन्न ज्ञान-दर्शनके क्रमवादको परतीर्थ-वक्तव्य अर्थात् परसमयके रूपमें उल्लिखित मानी है।

शास्त्रके विरोध-परिहारका यह प्रयास ही उनकी सूत्रोंको प्रामाणिक मानने की संभावनाको दृढ़ करता है।

(३) गुणापर्यायका विचार करते समय एकगुणकालक, दशगुणकालक इत्यादिका जो निर्देश किया है, वहाँ श्वे. आगमोंका स्पष्ट उल्लेख किया है।

जं च पुण अरहया तेसु तेसु सुत्तेसु गोयमाईणं।
पज्जवसण्णा णियमा वागरिया तेण पज्जाया॥[3]
जंपंति अत्थि समये एगगुणो दसगुणो अणंतगुणो।
रूवाई परिणामो भण्णइ तम्हा गुणविसेसो॥[4]

(४) यापनीय ग्रन्थ मूलाचारसे सन्मतितर्ककी गाथाओंमें साम्य है।[5]

(५) मदनूर (जिला नेल्लोर) से प्राप्त संस्कृत शिलालेखमें उल्लेख है कि कोटि-मडुवगणमें मुख्य पुण्यार्हनन्दिगच्छमें गणधरके सदृश जिननन्दि मुनीश्वर हुए, उनके शिष्य पृथ्वीपर विख्यात केवलज्ञाननिधिके धारक गुणोंके कारण स्वयं जिनेन्द्रके सदृश दिवाकर नाम मुनिपुंगव हुये। ध्यान रहे; कोटिमड्डवगण यापनीय संघकी शाखा है।

यदि यही दिवाकर सिद्धसेन दिवाकर हैं, तो उनके यापनीय होनेका निश्चित प्रमाण मिल जाता है। वैसे भी उनके सन्मतिप्रकरणसे इतना निश्चित है कि वे आगम को प्रमाण मानने वाले तो थे, किन्तु स्वतंत्र विचारक भी थे।

---

१. सन्मतिसूत्र ३/६४-५।
२. सन्मतिसूत्र २/३१।
३. सन्मतिसूत्र ३/११।
४. सन्मतिसूत्र ३/१३।
५. डॉ० ए. एन. उपाध्येने अपनी पुस्तक 'सिद्धसेनाज न्यायावतार एंड अदर वर्क्स'-की प्रस्तावनामें इनकी सूची दी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यातव्य है कि अन्य यापनीय आचार्योंकी भांति उन्होंने भी अपने संघ आदिका विवरण नहीं दिया है।

आचार्य रविषेण

आचार्य रविषेण भी कई कारणोंसे यापनीय प्रतीत होते हैं। प्रायः यापनीय आचार्योंने अपने संघ आदिका उल्लेख नहीं किया है। आचार्य रविषेणने भी इस परम्पराका पालन किया है। गुरुपरम्परा देते हुए भी वे संघादिके उल्लेखसे बचे हैं।

स्वयं आचार्य रविषेणके अनुसार उनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—इन्द्र, दिवाकरयति, अर्हन्मुनि, लक्ष्मणसेन व रविषेण।[1] शाकटायनसूत्रमें भी इन्द्रका उल्लेख है।[2] शकटायन सूत्र यापनीय ग्रंथ माना जा चुका है। गोम्मटसारमें इन्द्रको संशयी बताया गया है।

एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बम्ह तावसो विणओ।
इंदो वि य संसइयो मक्कडियो चैव अण्णाणी ॥।[3]

टीकाकार ने इन्द्रको श्वेताम्बर गुरु बताया है। इस विषयमें प्रेमीजीका कथन है कि "इन्द्र नामके श्वेताम्बराचार्यका अभी तक कोई उल्लेख नहीं मिला। बहुत संभव है कि वे यापनीय ही हों और श्वेताम्बरतुल्य होनेसे श्वेताम्बर कह दिये गये हों। द्विकोटिगत ज्ञानको संशय कहते हैं, जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमें घटित नहीं हो सकता। परन्तु यापनीयोंको कुछ श्वेताम्बर तथा कुछ दिगम्बर होनेके कारण शायद संशयमिथ्यादृष्टि कह दिया गया हो। बहुत संभव है कि शाकटायनसूत्रकारने इन्हीं इन्द्र गुरुका उल्लेख किया हो।[4]

इन्द्र और दिवाकरयति यदि यापनीय हों तो रविषेण भी यापनीय ही होने चाहिये। यदि यह दिवाकर यति सन्मतिकार हैं, तो उनका यापनीय होना निश्चित है।

आचार्य रविषेणने अपनी कथाके स्रोतके विषयमें लिखा है—वर्द्धमान जिनेन्द्र द्वारा कथित यह कथा इन्द्रभूति गौतमको प्राप्त हुई, फिर क्रमसे धारिणीपुत्र सुधर्माको और

१. पद्मचरित १/६९—
आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः।
तस्माल्लक्ष्मणसेनसन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तत्स्मृतः ॥
२. शाकटायन व्याकरण, श्लोक नं० १०।
३. गोम्मटसार जीवकाण्ड गा० १६।
४. जैन साहित्य और इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० १६७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फिर क्रमसे प्रभवस्वामीको प्राप्त हुई। इसके पश्चात् अनुत्तरवाग्मी कीर्ति द्वारा लिखित कथा प्राप्त करके रविषेणने यह प्रयत्न किया।[1]

ध्यातव्य है कि जम्बूस्वामीके पश्चात्से जैन सम्प्रदायकी दो धारायें प्राप्त होती हैं। दिगम्बर परम्परा आचार्य विष्णुको तथा श्वेताम्बर परम्परा आचार्य प्रभव स्वामीको जम्बूस्वामीका उत्तराधिकारी मानती है। रविषेण द्वारा सुधर्माके पश्चात् प्रभवस्वामीका उल्लेख, ये दिगम्बर परम्पराके नहीं थे, यह माननेके लिये पर्याप्त प्रमाण है।

रामकथाकी दो धारायें जैन-साहित्यमें मिलती हैं। एक धारा वह जो गुणभद्रके उत्तरपुराणमें मिलती है, उसकी भी पूर्व परम्परा थी।[2] परवर्ती कालमें पुष्पदंतने अपभ्रंशमें इस कथाको गूंथा है।

दूसरी कथाधारा विमलसूरिके पउमचरिय, पद्मचरित तथा स्वयंभूके पउमचरिउमें है।[3] यही हेमचन्द्रके त्रिशष्टिशलाकापुरुषमें भी है।

रविषेण द्वारा दिगम्बर परम्परामें प्रचलित गुणभद्र वाली कथाको न अपनाकर विमलसूरिकी कथाको अपनाना भी उन्हें दिगम्बर-भिन्न परम्पराका द्योतित करता है। यद्यपि आचार्य गुणभद्रका समय आचार्य रविषेणसे परवर्ती है,।[4] परन्तु गुणभद्र-

---

१. पद्मचरित १/४१-४२ व पर्व १२३/१६६

वर्द्धमानजिनेन्द्रोक्तः सोऽयमर्थो गणेश्वरं।
इन्द्रभूतिं परिप्राप्तः सुधर्मं धारिणीभवम्॥
प्रभवं क्रमतः कीर्तिं ततोनुत्तरवाग्मिनं।
लिखितं तस्य संप्राप्य रवेर्यत्नोयमुद्गवः॥

२. आदिपुराणमें आचार्य जिनसेनने अपनी कथाको कविपरमेश्वरकी गद्यकथाके आधारसे लिखा बताया है। चामुण्डरायने भी अपने कन्नडमें लिखित त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणमें इन चरित्रोंको कूचि भट्टारक, नन्दिमुनीश्वर, कविपरमेश्वर, जिननेन, गुणभद्रके द्वारा क्रमशः लिखा गया बताया है।

३. दिगम्बर परम्परामें सर्वत्र नवें बलदेव बलरामको पद्म कहा गया है, न कि आठवें बलभद्र रामको। उत्तरपुराणका श्लोक दृष्टव्य है—

रोहिण्याः पुण्यभाक्पद्मनामासौ समजायत।
प्रतोषं बन्धुवर्गेषु वर्धयन्नवमो बलः॥ ७०/३१९।

विशेषके लिए देखिए इसी परिच्छेदमें 'स्वयंभूका सम्प्रदाय'।

४. आचार्य रविषेण तथा गुणभद्रके समयके लिये देखिये—प्रेमीजी लिखित जैन साहित्य और इतिहासमें "पद्मचरित तथा पउमचरिय" एवं वीरसेन, जिनसेन व गुणभद्र।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की कथाकी एक पूर्वपरम्परा थी, यह बात चामुण्डराय लिखित चामुण्डरायपुराण (त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण) से मालूम होती है।

रविषेणकी कथाको यापनीय स्वयंभू द्वारा अपनाया जाना भी रविषेणको यापनीय माननेका एक महत्त्वपूर्ण कारण है। स्वयंभूने रामकथाकी परम्पराको वर्धमान, इन्द्रभूति, सुधर्मा, प्रभव, अनुत्तरवाग्मी कीर्ति तथा रविषेणसे क्रमशः प्राप्त बताया है। रविषेण-के प्रति आभार प्रदर्शित करते हुए कहा है—आचार्य रविषेणके प्रसादसे प्राप्त कथा-सरितामें कविराजने अपनी बुद्धिसे अवगाहन किया है।

पद्मचरितमें प्रभव स्वामीका उल्लेख तथा स्वयंभू द्वारा आदरपूर्वक रविषेणके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन दोनों तथ्य रविषेणको यापनीय माननेको प्रेरित करते हैं।

रविषेणकी कथा पउमचरियकी कथा पर आधारित है, तथापि रविषेणने विमल-सूरि अथवा पउमचरियका नामोल्लेख न करके अनुत्तरवाग्मी कीर्तिके लिखित प्रयत्नका उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि विमलसूरिके श्वेताम्बर होनेके कारण रविषेणने उनका उल्लेख नहीं किया है। विमलसूरि श्वेताम्बर परम्पराके थे, इसे हमने अन्यत्र प्रदर्शित किया है।[1]

रविषेणके कई उल्लेख दिगम्बर परम्पराके विपरीत हैं। गन्धर्व देवोंको मद्यपी[2] तथा यक्ष राक्षसादिकोंको कवलाहारी मानना[3] दिगम्बर परम्पराके विपरीत है।

दिगम्बर परम्पराके अनुसार १२ वें से १६ वें स्वर्गके देव प्रथम नरकके चित्रा-भागसे आगे नहीं जाते।[4] परन्तु पद्मचरितमें सोलहवें स्वर्गके प्रतीन्द्रके रूपमें जन्मे सीताके जीवका रावणको संबोधित करनेके लिये नरकगमन बताया गया है।[5]

पद्मचरितमें यह उल्लेख है कि भरतचक्रवर्ती मुनियोंके निमित्तसे बने आहार को लेकर समवशरण पहुँचे और मुनियोंसे आहारके लिये प्रार्थना करने लगे। तब भगवान् ऋषभदेवने बताया कि मुनि उद्दिष्ट भोजन नहीं करते और न आहारकी

---

१. 'क्या विमलसूरि यापनीय थे?' लेख 'महावीरस्मारिका,' जयपुर, १९७७।
२. पद्मचरित १७/२६८—प्रमोदवानसौ मद्यं पीतवान् सुमहागुणम्।
३. पद्मचरित ९४/२७१

डाकिनी प्रेतभूतादिकुत्सितप्राणिभिः समं।
भुक्तं तेन भवेद्येन क्रियते रात्रिभोजनम्॥

४. धवला, पुस्तक ४, पृ० १२३-९।
५. पद्मचरित, पर्व १२३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसी रीति है।[1] यह उल्लेख भी दिगम्बर परम्पराके विपरीत है।

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक बातें हैं, जो गुणभद्रकी कथाके विपरीत हैं।

१. सगर चक्रवर्तीके पूर्वभव तथा उनके पुत्रोंका नागकुमार देवके कोपसे भस्म होना।

(२) हरिषेण चक्रवर्तीकी मोक्षगति।[2]

(३) मघवा चक्रवर्तीको सौधर्म स्वर्गकी प्राप्ति तथा चक्री सनत्कुमारको तीसरे स्वर्गकी प्राप्ति।

(४) भगवान महावीर द्वारा सौधर्मेन्द्रकी शंका-निवारणार्थ पादांगुष्ठसे मेरुको कम्पित करना।[3]

(५) राम और कृष्णके बीच ६४ हजार वर्षोंका अन्तर। ये अनेक कारण रविषेण के दिगम्बर आचार्य होनेमें शंका उपस्थित करते हैं।

हरिवंशपुराण की परम्परा

हरिवंशपुराणके रचयिता जिनसेन तथा हरिषेण दोनोंने अपनेको पुन्नाटसंघी कहा है। दोनोंने अपने ग्रन्थकी रचना वर्द्धमानपुरमें की है।[4] हरिवंशपुराणमें तीर्थङ्कर नेमिनाथके हरिवंशके वर्णनके प्रसंगमें सभी शलाकापुरुषोंका वर्णन कर दिया गया है।

कथाकोशकार हरिषेणने स्त्रीमुक्ति एवं गृहस्थमुक्तिका स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः वे यापनीय होने चाहिए। इसके अतिरिक्त उसकी रचना यापनीय भगवती आराधनाके आधार पर हुई है। हरिवंशपुराणकार भी पुन्नाटसंघी हैं, अतः इन्हें भी यापनीय ही होना चाहिए।

हरिवंशपुराणकी भी कुछ बातें विचारणीय हैं—

१. राजा जितशत्रुकी भगवान् महावीरसे अपनी पुत्री यशोदाके विवाहकी उत्सुकता—

> यशोदयायां सुतया यशोदया पवित्रया वीरविवाहमंगलम्।
> अनेककन्यापवरिवारयारुहत्समीक्षितुं तुंगमनोरथं तदा॥ ६६/८॥

श्वेताम्बर-परम्परामें भगवान् महावीरके विवाहकी कथा मिलती है।

---

१. पद्मचरित, ४/९१।

२. पद्मचरित, पर्व ८।

३. पद्मचरित, २/७६।

४. हरिवंशपुराण, ६६/५३-४ व कथाकोश प्रशस्तिपद्य ३-४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. नन्दिषेण मुनिका रोगी मुनिको गोचरी बेलामें सिद्धियोंके बलसे इच्छित आहार प्राप्त करना।[१] नन्दिषेण मुनिके वैयावृत्यकी यह कथा श्वेताम्बर कथाग्रंथ आख्यानकमणिकोशके शौरी आख्यानमें[२] प्राप्त होती है। दो देव परीक्षाके लिए साधुका वेश रखकर नन्दिषेण मुनिके पास आते हैं, उनके दुर्व्यवहार करनेपर भी नन्दिषेण मुनि इच्छित आहार व औषधिसे उनकी वैयावृत्य करते हैं। मुनिके द्वारा मुनिके इस वैयावृत्यका कुछ समर्थन भगवती आराधनासे होता है,[३] जहाँ मुनि द्वारा रुग्ण, ग्लान साधुके लिए आहार-पानक लानेका विधान है।

३. पद्मचरितकी भांति यहाँ भी तीर्थङ्करोंके गर्भकल्याणकमें देवोंके आगमनका वर्णन नहीं है। यह यापनीय मान्यता है।

४. ब्रह्मस्वर्गसे बलदेवका जीव श्रीकृष्णके जीवको नरकसे लेने जाता है। उस समय श्रीकृष्णका जीव भरतक्षेत्रमें बलदेव व श्रीकृष्णकी मूर्ति-पूजाका प्रचार करनेके लिए कहता है। और बलदेवका जीव वही करता है। श्रीकृष्ण और बलदेव दोनों सम्यग्दृष्टि जीव थे, उनके द्वारा मिथ्यात्वका प्रचार विचारणीय है।[४]

५. दो स्थानोंपर 'अन्त्यदेह' कहकर उनकी मोक्षगति[५] तथा एक स्थान पर स्वर्गगति[६] कही गई है। दिगम्बर परम्परामें तिलोयपण्णत्ति व त्रिलोकसारमें उनकी नरक गति मानी गई है।[७]

परन्तु हरिवंशपुराणमें प्रथम व अन्तिम सर्गमें जो आचार्य परम्परा दी गई है, उसमें विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन तथा भद्रबाहु इस परम्पराका उल्लेख है, जबकि रविषेण तथा स्वयंभू प्रभवका उल्लेख करते हैं। इसमें चार आचारांग-धारियोंका वर्णन है, जबकि यापनीय ११ अंगोंका अस्तित्व मानते हैं।

---

१. वही १८/१५७-१६७ तथा 'महालब्धिमस्तस्य वैयावृत्योपयोगि यत्।
वस्तु तच्चिन्तितं हस्ते भेषजाद्याशु जायते ॥१८/१३८॥
२. आख्यानक-मणिकोश, पृ० ७१।
३. भगवती आराधना, गाथा ६६/१३।
४. हरिवंशपुराण ६५/४१-५६।
५. वही ४२/२२ (अन्त्यदेहः) ६५/२४।
६. वही १७/१६३।
७. कलहप्पिया कदाइं धम्मरया वासुदेवसमकाला।
भव्वा णिरयगदिं ते हिंसादोसेण गच्छंति ॥ त्रिलोकसार गाथा ८३५।
रुद्दावइ अइरुद्दा पावणिहाणा हवामि सव्वे मे।
कलहमहा जुज्झपिया अधोगया वासुदेवव्व ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यापनीय साहित्यके दिगम्बर साहित्यमें अन्तर्भुक्त हो जानेके बाद दिगम्बरों द्वारा उसमें प्रक्षेपण संशोधन हुए हैं, जिसका प्रमाण है कि विजयोदया टीकाके भगवती आराधना के वर्तमान स्वरूपसे मिलान करने पर स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। और फिर यह आचार्यपरम्परा इस ग्रंथमें प्रथम सर्ग (५६-६५) साठवें सर्ग (४७९-४८२) तथा ६६ वें सर्ग (२२-२३) में तीन बार दी है। यह पुनरुक्ति अवसर, मिलते ही प्रक्षेपांशको सम्मिलित करनेके कारण ही हो सकती है।

विचार करनेपर इनके यापनीय होनेकी ही संभावना प्रबल है।

आचार्य हरिषेणका बृहत्कथाकोश यापनीय ग्रंथ है

पुन्नाटसंघी हरिषेणका आराधनाकथाकोश उपलब्ध कथाकोशोंमें सबसे प्राचीन है। इसका रचनाकाल वि० सं० ९८९ और श्लोकसंख्या १२५० है। अन्य कथाकोशोंकी अपेक्षा बड़ा होनेसे इसे 'बृहत्' कहा जाने लगा। स्वयं हरिषेणने इसे कथाकोश ही कहा है। इसमें कुल मिलाकर एक सौ सत्तावन कथाएँ हैं।

इस कथाकोशके कुछ श्लोक विचारणीय हैं—

> एवं करोति यो भक्त्या नरो रामा महीतले।
> लभते केवलज्ञानं मोक्षं च क्रमतः स्वयम् ॥ ५७/२३५ ॥

यहाँ स्पष्ट रूपसे स्त्रीमुक्तिका कथन है।

इसी कथामें गृहस्थमुक्तिका भी कथन है—

> अणुव्रतधरः कश्चित् गुणशिक्षाव्रतान्वितः।
> सिद्धिभक्तो व्रजेत् सिद्धिं मौनव्रतसमन्वितः ॥ ५७/५६७ ॥

स्त्रीके तीर्थङ्कर-नामगोत्रके बंधका भी कथन है—

> बद्ध्वा तीर्थङ्करं गोत्रं तपः शुद्धं विधाय च।
> रुक्मिणी स्त्रीत्वमादाय दिवि जातो सुरो महान् ॥ १०८/१२५ ॥

इसी कथाकोशके ही एणिकापुत्र-कथानकमें मुनि एणिकापुत्रके गंगापार करते समय समाधिमरण करके मोक्ष जानेका वर्णन है—

> गंगानदीजलान्तेऽसौ नौर्निमग्ना निमूलतः।
> समाधिमरणं प्राप्य निर्वाणमगमत् सकः ॥ १३०/९

अन्निकापुत्रके नामसे यह कथा श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रसिद्ध है।[1] मुनिद्वारा नावसे गंगा पार करना दिगम्बर परम्पराको स्वीकृत नहीं हो सकता। इसी प्रकार कथाकोशमें आई मेतार्य (मेदज्ज) की कथा भी दिगम्बर परम्परामें प्रचलित नहीं है।

---

१. भगवती आराधनामें यह उल्लेख है—णावाए णिव्वुडाए गंगामज्झे अमुज्झमाणमदी। आराधणं पवण्णो कालगओ एणियापुत्तो ॥ गा० १५४३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्त उदाहरण दिगम्बर परम्पराके प्रतिकूल हैं, तथा पुन्नाट संघ ही यापनीय संघ अथवा उसकी कोई शाखा होगी, यह माननेके लिए प्रमाण हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी दिगम्बर परम्पराके प्रतिकूल हैं। भद्रबाहुकी कथामें कहा गया है कि भद्रबाहुने बारह वर्षोंके घोर दुर्भिक्ष पड़नेका भविष्य जानकर अपने तमाम शिष्योंको अन्यत्र लवणसमुद्रके समीप जानेको कहा और अपनी आयु क्षीण जानकर वे स्वयं वहीं रह गये। और वहाँ श्रीमद् उज्जयिनीभव भाद्रपद देशमें अनशन करके समाधिमरण किया तथा स्वर्ग प्राप्त किया।

भद्रबाहुमुनिर्धीरो भयसप्तकवर्जितः।
पंपाक्षुधाश्रमं तीव्रं जिगाय सहसोत्थितम्॥
प्राप्य भाद्रपदं देशं श्रीमदुज्जयिनीभवम्
चकारानशनं धीरः स दिनानि बहून्यलम्॥
आराधनां समाराध्य विधिना स चतुर्विधाम्
समाधिमरणं प्राप्य भद्रबाहुर्दिवं ययौ॥ १३१/४२-४॥

यह कथा श्वेताम्बर कथासे मिलती है, जिसमें भद्रबाहुके दुर्भिक्षके समय नेपालकी तराईमें महाप्राण ध्यान करनेका उल्लेख है। नेपालके मानचित्रमें पूर्वमें असमकी सीमाके समीप भद्रपुर दिखाई देता है।

भगवती आराधनामें भी भद्रबाहुके अवमौदर्य तप द्वारा मरणका कथन है।
ओमोदरिए, घोराए भद्दबाहू असंकिलिट्ठमदी।
घोराए तिगिंच्छाए पडिवण्णो उत्तमं ठाणं॥ गा० १५४४

इसी कथामें चन्द्रगुप्तका दूसरा नाम विशाखाचार्य बताया गया है। और इन्हींके नेतृत्वमें संघके दक्षिणदेशमें पुन्नाट राज्यमें पहुँचनेका उल्लेख है।

दिगम्बर परम्परामें चन्द्रगुप्तका अपरनाम प्रभाचन्द्र माना गया है। विशाखाचार्य उसी संघमें दूसरे आचार्य थे। संघ स्वयं भद्रबाहुके नेतृत्वमें दक्षिणापथकी ओर गया था। भद्रबाहुका समाधिमरण चन्द्रगिरि पर्वतपर हुआ था।

भद्रबाहुकी कथाका यह भेद भी बृहत्कथाकोशकारके यापनोय होनेकी ओर संकेत कर रहा है।

भगवती आराधना यापनीय ग्रंथ है। इस ग्रन्थमें अनेक आराधकोंकी कथाओंके संकेत हैं। कथाकोशमें उन्हीं पर कथाएँ लिखी गयी हैं। कथाकोशकारने स्वयं इसे आराधनोद्धृत कहा है—

आरोधनोद्धृतः पथ्यो भव्यानां भावितात्मनाम्।
हरिषेणकृतो भाति कथाकोशो महीतले॥—प्रशस्तिपद्य, ८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यापनीय ग्रन्थके आधारपर इसकी निर्मिति भी यापनीयताकी ओर संकेत करती है। स्त्रीमुक्ति तथा गृहस्थमुक्ति जैसे सिद्धान्तोंका समर्थन तो पुन्नाटसंघके यापनीय होनेका सबल प्रमाण है।

इस संभावनामें बाधक हो सकती है स्वयं बृहत्कथाकोशकी भद्रबाहुकी कथा, जिसके अनुसार दुर्भिक्षके समय सिन्धुदेश गये हुए मुनियोंमें शिथिलता आ गयी थी। ये शिथिलाचारी अर्द्धफालक संघके साधु कहलाते थे। वलभी-नरेश वप्रवादकी आज्ञासे अर्द्धफालक सम्प्रदायसे काम्बलतीर्थकी उत्पत्ति हुई, तथा काम्बल अथवा काम्बलिक-तीर्थसे दक्षिण देशमें स्थित सावलिपत्तनमें यापनीय संघ उत्पन्न हुआ—

लाटानां प्रीतिचित्तानां ततस्तद्दिवसं प्रति।
बभूव काम्बलं तीर्थं वप्रवादनृपाज्ञया ॥
ततः काम्बलिकात्तीर्थान्नूनं सावलिपत्तने।
दक्षिणापथदेशस्थे जातो यापनसंघकः ॥ —भद्रबाहुकथा संख्या १३१

ये भद्रबाहुकथाके अन्तिम श्लोक हैं। इस अंशको पढ़नेसे प्रतीत होता है कि अर्द्धफालक सम्प्रदायसे काम्बलतीर्थकी उत्पत्ति बताकर यह कथा समाप्त हो गई है। समाप्त कथामें एक श्लोक जोड़कर यापनीयोंकी उत्पत्तिका कथन प्रक्षिप्त लगता है, क्योंकि जब हरिषेणने काम्बलतीर्थकी उत्पत्तिकी कथा अनेक पद्योंमें विस्तारसे दी है, तो यापनीयोंकी उत्पत्तिकी कथा भी विस्तारसे दी जानी चाहिए थी। अन्तिम श्लोक यापनीयविरोधी व्यक्ति द्वारा जोड़ा हुआ प्रतीत होता है, अपने कथनको वजन देनेके लिए 'नूनं' शब्द जोड़ा गया है। हरिषेणको यापनीय माननेके लिए स्त्रीमुक्ति तथा गृहस्थमुक्तिके उल्लेख प्रबल प्रमाण हैं। और इसी कारण पुन्नाटसंघीय होनेसे जिनसेन भी यापनीय प्रतीत होते हैं।

स्वयंभूका सम्प्रदाय

महाकवि स्वयंभूने अपभ्रंशको स्थायी गौरवके आसन पर अधिष्ठित किया है। स्वयंभूकी तीन कृतियां पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ एवं स्वयंभूच्छन्द उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त पउमचरिउकी प्रशस्तिमें "सिरिपचंमी" तथा "रिट्ठणेमिचरिउ"में "सुद्धयचरिउ"का उल्लेख भी मिलता है।

स्वयंभूने स्वयं अपने सम्प्रदायका कोई उल्लेख नहीं किया है। पुष्पदन्तके महापुराणके टिप्पणमें स्वयंभूको आपुलीसंघीय बताया गया है।[1] इससे ये यापनीय मालूम पड़ते हैं।

---

१. महापुराण, पुष्पदन्त १.९.५ का टिप्पण "स्वयंभू पाथंडीबद्ध रामायणकर्ता आपुलीसंघीय।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमीजीने भी इन्हें यापनीय माना है।[१] श्री एच. सी. भायाणी भी यही लिखते हैं कि यद्यपि इस सन्दर्भमें हमें स्वयंभू की ओरसे कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष वक्तव्य नहीं मिलता है, परन्तु यापनीय संग्रन्थ अवस्था तथा परशासनसे भी मुक्ति स्वीकार करते थे और स्वयंभू अपेक्षाकृत अधिक उदारचेता थे, अतः इन्हें यापनीय माना जा सकता है।[२]

स्वयंभूके सम्प्रदायके विषयमें डॉ० संकटाप्रसाद उपाध्यायका कथन है कि अधिक निश्चित जानकारीके अभावमें चाहे स्वयंभूके यापनीयसंघीय होनेके विषयमें कोई अंतिम निर्णय न हो सके, पर अन्तःसाक्ष्योंके आधारपर उन्हें दिगम्बर सम्प्रदायका माननेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।[३]

हमारी दृष्टिसे महाकवि पुष्पदन्तके महापुराणके टीकाकारने जिस परम्पराके आधारपर इन्हें आपुलीसंघीय कहा है, वह परम्परा वास्तविक होनी चाहिये। साथ ही अनेक तथ्योंसे इनके यापनीय होनेका समर्थन होता है।

(१) दिगम्बर परम्परामें रामको आठवां तथा पद्मको नवाँ बलदेव माना गया है। उदाहरणार्थ तिलोयपण्णत्ती[४], त्रिलोकसार[५], उत्तरपुराण[६] आदि ग्रन्थोंमें रामको आठवां तथा पद्मको नवां बलदेव कहा गया है। उसके विपरीत श्वेताम्बर परम्परामें पद्म आठवें तथा राम नवें बलदेव हैं। समवायसूत्र, अभिधानचिंतामणि[७], विचारसार-

---

१. जैन साहित्य और इतिहासःप्रेमीजी पृ० १९८।

२. डॉ० एच०सी० भायाणी कृत 'पउमचरिउ' की भूमिका पृ० १३,५।

३. संकटाप्रसाद उपाध्याय कृत "महाकवि स्वयंभू" पृ० २०१, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ १९६९।

४. तिलोयपण्णत्ती, अधिकार ४, गाथा १४११।
विजयो अचलो धम्मो सुप्पह णामो सुदंसणो णंदी।
णंदिमित्तो य रामो पउमो णव होंति बलदेवा॥

५. त्रिलोकसार, गाथा ८२७।

६. उत्तरपुराण में ५७ वें पर्वमें विजय, ५८ वेंमें अचल, ५९ वेंमें धर्म, ६० वेंमें सुप्रभ ६२वेंमें अपराजित, ६५वेंमें नन्दिषेण, ६६वेंमें नन्दिमित्र, ६७ में राम और ७१वेंमें बलदेव इन बलभद्रोंके वर्णन है।

७. हेमचन्द्रकृत, काण्ड ३, श्लोक ३६२।
अचलो विजयो भद्रः सुप्रभश्च सुदर्शनः।
आनंदो नन्दनः पद्मो रामः शुक्ला बलास्त्वमी॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकरण[1] तथा पउमचरिय[2] आदि ग्रन्थोंके उदाहरण लिये जा सकते हैं।

इस प्रकार रामका नाम पद्म दिगम्बर परम्परानुसारी नहीं है, आचार्य रविषेण भी यापनीय आचार्य थे, ऐसा हमारा विचार है।[3]

(२) डॉ० संकटाप्रसाद उपाध्यायके अनुसार रिट्ठणेमिचरिउमें उल्लेख है कि देवकीने क्रमसे भाईके घरमें तीन युगलोंके रूपमें छह पुत्र उत्पन्न किये, जिन्हें इन्द्र-की आज्ञासे नैगमदेव सुभद्रिल नगरके सुदृष्टि सेठके घर पहुँचाता रहा और मृत पुत्रोंको देवकीके पास छोड़ता रहा।

यद्यपि यह उल्लेख आचार्य गुणभद्रने भी अपने उत्तरपुराणमें किया है—

ते नैगमर्षिणा नीतः श्रेष्ठिन्या न्वलकाख्यया।
वर्धिता देवदत्तश्च देवपालोऽनुजस्ततः॥ ७१-२९५।

तथापि हरिणेगमेसि (नैगमदेव) का यह उल्लेख श्वेताम्बर परम्पराके अनुरूप है। भगवान् महावीरका गर्भ देवानंदा ब्राह्मणीकी कुक्षिसे माता त्रिशलाकी कुक्षिमें परिवर्तित करने वाला यही देवता है। यही यहाँ भी संतानप्रदाताके रूपमें चित्रित है। अंतगडदसासूत्रमें नायगामेष संतानप्रदाता देवके रूपमें वर्णित है। इस ग्रन्थके तीसरे वर्गके आठवें अध्ययनमें जम्बूस्वामी और सुधर्मास्वामीके प्रश्नोत्तर द्वारा छह अनगार साधुओंका कथानक वर्णित है। ये छह अनगार साधु देवकीके पुत्र थे। हरिणेगमेसीकी अनुकंपासे नाथ गाथापतिकी पत्नी सुलसाको प्राप्त हुए थे। सुलसा संतानकामनाके वशीभूत होकर हरिणेगमेसी देवकी भक्त बन गयी। सुलसा-की भक्तिभावनासे हरिणेगमेसी देव प्रसन्न हुआ। छह अनगार भक्तोंके सम्बन्धमें देवकी द्वारा उठाई गयी शंकाका समाधान करते हुए आगे कहा गया है कि हरिणेग-मेषी देव नाथ गाथापतिकी पत्नी पर अनुकम्पाके लिये उसके मृत पुत्रोंको तुम्हारे पास रख देता था और तुम्हारे बालकोंको सुलसाके पास। इसलिये देवकी ये सभी पुत्र तुम्हारे ही हैं।[4]

डॉ० कस्तूरचन्द्र जैनने "जैन देवलोकका अस्तंगत नक्षत्र हरिणेगमेसि"में इस पर

---

१. प्रद्युम्नसूरिकृत—गाथा ५६७

२. विमलसूरिकृत पउमचरिय पर्व ५ गाथा १५४
अयलो विजयो भट्टो सुप्पभ सुदंसणो य नायव्वो।
आणंदो नंदणो पउमो नवमो रामो य बलदेवो॥

३. देखिए इसी परिच्छेदमें आचार्य रविषेण।

४. अन्तगडदसाओ, वर्ग ३, अध्ययन ९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विस्तारसे विचार किया है।[1] पुन्नाटसंघीय जिनसेनके हरिवंशपुराण तथा हरिषेणके बृहत्कथाकोशमें भी नैगमदेवका देवकीके पुत्रोंके रक्षकके रूपमें उल्लेख है।[2]

(३) स्वयंभूने वर्द्धमान-मुख-कुहर-विनिर्गत रामकथाके प्रसंगमें कहा है कि इस सुन्दर रामकथारूपी नदीको गणधर देवोंने वहते हुए देखा है। पहले इन्द्रभूति गौतमने देखा, फिर गुणालंकृत धर्माचार्यने, फिर संसारसे विरक्त प्रभवाचार्यने, तदनन्तर अनुत्तरवाग्मी कीर्तिधरने। इसके पश्चात् आचार्य रविषेणके प्रसादसे कविराजने इसमें अपनी बुद्धिसे अवगाहन किया—

एह रामकह-सरि सोहन्ती। गणहरदेवहिं दिट्ठ वहन्ती
पच्छइ इन्द्रभूइ-आयरिएं। पुणु धम्मेण गुणालंकरिए॥
पुणु पहवे संसारासाराएं। कित्तिहरेणं अणुत्तरवाए।
पुणु रविसेणायरियपसाएँ। बुद्धिए अवगाहिय कइसए॥[3]

स्वयंभू द्वारा प्रभवस्वामीका उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। जम्बूस्वामीके पश्चात् जैन सम्प्रदायकी दो धाराएँ प्राप्त होती हैं। आचार्य विष्णु दिगम्बर परम्पराके तथा आचार्य प्रभव श्वेताम्बर परम्पराके प्रमुख व प्रथम श्रुतकेवली आचार्य हैं। स्वयंभूका यह कथन न केवल उनके यापनीयत्वको पुष्ट करता है, अपितु यापनीय प्रभवस्वामी की परम्पराके थे, इस तथ्यको भी उद्घाटित करता है। यद्यपि पं० नाथूरामजी प्रेमीने जैन साहित्य और इतिहासमें रिट्ठणेमिचरिउका अन्तिम अंश प्रकाशित किया है, इसमें हरिवंश-कथाकी परम्परा वीरजिनेश-गौतम स्वामी-सुधर्मा-जंबूस्वामी-विष्णुकुमार-नंदिमित्र-अपराजित-गोवर्द्धन तथा सुभद्रबाहु इस प्रकार दी गई है, पर स्मरणीय है कि यह अंश मुनि जसकित्ति द्वारा रचित है जिन्होंने स्वयं अपना उल्लेख किया है।

(४) स्वयंभूने अपने पउमचरिउमें अनस्तमित भोजनका वर्णन करते हुए कहा है कि गंधर्व देव दिनके पूर्वमें, सभी देव दिनके मध्यमें, पिता-पितामह दिनके अन्तमें तथा राक्षस, भूत, पिशाच और ग्रह रात्रिमें खाते हैं।[4]

यक्ष-राक्षसादिकोंका यह कवलाहार दिगम्बर परम्पराको इष्ट नहीं है, उनके अनुसार देवताओंका मानसिक अमृताहार होता है—देवेसु मणाहारो।[5]

---

१. तुलसीप्रज्ञा, अप्रैल-जून ७५ में प्रकाशित।
२. हरिवंशपुराण ३५/४ तथा बृहत्कथाकोश, उग्रसेन-वसिष्ठकथानक १०६/२२५।
३. पउमचरिउ १/६-९।
४. पउमचरिउ ३४.८,४.५।
पुव्वण्णउ गण गन्धव्वयहुं। मज्जण्हउ सव्वहुं देवयहुं।
अवरण्हउ पियर-पियामहउ। णिसि रक्खय-भूय-पेय-गहहुं॥
५. प्राकृत भावसंग्रह, गाथा ११२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(५) पउमचरिउमें १६वें स्वर्गमें अवस्थित सीताके जीव स्वयंप्रभदेवका रावण तथा लक्ष्मणको संबोधित करनेके लिये तीसरी पृथिवी बालुकाप्रभामें गमन बताया गया है।[1] धवला टीकाके अनुसार १२वें से १५वें स्वर्ग तकके देव प्रथम नरकके चित्रा भागसे आगे नहीं जाते हैं।[2]

(६) पउमचरिउमें भगवान् अजितनाथके वैराग्यका कारण म्लानकमल बताया गया है।[3] त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें तारा टूटकर गिरना बताया गया है।[4]

(७) भगवान् महावीरका चरणाग्रसे मेरु कम्पित करना बताया गया है, जो श्वेताम्बर मान्यता है।[5]

(८) भगवान्‌के चलने पर देवनिर्मित कमलोंका रखा जाना एक अतिशय बताया है, यह भी श्वेताम्बर मान्यता मानी है।[6]

(९) तीर्थङ्करका मागधी भाषामें उपदेश देना[7] श्वेताम्बर मान्यता ही कही जा सकती है। दिगम्बर परम्पराके अनुसार समवशरणमें तीर्थङ्कर की दिव्यध्वनि खिरती है, जो सर्वभाषा रूप होती है।[8]

(१०) दिगम्बर उत्तरपुराणमें सगरपुत्रोंका मोक्षगमन वर्णित है। पर यहाँ विमलसूरि तथा रविषेणके अनुसार भीम और भगीरथ दो पुत्रोंको छोड़कर शेषका नागकुमार देवके कोषसे भस्म होना वर्णित है।[9]

इन वर्णनोंके आधार पर स्वयंभू यापनीय सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार अनेक ग्रंथोंके अन्तः परीक्षण करने पर जो ग्रंथ यापनीय प्रमाणित हुए हैं, उनका उल्लेख इस परिच्छेदमें किया है। इसी संदर्भमें जटासिंहनन्दि अथवा जटिलके वरांगचरितका भी अध्ययन किया। किन्तु उसमें कोई ऐसे अन्तरंग उल्लेख

---

१. पउमचरिउ ८९,८.३.४।
पडिबोहणहिं पयट्ट सयम्पहु। लंघेवि पढम णरउ रयणप्पहु।
पुणु अइक्कमेवि पुढवि सक्करपहु। सम्पाइउ रवणेण बालुयपहु॥
२. धवला, पुस्तक ४, पृ० २३८-९।
३. पउमचरिउ ५.२.२-३।
४. तिलोयपण्णत्ति ४.६०८।
५. पउमचरिउ १,७,१। परमेसरु-पच्छिल-जिणवरिन्दु। चलणग्गे-चालिय-महिहरन्दु॥
६. पउमचरिउ १.७,३ वण्णरह-कमलायत्त-पाउ।
७. वही ५.९.५ मागह भाषाएँ कहइ भडारउ।
८. महापुराण २३/७०।
९. पउमचरिउ ५,१०,२-३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं मिले, जिससे उन्हें यापनीय कहा जा सके। किन्तु कन्नड कवि जन्न (१२१९ ई०) ने अपने अनन्तनाथपुराण[1] में उन्हें क्राणूर गणका बताया है—

वंद्यर् जटासिंहणंद्याचार्यादींद्र
णंद्याचार्यादिमुनिपराकाणूर्ग
णंद्यपृथिवियोलगेल्लं ॥ १.१७

द्वितीय परिच्छेदमें हम देख चुके हैं कि क्राणूरगणका सम्बन्ध यापनीय संघसे था। डॉ० उपाध्ये इस उल्लेखको गंभीरतासे न लेनेकी सलाह देते हैं, क्योंकि गणोंकी उत्पत्ति और इतिहासके विषयमें पर्याप्त जानकारीका अभाव है, तथा जन्न जटासिंहनन्दिके समकालीन नहीं हैं।[2]

कोपण या कोप्पल (निजाम स्टेट) की पल्किगुंडु पहाड़ी पर एक चरणचिन्ह हैं, जिनपर पुरानी कन्नडमें 'जटासिंहनन्द्याचार्यके चरणचिन्होंको चावय्यने बनवाया'[3] यह खुदा हुआ है। डॉ०ए०एन० उपाध्येके अनुसार 'गणभेद' नामक अप्रकाशित कन्नड ग्रन्थके अनुसार यह यापनीयोंका मुख्य पीठ था।[4] फिर भी वरांगचरितके विषयमें निश्चित रूपसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

---

१. वरांगचरित की अंग्रेजी प्रस्तावना, पृ० १६ से उद्धृत।

२. वही, प्रस्तावना, पृ० १६।

३. वही, पृ० १७।

४. डॉ० उपाध्येका लेख, 'यापनीय संघ पर कुछ और प्रकाश', अनेकांत, वीर निर्वाण-विशेषांक, १९७५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुर्थ परिच्छेद

यापनीयोंकी विचार-संहिता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विचार-संहिता

यापनीयोंके विशिष्ट सिद्धान्तोंकी चर्चा इस परिच्छेदमें की जायेगी। ये सिद्धान्त दिगम्बर सम्प्रदायसे प्रायः भिन्न हैं।

स्त्रीमुक्ति

हरिभद्रसूरिने स्त्रीमुक्तिका निरूपण करते समय यापनीयतंत्रको प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है। यह यापनीयतंत्र यापनीय आचार-विचारोंका प्रतिपादक ग्रन्थ रहा होगा। हरिभद्रसूरिने ललितविस्तरामें उसका यह उद्धरण उपन्यस्त किया है—

"यथोक्तं यापनीयतंत्रे णो खलु इत्थी अजीवो (अजोवा) ण यावि अभव्वा, ण यावि दंसणविरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारिउप्पत्ती, णो असंखयाउया, णो ववसायवज्जिया, णो अपुव्वकरणविरोहिणी, णो णवगुणठाणरहिया, णो अजोग्गा लद्धीए, णो अकल्लाणभायण त्ति कहं न उत्तमधम्मसाहिग त्ति।"[1]

मूलाचारमें भी एक गाथामें स्त्रीमुक्तिका विधान मिलता है—

एवं विधाणचरियं चरंति जे साधवो य अज्जाओ।
जगपुज्जं ते कित्ति सुहं च लद्धूण सिज्झंति॥"[2]

आचार्य शाकटायनके स्त्रीमुक्ति-प्रकरणमें स्त्रीमुक्तिकी तार्किक चर्चा प्राप्त होती है। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आचार्योंने इसीको आधार बनाकर स्त्रीमुक्तिका खण्डन और मण्डन किया है। आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्रीमुक्ति तथा केवलिभुक्तिका पूर्वपक्ष इसी प्रकरणसे लिया है और इसकी युक्तियोंका खण्डन किया है तथा श्वेताम्बर आचार्योंमें हरिभद्रसूरिने ललितविस्तरा, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदिमें इसका मण्डन किया है।

पं० दलसुख मालवणियाके अनुसार स्त्रीमुक्ति दार्शनिक चर्चा व्यवस्थित रूपसे सर्वप्रथम यापनीय संघके आचार्य शाकटायनने अपने स्त्रीमुक्तिप्रकरणमें की। द्वादशांगी (मूलसूत्र व छेदसूत्रमें भी) इसका स्पष्ट विवेचन दृष्टिगोचर नहीं होता।

आचार्य शाकटायनने स्त्रीमुक्तिके समर्थनमें जो युक्तियाँ इसमें संक्षेपमें दी हैं, वे इस प्रकार हैं—

---

१. ललितविस्तरा, पृ० ४०२।
२. मूलाचार, ४-१९६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. मोक्षका कारण रत्नत्रय है और स्त्री भी रत्नत्रयकी धारिका होती है। देव आदिकी भाँति रत्नत्रय स्त्रीमें नहीं होता, यह बात प्रत्यक्ष, अनुमान या आगम किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं की जा सकती।

२. स्त्रियां सातवें नरक तक नहीं जा सकतीं, अतः वे मुक्त भी नहीं हो सकतीं, यह कथन अयुक्त है; चरमशरीरी भी सातवें नरकमें नहीं जाते, फिर भी वे उसी पर्यायसे मुक्त होते हैं।

३. वादादिलब्धिका अभाव, श्रुतज्ञानमें न्यूनता, जिनकल्पित्व तथा मनःपर्यय-ज्ञानके न होनेसे उन्हें मुक्ति नहीं हो सकती, यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि मुक्तिका हेतु रत्नत्रय उनमें स्वीकार किया गया है।

४. वस्त्रपरिग्रहसे मुक्त नहीं होती तो मोक्षार्थिनीको वस्त्रत्याग देना चाहिए। किन्तु आगमाज्ञा न होनेसे स्त्री वस्त्रत्याग नहीं कर सकती। इस स्थितिमें वस्त्रग्रहण उसके लिए प्रतिलेखनकी भाँति मुक्तिका साधन होता है, परिग्रह नहीं, क्योंकि संसार-का कारण परिग्रह है वस्त्र नहीं। यदि धर्मसाधनोंको परिग्रह मानेंगे तो पिण्ड, औषधि आदि भी वस्त्रकी भाँति परिग्रह माने जायेंगे। साथ ही अर्श, भगंदर आदिके कारण उपसर्गकी स्थितिमें वस्त्रधारी यतिकी मुक्ति नहीं मानी जा सकेगी।

५. पुरुषोंके आचेलक्यको जो उत्सर्ग लिंग माना गया है, वह सिद्ध न होगा क्योंकि अपवादमार्ग न होनेसे आचेलक्य ही एकमात्र मार्ग शेष रहेगा।

६. वस्त्रधारणके कारण हिंसा होनेसे चारित्रपालन असंभव है, इसलिए स्त्रियोंकी मुक्ति नहीं होती, यह हेतु भी असिद्ध है, क्योंकि प्रमाद ही हिंसा है, अन्यथा जीवाकुल लोकमें पुरुष भी अहिंसक नहीं हो सकता। वस्त्र स्त्रीके लिए धर्मसाधन है, परिग्रह नहीं। यही उसके लिए यथाख्यातचारित्र है।

७. स्त्रियाँ पुरुषोंको स्मरण, वारण (निवारण) और प्रेरणा नहीं करतीं, अर्थात् पुरुषोंकी गुरु नहीं होती, अतः हीन हैं, यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि फिर शिष्यों की मुक्ति नहीं हो सकेगी। और फिर तीर्थंकरोंकी माता तो इन्द्र द्वारा भी पूज्य हैं।

८ माया आदि मानसिक दोष स्त्री-पुरुषोंमें समान होते हैं, अतः स्त्री मायावी होती है, यह युक्ति भी स्त्रीकी मुक्तिमें बाधक नहीं है।

९. स्त्रियोंको हीन, सत्त्व कहना अयुक्त है, क्योंकि उन्हें भी उग्र तपश्चर्या करते हुए पाया गया है।

१० सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रीत्व-पर्याय प्राप्त नहीं करता, इसका भी कोई प्रमाण नहीं है।

११. श्रुत-ज्ञानमें न्यूनता आदि कारणोंसे-स्त्री मुक्तिका निषेध करेंगे, तो मूक-केवलीको भी मोक्ष नहीं होगा। सूत्रमें (तत्त्वार्थाधिगम सूत्रमें) जो यह कहा गया है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केवल सामायिक पदोंका उच्चारण करके अनन्त जीव सिद्ध हो गये हैं, यह मिथ्या हो जायेगा।

१२. आगममें कहा गया है कि एक समयमें १०८ पुरुष, २० स्त्रियाँ तथा १० नपुंसक सिद्ध होते हैं। स्त्रीमुक्तिप्रकरणमें संकेतित इस गाथाको आचार्य प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्रमें उद्धृत किया है।[1]

१३. भाव ही सिद्धिका कारण है। द्रव्यपुरुष यदि भावस्त्री होकर युक्त हो सकता है, तो फिर द्रव्यस्त्री भावपुरुष होकर क्यों नहीं मुक्त हो सकती ? सिद्ध होते समय वेद नहीं रहता। अनिवृत्तिबादरसम्पराय गुणस्थानमें वह नष्ट हो जाता है। भूतपूर्व-गतिसे क्षपकश्रेणीमें आरोहण करते समय जो वेद होता है, उसी वेदसे मुक्त माना जाता है। स्त्रीमुक्ति गौण अर्थमें नहीं, मुख्य अर्थमें है अर्थात् उसी भवसे स्त्रीमुक्ति होती है।

१४. स्त्री और पुरुष दोनोंके लिए चौदह गुणस्थान कहे गये हैं।[2]

भगवती आराधना तथा विजयोदया टीका यापनीय ग्रन्थ हैं, परंतु इनमें स्पष्ट रूपसे स्त्रीमुक्तिका समर्थन नहीं मिलता। पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है कि वे सवस्त्रमुक्ति प्रथा स्त्रीमुक्तिके समर्थक प्रतीत नहीं होते।[3]

भक्तप्रत्याख्यानके अवसर पर उत्सर्ग-अपवाद लिंगकी चर्चा आई है। यहाँ टीका-कार अपराजितसूरि कहते हैं—'यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवादः'। इस वाक्यके आधारपर पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री परिग्रहको यतियोंके लिये अपवाद तथा अपवादलिंगको गृहस्थोंके लिए मानते हैं। उनके अनुसार मुनि तो औत्सर्गिक लिंगका ही धारी होता है।

स्त्रियोंके लिंगकी प्ररूपक गाथाके विषयमें उनका कथन है कि इसकी टीकामें अपराजितसूरिने स्पष्ट कर दिया है कि तपस्विनी स्त्रियोंके औत्सर्गिक लिंग होता है और इतरका अर्थ श्राविका किया है तथा लिखा है—भक्तप्रत्याख्यानमें तपस्विनियों-के औत्सर्गिक लिंग होता है। इतर अर्थात् श्राविकाओंके पुरुषोंकी तरह समझना चाहिए अर्थात् स्त्री यदि रानी वगैरह है, लज्जाशील है, उसके कुटुम्बी मिथ्यामती हैं, तो उसको पूर्वोक्त औत्सर्गिक लिंग, जो सकल परिग्रहत्यागरूप है, एकान्त स्थानमें देना चाहिए। इसपर प्रश्न किया गया है कि स्त्रियोंके उत्सर्ग लिंग कैसे कहते हैं ? उत्तर में कहा है कि परिग्रह अल्प करनेपर उनके भी उत्सर्गलिंग होता है। यहाँ यह ध्यान

१. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग २, पृ० ८६९, माणिकचन्द्र दिग० जैन ग्रंथमाला, बम्बई, १९४१।

२. शाकटायन व्याकरण (परिशिष्ट-२) पृ० १२१-६।

३. भगवती आराधना, भाग १, प्रस्तावना, पृ० ३०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देना चाहिए कि यदि ग्रन्थकार और टीकाकारको सवस्त्रमुक्ति अभीष्ट होती तो वह भक्त-प्रत्याख्यानके लिए औत्सर्गिक लिंग आवश्यक नहीं रखते और न टीकाकार उत्सर्गका अर्थ सकलपरिग्रहका त्याग करते तथा परिग्रहको यतिजनोंके अपवादका कारण होनेसे अपवादरूप न कहते और न स्त्रियोंसे ही अन्तिम समयमें एकान्त स्थान में परिग्रहका त्याग कराते।..................जो सकलपरिग्रहके त्यागको मुक्तिका मार्ग मानते हैं, वह सवस्त्रमुक्ति या स्त्रीमुक्ति कैसे स्वीकार कर सकता है।'[1]

पं० शास्त्रीके इस वक्तव्यके विषयमें हमारा निवेदन है कि यद्यपि यह सत्य है कि ग्रन्थकार और टीकाकार दोनों ही साधुके आचारमें शिथिलाचारके विरोधी हैं तथापि वे सवस्त्रमुक्तिका विरोध करते हैं, यह नहीं कहा जा सकता।

अचेल लिंगको उन्होंने उत्सर्ग लिंग कहा है तथा सचेल लिंगको अपवाद लिंग कहा है। उत्सर्ग और अपवाद लिंगकी चर्चा साधुके प्रसंगमें ही संभव है, क्योंकि साधुका ही उत्सर्ग लिंग आचेलक्य है, अतः अपवाद लिंग भी साधुके लिए ही है। अपवाद उत्सर्ग सापेक्ष तथा उत्सर्ग अपवाद सापेक्ष होता है। साधुका लिंग उत्सर्ग लिंग है, अतः अपवादलिंग भी साधुका ही हो सकता है।

अन्यत्र भी अपराजितसूरिने सवस्त्र यतिको स्वीकार किया ही है, कारणविशेषसे आगमोंमें वस्त्रकी अनुज्ञा मानी है। इससे इतना निश्चित है कि वे सवस्त्र मुनि स्वीकार करते हैं। हाँ, उन्होंने सवस्त्र मुनिके साथ गृहस्थके लिंगको भी अपवादलिंग कहा है। धनवान्, लज्जालु तथा मिथ्यात्वी कुटुम्बवाला गृहस्थ ही हो सकता है, साधु नहीं।

आर्यिकाके प्रसंगमें वे तपस्विनीके लिंगको उत्सर्ग लिंग कहते हैं व श्राविकाके लिंगको अपवाद लिंग।

स्त्रीके लिंगकी निरूपक गाथा और उसकी टीका इस प्रकार है—

इत्थीवि य जं लिंगं दिट्ठं उस्सग्गियं व इदरं वा।
तं तत्थ होदि हु लिंगं परित्तमुवधिं करेंतीए॥ ८०॥

इत्थीवि य स्त्रियोऽपि। जं लिंगं यल्लिंगं। दिट्ठं दृष्टं आगमेऽभिहितं। उस्सग्गियं व औत्सर्गिकं तपस्विनीनां प्राक्तनम्। इतरासां पुंसामिव योज्यम्। यदि महर्द्धिका लज्जावती मिथ्यादृष्टिस्वजना च तस्याः प्राक्तनं लिंगं विविक्ते त्वावसथे उत्सर्गलिंगं वा सकलपरिग्रहत्यागरूपम्। उत्सर्गलिंगं कथं निरूप्यते स्त्रीणामित्यतः आह—तं तत् उत्सर्गलिंगं। तत्थ स्त्रीणां होदि भवति। परित्तं अल्पं। उवधिं परिग्रहं करेंतीए कुर्वंत्याः।'[2]

---

१. भगवती आराधना, भाग–१, पं० कैलाशचन्द्रजी, प्रस्तावना, पृ० २९-३०।
२. भगवती आराधना, भाग १, पृ० ११५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ स्पष्ट कथन है कि स्त्रियोंका जो लिंग आगममें अभिहित है, वह उत्सर्ग है, अर्थात् तपस्विनीका लिंग उत्सर्ग लिंग है। आगममें तपस्विनीका लिंग सवस्त्र ही है, उसे ही ग्रन्थकार और टीकाकार दोनों उत्सर्गलिंग मानते हैं, अपवाद नहीं। यही उनकी दिगम्बर परम्परासे भिन्न दृष्टि है, जो आर्यिकाके महाव्रतोंको उपचार रूपमें मानती है, परन्तु यापनीय दृष्टि तपस्विनीके लिंगको उत्सर्ग लिंग मानती है।

भक्तप्रत्याख्यानके अवसरपर तपस्विनीका लिंग प्राक्तन अर्थात् उत्सर्ग लिंग होता है, इतरका अर्थ श्राविका है। श्राविकाका लिंग पुरुषोंकी भांति समझना चाहिए। अर्थात् यदि स्त्री धनवती, लज्जावती, मिथ्यादृष्टि स्वजनवाली है, तो उनका जो पूर्व लिंग अर्थात् अपवादलिंग है, वह होना चाहिए, अन्यथा अर्थात् ऐसा नहीं है तो सकल-परिग्रहत्यागरूप उत्सर्गलिंग दिया जा सकता है।

सकलपरिग्रहत्यागरूप उत्सर्गलिंग कहने पर अपराजितसूरि उसका भी स्पष्टीकरण करते हैं। स्त्रियोंका उत्सर्गलिंग कैसे निरूपित किया जाता है—परिग्रहोंको अल्प करती हुई स्त्रीका लिंग उत्सर्ग लिंग होता है।

इस गाथासे यह अर्थ ध्वनित नहीं होता है कि स्त्री भी अंतिम समयमें एकान्तमें निर्वस्त्र हो जाये, अपितु श्राविका भी यदि धनवती, लज्जावती या मिथ्यादृष्टि स्वजन-वाली न हो, तो एकान्तमें उत्सर्गलिंग अर्थात् तपस्विनीका लिंग (एकशाटिकाधारण रूप) ग्रहण कर सकती है। हमें इस गाथा या टीकासे एकान्तमें स्त्रीके निर्वस्त्र होने-का कथन प्रतीत नहीं होता।

अपराजितसूरि आर्यिकाओं तथा कारण-विशेषसे भिक्षुओंको वस्त्रको अनुज्ञा मानते हैं। साथ ही एक अवसरपर पुरुषको ही परिपूर्ण संयमका पालक कहते हैं—

'परिपूर्णसंयममाराधयितुकामस्य जन्मान्तरे पुरुषादिप्रार्थना प्रशस्तं निदानम्।'[1]

भगवती आराधनाकार भी पुरुषत्वको संयमका हेतु कहते है—'संजमहेतुं पुरिसत्त........'[2]

इतना निश्चित है कि भगवती आराधनाकार तथा उसके टीकाकार अपराजित यापनीय हैं और यह भी निश्चित है कि यापनीय स्त्रीमुक्तिके समर्थक थे। शाकटायन-का स्त्रीमुक्तिप्रकरण तथा हरिभद्रसूरि आदि विद्वानोंके कथन तथा यापनीयतंत्रके उद्धरण इसके प्रबल प्रमाण हैं।

भगवती-आराधना तथा विजयोदयासे स्पष्ट है कि वे पूर्ण चारित्र पालनका

---

१. भगवती आराधना, भाग १, विजयोदया टीका, पृ० ५६।

२. भगवती आराधना, भाग २, गाथा १२१०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करते हैं और परिपूर्ण संयमका पालन उनकी दृष्टिमें नग्न साधु ही करता है, फिर भी उन्होंने कहीं सवस्त्र भिक्षु या आर्यिकाकी मुक्तिका निषेध नहीं किया है। उनके अनुसार यदि शक्ति रहते हुए भी परिग्रह (चेल) का त्याग न करें, तो परिग्रहत्याग नहीं होता।

'परिग्रहत्यागो हि पंचमं व्रतं तन्नाचरितं भवेत् शक्तोऽपि यदि न परिहरेत्।'[1]

फलितार्थ यह हुआ कि अशक्तके लिए वस्त्रग्रहण करनेपर भी परिग्रहत्यागरूप व्रत रहता है। वे सचेलकी शुद्धिको भाज्य कहते हैं, उसका निषेध नहीं करते।

'एवमचेलवति नियमादेव भाज्या सचेले।'[2]

आर्यिकाओंके लिंगको औत्सर्गिक मानना स्त्रीमुक्तिके समर्थनका ही संकेत है।

स्त्रीमुक्तिप्रकरण, मूलाचार तथा यापनीयतंत्रके उल्लेखोंसे यह स्पष्ट है कि यापनीय स्त्रीमुक्तिके समर्थक थे। स्त्रीमुक्तिका विधान करते हुए भी यापनीय आचार्योंने पुरुषज्येष्ठता ही स्वीकार की है। विजयोदया टीकामें चिरप्रव्रजित साध्वीसे सद्यः प्रव्रजित साधुको श्रेष्ठ बताया है। पुरुष-ज्येष्ठताको सातवाँ स्थितिकल्प माना गया है। पुरुष ही स्त्रियोंकी रक्षा एवं उपकार करनेमें समर्थ होता है। धर्म भी पुरुष-प्रणीत ही है, जैसाकि निम्न उद्धरणसे प्रकट है—

'पंचमहाव्रतधारिण्याश्चिरप्रव्रजिताया अपि ज्येष्ठो भवत्यधुना प्रव्रजितः पुमान् इत्येष सप्तमः स्थितिकल्पः पुरुषज्येष्ठत्वम्। पुरुषत्वं नाम संग्रहं उपकारं रक्षां च कर्तुं समर्थः। पुरुषप्रणीतश्च धर्म इति तस्य ज्येष्ठता। ततः सर्वाभिः संयताभिः विनयः कर्तव्यो विरतस्य। येन च स्त्रियो लघव्यः परप्रार्थनीया पररक्षापेक्षिण्यः न तथा पुमांस इति च पुरुषस्य ज्येष्ठत्वम्। उक्तं च—

जेणित्थी हु लघुसिगा परप्पसज्झा य पच्छणिज्जा य।
भीरु अरक्खणज्जेत्ति तेण पुरिसो भवदि जेट्ठो॥[3]

इससे स्पष्ट है कि यापनीयोंमें स्त्री-तीर्थङ्करकी मान्यता नहीं है। आर्यिकाओंको आचार्य, उपाध्याय तथा साधुकी पांच, छह, सात हाथ दूरसे गवासन द्वारा वंदना करनेका विधान है।

'पंच छ सत्त हत्थे सूरी अज्झावगो य साधू य।
परिहरिऊणज्जाओ गवासणेणेव वंदंति॥'[4]

---

१. भगवती आराधना, भाग १ (विजयोदया सहित), पृ० १२०।
२. भगवती आराधना (विजयोदया), पृ० ३२२।
३. भगवती आराधना, भाग १, पृ० ३३१।
४. मूलाचार, ४/१९५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुक्तिकी अधिकारिणी मानकर भी यापनीय आचार्योंने उन्हें वादादिलब्धिरहित, श्रुतिमें कनीयसी व जिनकल्प तथा मनःपर्ययज्ञानसे रहित माना है।[1] श्रुतमें कनीयसी कहनेसे प्रतीत होता है कि यापनीय आचार्य भी श्वेताम्बर सम्प्रदायकी भाँति स्त्रीको दृष्टिवादके अध्ययनकी अनधिकारिणी मानते हैं। आचार्य हरिभद्रसूरिके अनुसार स्त्रियोंमें अर्थज्ञानकी योग्यता होने पर भी शाब्दिक अध्ययनका निषेध है—

'यदि शास्त्रयोगागम्यसामर्थ्ययोगवसेयभावेष्वतिसूक्ष्मेष्वपि तेषां विशिष्टक्षयोपशमप्रभवप्रभावयोगात् पूर्वधरस्येव बोधातिरेकसद्भावाद्यशुक्लध्यानद्वयप्राप्तेः केवलावाप्तिक्रमेण मुक्तिप्राप्तिरिति न दोषः।'[2]

स्त्रियोंके लिए जिनकल्पकी तरह परिहारसंयम, अथालंदविधि, प्रायोपगमन तथा इंगिनीमरणका निषेध है।[3]

भगवती-आराधनाकार शिवार्यने विस्तारसे स्त्रियोंकी घोर निन्दा कर अन्तमें कहा है कि स्त्रियोंमें जो दोष होते हैं वे नीच पुरुषोंमें भी होते हैं। बल व शक्तियुक्त मनुष्योंमें स्त्रियोंसे अधिक दोष होते हैं। तीर्थंकरोंकी माता तो देव व मनुष्योंके लिए पूज्य होती है। जिस प्रकार शीलके रक्षक पुरुषके लिए स्त्रियाँ निंदनीय हैं, उसी प्रकार शीलकी रक्षिका स्त्रियोंके लिए पुरुष निंदनीय है। यहाँ स्त्रीत्वको मिथ्यात्वका कार्य नहीं कहा है।[4] विजयोदयामें एक स्थलपर सम्यग्दर्शनको नरक तथा तिर्यंक्गतिके लिए वज्रमयी अर्गला कहा गया है।[5] सम्यग्दृष्टिके स्त्रीजन्मका निषेध नहीं है।

आचार्य हरिभद्र, गुणरत्न तथा श्रुतसागरसूरिने यापनीयोंको स्त्रीमुक्तिका समर्थक कहा है।

षट्खण्डागमको वे प्रमाण मानते हैं। इस आधार पर भी उन्हें स्त्रीमुक्तिका निषेधक नहीं माना जा सकता। सत्प्ररूपणासूत्र ९२-९३ में जो कहा गया है कि 'मनुष्यनियोंमें मिथ्यादृष्टि तथा सासादन गुणस्थान तो उनकी पर्याप्त-अपर्याप्त दोनों अवस्थाओंमें ही हो सकते हैं।' उसके विषयमें धवलाकारका समाधान है कि भावस्त्रीविशिष्ट मनुष्यगतिमें चौदहों गुणस्थान मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता। भाववेद तो नवें गुणस्थानके ऊपर होता ही नहीं। अतः यहाँ वेदकी प्रधानता न होकर गति-

---

१. शाकटायन, स्त्रीमुक्तिप्रकरण, श्लोक ७ व १९।
२. शास्त्रवार्तासमुच्चय, पृ० ४२६।
३. भगवती आराधना, भाग १, विजयोदया, पृ० १९७-२०५।
४. भगवती आराधना, भाग १, गाथा ९३२-९९६, पृ० ५२८-४१।
५. भगवती आराधना (विजयोदया सहित), भाग-१, पृ० ८२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की प्रधानता है। विशेष वेदके नष्ट हो जाने पर भी उपचारसे उसी संज्ञाको धारण करने वाली मनुष्यगतिमें चौदहों गुणस्थान मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता।

इस प्रकार धवलाकारने यहाँ मनुष्यनीका अर्थ भावस्त्रीवेदी पुरुष लिया है और उनके चौदहों गुणस्थान माने हैं। यद्यपि चौदहों गुणस्थान तक वेदकी सत्ता नहीं रहती तथापि पहले वेदके सद्भावमें जिन्हें मनुष्यनी कहा, उन्हें ही वेदके अभावमें उपचारसे उसी नामसे संबोधित किया गया है।

इस विषयमें स्व० डॉ० हीरालालजी जैनका कथन है—यथार्थतः यदि स्त्रियोंमें संयमासंयमसे ऊपरका गुणस्थान संभव ही न माना जाय, तो श्राविकासंघसे आर्यिका संघकी पृथक् व्यवस्था बनती ही नहीं है, जिस प्रकार पाँचवें गुणस्थान तकके पुरुष चाहे वे क्षुल्लक-ऐलक ही क्यों न हो जायें, श्रावक ही माने जाते हैं, मुनि नहीं, उसी प्रकार उक्त गुणस्थान तककी स्त्रियोंका समावेश श्राविकासंघमें ही होगा। उससे ऊपर आर्यिकासंघकी पृथक् व्यवस्था तभी स्वीकार की जा सकती है, जब उनमें पाँचवेंसे ऊपरके गुणस्थानोंकी उत्पत्ति मानी जाय।

पुरुषशरीरी जीवमें स्त्रीवेदका उदय तथा स्त्रीशरीरी जीवमें पुरुषवेदका उदय सिद्धान्तानुसार घटित नहीं होता।

यदि पुरुषशरीरमें स्त्रीवेदका और स्त्रीशरीरमें पुरुषवेदका सद्भाव स्वीकार ही किया गया तो भाववेद मात्रकी विवक्षानुसार सूत्रकारकृत मनुष्य और मनुष्यनी विभाग माने तो यह व्यवस्था होगी कि स्त्रीशरीरी पुरुषवेदी जीव मनुष्योंमें अन्तर्भूत होंगे।

उपचारसे मनुष्यनीसंज्ञा मानना और विशेषणके छूट जाने पर भी भूतपूर्वन्याय आदिसे काम लेना पड़े तो वहां सिद्धान्तकी जड़ कमजोर ही प्रतीत होगी। यदि वेद-की प्रधानताको छोड़कर गतिकी प्रधानतासे ही कथन करना था, तो वेदके अनुसार यहाँ भेद ही क्यों किये गये? यथार्थतः प्रस्तुत प्रकरणमें तो योगमार्गणा चल रही थी और काययोगके सिलसिलेमें इन विभागोंके अनुसार कथन किया गया है। मनुष्य, गतिकी प्रधानतासे तो गतिमार्गणामें ऊपर सूत्र २६ में गुणस्थानप्ररूपण किया जा चुका है। वेदमार्गणानुसार प्ररूपण आगे १०१ आदिमें किया गया है। और वहाँ अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक ही वेदोंके आधारसे कथन है, उसके आगेके गुणस्थानोंको अपगतवेद कहा है। इस प्रकार यथार्थतः यहाँ भाववेदको विवक्षा कोई सार्थकता नहीं रखती और उसे छोड़कर गतिकी प्रधानता सिद्ध नहीं होती।[1]

इस प्रकार षट्खण्डागमको प्रमाण माननेसे उन्हें अपने स्त्रीमुक्ति सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं प्रतीत हुआ होगा।

---

१. जैन सिद्धान्त-भास्कर, आरा, बिहार, भाग ११,-किरण १, क्या षट्खण्डागम और धवलाकारका अभिप्राय एक है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केवलिभुक्ति—यापनीय केवलीके कवलाहारके समर्थक थे। जिसका संकेत तत्त्वार्थ-सूत्रके 'एकादश जिने' सूत्रसे मिलता है। शाकटायनने कवलाहारके समर्थनमें पूरा प्रकरण लिखा है। उनकी युक्तियाँ इस प्रकार हैं—

१. केवलीमें भुक्तिके कारण पर्याप्ति (इन्द्रियोंकी पूर्णता), वेद्य (वेदनीय कर्म), तैजस और आयु विद्यमान रहते हैं।

२. इस समय तक समस्त कर्मोंका नाश नहीं हुआ है। केवलीके ज्ञान आदि गुण क्षुधाके विरोधी नहीं है। जिस प्रकार प्रकाश होने पर अंधकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानकी वृद्धि होने पर क्षुधाका विनाश नहीं होता। क्षुधाका ज्ञान आदिसे विरोध नहीं है।

३. क्षुधा दुःख है वह अनन्त सुखगुणकी विरोधिनी है, यह उचित नहीं है। मोहरहित भगवानमें आहारकी आकांक्षा रूप क्षुधा रहती है। शीत, उष्ण, आदि की भाँति क्षुधा मोहस्वरूप नहीं है, मोहका परिणाम नहीं है, अतः उसके परिहारकी आकांक्षा होती हैं।

४. अनंतवीर्य और तृष्णारहित केवली क्या भोजन करते हैं? यह शंका भी उचित नहीं है। यदि अनन्तवीर्यके कारण भुक्तिके बिना भी शरीरस्थिति मानेंगे, तो आयुकर्मके बिना भी शरीरस्थिति माननेका प्रसंग होगा।

५. वचन-गमन आदि की भाँति भुक्तिका उद्देश्य भी स्वपरसिद्धि है। भुक्तिमें दोष मानने पर तो केवलीका बैठना, उठना, ठहरना आदि भी दोषयुक्त होगा।

६. रोगादिकी तरह क्षुधा भी वेदनीयकर्म होनेसे केवलीमें होती ही है।

७. जिस प्रकार तैलक्षय होने पर दीपकी तथा जलागमके बिना जलधाराकी स्थिति नहीं है, उसी प्रकार आहारके बिना शरीरकी स्थिति नहीं है।

८. सर्वज्ञके मांसादिका दर्शन होनेसे अंतरायका कथन उचित नहीं है, क्योंकि अवधिज्ञानी भी सब कुछ देखते हैं, पर अन्तराय नहीं होता। इन्द्रियका विषय होने पर ही अन्तराय होता है।

दिगम्बर परम्परामें प्रायः केवली अवर्णवादके रूपमें केवली-कवलाहारको उपन्यस्त किया जाता है, विजयोदयामें अर्हन्त अवर्णवादके उदाहरणमें सर्वज्ञता और वीतरागता का अभाव बताया गया है।

मुनियोंका उपाश्रय भोजन

यापनीय मुनि निर्ग्रन्थ अतः पाणितलभोजी होते थे, इसका प्रमाण शिवार्यका पाणितलभोजी विशेषण है, तथापि उपाश्रयमें लाकर भोजन करनेके भी संकेत मिलते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलाचारमें विरतियोंके उपाश्रयमें विरतोंका भोजनका निषेध है। इससे अपने उपाश्रयमें लाकर भोजनका परोक्ष संकेत मिलता है। रुग्ण, ग्लान, क्षपक हेतु अन्य मुनियोंके भोजन-पानक लानेका तो भगवती आराधनामें स्पष्ट निर्देश है ही। इसके अतिरिक्त वृत्तिपरिसंख्यान तपके अतिचारके विषयमें विजयोदयामें कहा गया है कि सात घरमें प्रवेश करूँगा इत्यादि संकल्प करनेके पश्चात् दूसरोंको भोजन कराना है, इस भावसे अधिक घरोंमें प्रवेश करना तथा एक मुहल्लेसे दूसरे मुहल्लेमें जाना वृत्तिसंख्यान दोषके अतिचार हैं।[1] वृत्तिपरिसंख्यान तपके अवसर पर ही कहा गया है—'एकेनैव दीयमानं द्वाभ्यामेवेति दानक्रियापरिमाणम्। आनीतायामपि भिक्षायां इयतः एवं....।'[2] रात्रिभोजननिवृत्तिके अवसर पर भी—'क्वचिद् भाजने दिवैव स्थापितं, आत्मवासे भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोपः स्यात्'....।[3]

इन उल्लेखोंसे प्रतीत होता है कि यापनीय परम्परामें भोजन एकत्रित करके निवासस्थान पर ग्रहण करनेका भी विकल्प था। पात्रग्रहण भी अपवाद रूपमें स्वीकृत था, यह भी इससे स्पष्ट है।

आराधना—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपके साथ आराधना शब्दका प्रयोग तथा उद्योतन आदि रूपसे कथन भगवती आराधना तथा विजयोदयामें ही है। श्वेताम्बर ग्रन्थ 'प्रकीर्णक मरण-विभक्ति'में दो विभाग हैं—प्रथम सल्लेखना श्रुत और दूसरा आराधना श्रुत। इस ग्रन्थकी अन्तिम गाथाओंमें कहा गया है कि मरणविभक्ति, मरणविशुद्धि, मरणसमाधि, सल्लेखनाश्रुत, भक्तपरिज्ञा, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, आराधनाप्रकीर्णा इन आठ श्रुतोंका भाव लेकर मरणविभक्ति की रचना की है। इसका दूसरा नाम मरणसमाधि है।

भगवती आराधनामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, तथा सम्यक् तपकी आराधनाका स्वरूप, भेद, उसके उपाय, साधक, सहायक और फलका कथन है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपके उद्योतन, उद्यापन, निर्वहण, साधन और निस्तरणको आराधना कहा गया है। ज्ञानका निश्चयात्मक और विपरीततारहित होना ज्ञानका उद्योतन है। भावनाओंमें मन लगाना चारित्रका उद्योतन है। संयमकी भावना द्वारा असंयमको दूर करना तपका उद्योतन है। बार-बार दर्शनादि

---

१. वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचाराः गृहसप्तकमेव प्रविशामि, एकमेव पाटं दरिद्रगृहमेव। एवंभूतेन दायकेन दायिकया वा दत्तं ग्रहीष्यामीति वा कृतसंकल्पगृहसप्तकादिकादधिकप्रवेशः पाटान्तरप्रवेशश्च परं भोजयामीत्यादिकः। पृ० ३७१।

२. वही, पृ० २४१।

३. वही पृ० ५९३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूप परिणमनको उद्यवन कहते हैं । परीषह आदि उपस्थित होने पर भी निराकुलतापूर्वक वहन अर्थात् धारण करनेको निर्वहण कहते हैं । अन्य और उपयोग लगनेसे दर्शन आदिसे मन हटने पर पुनः उसमें लगाना साधन है । अर्थात् नित्य या नैमित्तिक कार्य करते समय सम्यग्दर्शनादिमें व्यवधान आ जाए तो पुनः उसे उपायपूर्वक करना साधन है । दूसरे भवमें भी सम्यग्दर्शनादिको साथ ले जाना अथवा इस भवमें मरणपर्यन्त धारण करना निस्तरण है । तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक्दर्शन है । स्वपरज्ञान सम्यग्ज्ञान है । पापका बन्ध कराने वाली क्रियाओंका त्याग चारित्र है और इन्द्रिय तथा मनके नियमनको तप कहते हैं । संक्षेपमें आराधना दो प्रकारकी होती है, क्योंकि दर्शनका ज्ञानके साथ तथा चारित्रका तपके साथ अविनाभाव सम्बन्ध होनेसे दर्शनाराधनामें ज्ञानाराधनाका तथा चारित्राराधनामें तपाराधनाका अन्तर्भाव हो जाता है । दर्शन-आराधना करने वालेके नियमसे ज्ञानकी आराधना होता है, किंतु ज्ञानकी आराधना करने वालेके दर्शनकी आराधना होती भी है नहीं भी, इसी प्रकार चारित्रकी आराधना करने वालेके तपकी आराधना नियमसे होती है, किन्तु तप की आराधना करने वालेके चारित्रकी आराधनाका नियम नहीं है ।[1] समस्त प्रवचनका सार आराधना ही है ।[2] आराधनापूर्वक मरण करने वाला कम-से-कम तीन भावमें निर्वाण प्राप्त करता है ।[3] सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन और समस्त कर्मोंसे मुक्तता ये चार, चार प्रकारकी आराधनाके फल हैं ।

भगवती आराधनाके उपरान्त दिगम्बर परम्परामें इसके आधारपर व अनुकरणमें अनेक ग्रन्थ रचे गये हैं ।[4]

वर्णजनन—वर्णजनन अर्थात् यशः प्रसारित करना भी दर्शनविनय है । विद्वानोंकी परिषद्में अर्हन्तकी महत्ताका ख्यापन अर्हन्तोंका वर्णजनन है । सिद्धोंका माहात्म्य प्रकट करना सिद्धोंका वर्णजनन, श्रुतज्ञानका माहात्म्य प्रकट करना श्रुतज्ञानका वर्णजनन और धर्मके स्वरूपका कथन धर्मका वर्णजनन है । साधु, आचार्य, मोक्षमार्ग, सम्यग्दर्शन आदिकी महत्ताका ख्यापन करना तत्तद् वस्तुओंका वर्णजनन है ।[5]

यह वर्णजनन शब्द यापानीयोंकी परम्परामें ही प्राप्त हुआ है । अपराजितसूरिने इसकी विस्तृत उद्धरणों सहित व्याख्या की है ।

---

१. भगवती आराधना, भाग १ (टीका सहित), गाथा १–६ ।
२. भगवती आराधना, भाग १ (टीका सहित), गाथा १४ ।
३. मूलाचार, २/९७ ।
४. अधिक जानकारीके लिए देखिए, बृहत्कथाकोशकी उपाध्ये लिखित प्रस्तावना ।
५. भगवती आराधना, भाग १, गाथा ४६ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्रह प्रकारके मरण

श्वेताम्बर तथा यापनीय परम्परामें मरणके सत्रह प्रकारोंका वर्णन मिलता है। दिगम्बर परम्परामें भगवती आराधनापर आधारित ग्रन्थोंमें ही इनका विवरण है।

समवायांगके सत्रहवें अध्यायमें सप्तदशविधमरणका कथन है—

सत्तरसविहे मरणे पण्णत्ते तं जहा—आवीईमरणे, ओहिमरणे, आयंतियमरणे, बलायमरणे, वसट्टमरणे, अंतोसल्लमरणे, तब्भवमरणे, बालमरणे, पंडितमरणे, बाल पंडितमरणे, छउमत्थमरणे, केवलिमरणे- वेहासमरणे, गिद्धपुट्ठमरणे, भच्चपच्चक्खाण-मरणे, इंगिनीमरणे, पाओवगमणमरणे।[1]

भगवती आराधनामें सत्रह प्रकारके मरणोंका उल्लेख करते हुए पाँच प्रकारके मरणोंका ही प्रतिपादन किया है।[2]

विजयोदयामें सत्रह मरणोंका भी कथन उपलब्ध है जो इस प्रकार है—

१. आवीचिकामरण—प्रतिसमय होने वाले आयुकर्मके विनाशको आवीचिमरण कहते हैं।

२. तद्भवमरण—वर्तमान पर्यायका नाश तद्भवमरण है।

३. अवधिमरण—वर्तमान पर्यायकी भांति हो भावी पर्यायका मरण होना अवधि-मरण है।

४. आद्यन्तमरण—वर्तमान मरणसे भाविमरण असमान हो तो वह आद्यन्त-मरण है।

५. बालमरण—बालके अव्यक्त बाल, व्यवहारबाल, दर्शनबाल, ज्ञानबाल तथा चारित्रबाल ये पाँच भेद हैं। यहाँ दर्शनबालके मरणको बालमरण कहा गया है, क्योंकि सम्यग्दृष्टिमें इतर बालपना रहते हुए भी दर्शनपंडितपना रहता है।

६. पंडितमरण—पंडितके चार भेद हैं व्यवहारपण्डित, सम्यक्त्वपंडित, ज्ञान-पंडित, तथा चारित्रपंडित। इनमेंसे मिथ्यादृष्टि व्यवहारपंडितका मरण बालमरण है। अन्य तीन पंडितोंका मरण पण्डितमरण है।

७. ओसण्णमरण—पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, एवं संसक्त आदि शिथिलचारित्र तथा संघसे निष्काषितोंका मरण ओसण्णमरण है।

८. बालपंडितमरण—सम्यग्दृष्टि श्रावकका मरण बालपण्डित मरण है।

९. सशल्यमरण—मिथ्यादर्शन, माया तथा निदान सहित मरण सशल्यमरण है।

---

१. समवायांग,—१७ वाँ समवाय।

२. भगवती आराधना, गाथा २५—'मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थंकरेहि जिणवयणे'।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१०. बलायमरण—प्रशस्तयोग, व्रत, ध्यान आदिमें प्रमत्तका कारण बलायमरण (बलाकमरण) है। ओसण्णमरण और सशल्यमरणमें नियमसे बलायमरण होता है। इसके अतिरिक्त भी बलायमरण होता है।

११. वसट्टमरण—आर्त्त-रौद्रध्यानपूर्वक मरण वसट्टमरण है। इसके प्रमुख चार भेद हैं—इन्द्रियवशार्तमरण, वेदनावशार्तमरण, कषायवशार्तमरण तथा नोकषाय-वशार्तमरण।

१२. विप्पणासमरण—विप्पणास और गिद्धपुट्टमरण दो मरण ऐसे हैं, जिनकी आज्ञा और निषेध दोनों नहीं है। व्रत, क्रिया तथा चारित्रमें उपसर्ग होने पर यदि सहन न हो और विराधनाका भय हो, तो अन्नपानका त्यागकर मरण करना विप्रणा-शमरण है।

१३. गिद्धपुट्ठमरण—अपरोक्त स्थितिमें शस्त्र ग्रहण कर मरण गिद्धपुट्टमरण है।

१४. भत्तपच्चक्खाणमरण—क्रमसे आहार-पानीका त्याग कर मरण करना भक्तप्रत्याख्यानमरण है।

१५.पाउवगमणमरण—मरणके अवसर पर जो स्वयं भी वैयावृत्य न करें, उनका मरणप्रयोपगमन मरण है।

१६. इंगिनीमरण—दूसरोंसे वैयावृत्य न कराकर धर्मध्यानपूर्वक मरण होना इंगिनीमरण है।

१७. केवलिमरण—केवलज्ञान प्राप्त कर मरण केवलिमरण है। यही पण्डित-पण्डितमरण है।

समवायांगके वेहायस और छद्मस्थके स्थान पर विजयोदयामें इनके नाम विप्पणास और ओसण्ण हैं।

उत्सर्ग-अपवाद लिंग

भक्तप्रत्याख्यानके अवसरपर योग्य लिंगकी चर्चा करते हुए उत्सर्ग-अपवाद लिंग-का प्रसंग आया है। पं. आशाधरजीने आचार्या आदिका लिंग अपवादलिंग माना है। आदिसे गृहस्थ समझना चाहिए। 'यतीनामपवादहेतुत्वादपवादः परिग्रहः सोऽस्यास्ती-त्यपवादिकं लिंगं यस्य सोऽपवादिकलिंगः सग्रंथचिह्नः आर्यादिस्तस्यापि....।'[1]

---

१. मूलाराधनादर्पण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पं० सदासुखजी, पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री तथा पं० कैलाशचन्द्र जी आदि उत्सर्ग लिंगका अर्थ मुनिलिंग तथा अपवाद लिंगका अर्थ गृहस्थलिंग करते हैं ।[१]

भगवती आराधनाकी गाथाएँ इस प्रकार हैं—

उस्सग्गियलिंगगदस्य लिंगमुस्सिग्गियं तयं चेव ।
अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं ॥
जस्स वि अव्वभिचारी दोसो तिट्ठाणिगो विहारम्मि ।
सो वि हु संथारगदो गेण्हेज्जोस्सुग्गियं लिंगं ॥
आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महढ्ढिओ हिरिमं ।
मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादियं लिंगं ॥[२]

गाथाओंका सरल अर्थ इस प्रकार है —

भक्तप्रत्याख्यानके अवसर पर जो उत्सर्ग लिंगका धारक है, उसका तो उत्सर्गलिंग ही होता है। जो अपवादलिंगी हैं, उसके लिए भी उत्सर्गलिंग प्रशस्त है। अर्थात् अपवादलिंगीको चाहिए कि समाधिमरणके अवसर पर वह अपवाद त्याग कर उत्सर्गको स्वीकार करे।

यहाँ पर अपराजितसूरि स्पष्ट करते हैं कि 'यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवादः'। इससे स्पष्ट है कि यह अपवादलिंग मुनिका ही है क्योंकि अपवाद उत्सर्ग-सापेक्ष होता है, निर्वस्त्रता मुनिके लिए उत्सर्ग है, तो वस्त्रधारण उसके लिए अपवाद है। गृहस्थ तो वस्त्रधारी ही होता है, अतः वस्त्रधारण उसके लिए अपवाद कैसे हो सकता है? इसीलिए पं० आशाधरजीने अपवादलिंग आर्यादिका कहा है। यद्यपि आराधनाकार व टीकाकार दोनोंकी ही दृष्टिसे यह आर्याका लिंग उत्सर्ग लिंग ही है।

वस्तुतः यह उत्सर्ग और अपवादलिंग साधुकी दृष्टिसे ही है। निर्वस्त्र मुनि उत्सर्गलिंगी तथा सवस्त्र मुनि अपवादलिंगी हैं। मुनि और गृहस्थ दोनों भक्तप्रत्याख्यान

---

१. (क) भगवती आराधना पं० सदासुखजीकृत वचनिका सहित–मुनि अनन्तकीर्ति दि० जैन ग्रंथमाल समिति, बम्बई, वि० सं० १९८९, गाथा ७९ की व्याख्या।
(ख) पं० फूलचन्द्रजीकृत सर्वार्थसिद्धि हिन्दी टीकाकी प्रस्तावना, पृ० ३६।
(ग) भगवती आराधना, भाग–१, भूमिका, पृ० ३०–यतियोंके अपवादका कारण होनेसे परिग्रहको अपवाद कहते हैं, इससे यह स्पष्ट है कि अपवादलिंगका धारी गृहस्थ ही होता है।

२. भगवती आराधना, गाथा ७६-८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरण कर सकते हैं, अतः यहाँ अपवादलिंगीमें सवस्त्र मुनियोंके साथ सवस्त्रताके कारण गृहस्थोंका भी ग्रहण है। इसी कारण पं० सदासुखजी आदिको भ्रम हुआ है कि गृहस्थ का लिंग अपवादलिंग है।

शिवार्यने साधुओंकी उपधियोंकी चर्चाके प्रसंगमें संयम साधक उपधिके साथ अल्पपरिकर्म तथा बहुपरिकर्म उपधिकी चर्चा की है। दोनों प्रकारकी उपधियोंको छोड़ने वाला ही मुक्ति तथा उत्सर्ग पदका गवेषक साधु कहा गया है—

संजमसाधणमेत्तं उपधिं मोत्तूण सेसयं उवधिं।
पजहदि विसुद्धलेस्सो साधू मुत्तिं गवेसंतो॥
अप्पपरियम्मं उवधिं बहुपरियम्मं च दो वि वज्जर।
सेज्जासंयारादी उस्सग्गपदं गवेसंतो॥ (गाथा १६४-५)

इससे स्पष्ट अन्य उपधि धारण करने वाला मुनि अपवादलिंगी है।

अपराजितसूरिने वसनसहित–लिंग धारीका स्पष्ट उल्लेख किया है—'वसनसहितलिंगधारिणो हि वस्त्रखण्डादिकं शोधनीयं महत् इतरस्य तु पिच्छादिमात्रम्।....सवसनो यतिर्वस्त्रेषु यूकालिक्षादिसम्मूर्च्छनजीवपरिहारं न विधातुमर्हः।'[1]

सचेलके परीषह नहीं होते—

'सचेलस्य हि सप्रावरणस्य न तादृशी शीतोष्णदंशमशकजनिता पीडा यथा अचेलस्येति मन्यते।'[2]

अथालंद, परिहारसंयम, जिनकल्प तथा इंगिनीमरणमें औत्सर्गिक लिंग आवश्यक बताया है।

वस्त्रधारणके कारणोंके विषयमें भी कहा है कि लज्जालु, पुरुषलिंगमें दोष और परीषह सहनेमें असमर्थता इन तीन कारणोंसे वस्त्र ग्रहणका विधान है—

'भिक्षूनां ह्रीमानयोग्यशरीरावयवो दुश्चर्याभिलम्बमानबीजो वा परीषहसहने वा अक्षमः वा गृह्णाति।'

अथालंद (आलंद विधि)

भक्तप्रत्याख्यानके अवसर पर भगवती आराधनामें ४० सूत्रोंकी चर्चा है, जिनमें एक सूत्र है परिणाम। परिणामके अवसर पर अथालंद, परिहारसंयम, प्रायोपगमन तथा जिनकल्पके उल्लेख हैं, जिनकी विस्तृत व्याख्या अपराजितसूरिने की है।

दीर्घकाल तक स्वपरकल्याण करनेके बाद केवल आत्मकल्याणकी भावनासे मुनि

---

१. भगवती आराधना, भाग १, पृ० ११८।
२. वही, पृ० ११९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विचार करते हैं कि मैं अब अथालंद, भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण, परिहारविशुद्धि, प्रायोपगमन अथवा जिनकल्पमेंसे कौनसी विधि धारण करूँ।

शास्त्रज्ञ, कृतकृत्य, परीषह और उपसर्गको जीतनेमें समर्थ तथा अपनी शक्तिको न छिपाने वाले मुनि ही अथालंद विधिके योग्य होते हैं। इस अथालंद विधिमें क्रम, परिणाम, सामर्थ्य, गुरुविसर्जन, प्रमाण, स्थापना आचारमार्गणा और आलंदमासकल्पका वर्णन किया गया है।

परिहारविशुद्धि संयमको धारण करनेमें असमर्थ तथा अथालंदविधिको धारण करनेके इच्छुक मुनि इसे धारण करते हैं। ये तीव्र वैराग्य, ज्ञान तथा दर्शनसे सम्पन्न होते हैं। अपनी सामर्थ्यको अच्छी तरह जानकर और अपनी अल्पायु समझकर आचार्यसे अथालंद विधि धारण करनेकी आज्ञा लेते हैं।

आचार्य सामर्थ्य, परिणाम आदि देखकर अनुमति देते हैं। शरीरसे दुर्बल व धैर्यहीनको आज्ञा नहीं देते। जिन्हें अनुमति मिल जाती है ऐसे पांच, सात अथवा नौ मुनि प्रशस्त स्थानमें केशलोच करके गुरुके सम्मुख दोषोंकी आलोचना करके व्रत लेते हैं। संयमका आचरण करने हेतु तीन या पांच साधु साथ साथ रहते हैं।

ये अथालंद नामक कल्पमें स्थित मुनि अपनेमेंसे एकको आचार्यरूपमें स्थापित करते हैं वही उनके लिए प्रमाण होता है तथा उनकी आलोचना सुनने व दोषोंकी शुद्धि करानेमें समुद्यत होता है।

अथालंद मुनियोंका लिंग औत्सर्गिक लिंग होता है। अर्थात् अपवादलिंगी सवस्त्रमुनि इस विधिके योग्य नहीं है। शरीर धारण करनेके लिए आहार व वसतिप्रतिलेखन और प्राणिसंयमके लिए पीछी धारण करते हैं।

उनकी विशिष्ट चर्या इस प्रकार है—ये रोग या चोट लग जानेसे होने वाली वेदनाका प्रतिकार नहीं करते। तपस्यासे थककर सहायका अवलम्बन लेते हैं। वाचनादि नहीं करते। आठों प्रहर निद्रा त्याग कर एकाग्र होकर ध्यानका प्रयत्न करते हैं। नींदकी झपकी आने पर उतनी नींद ले लेते हैं। नींद न लेनेकी प्रतिज्ञा न होनेसे वहाँ प्रायश्चित्त का विधान नहीं है।

धैर्यशाली होनेके कारण इनके लिए श्मशानमें भी ध्यान वर्ज्य नहीं है। आवश्यकोंमें प्रयत्नशील रहते हैं। दोनों समय उपकरणोंकी प्रतिलेखना करते हैं।

देवकुलोंमें उनके मालिककी आज्ञासे निवास करते हैं, जिनके मालिकोंका पता नहीं रहता, उन देवकुलोंमें 'देवकुलके मालिक स्वीकृति प्रदान करें' कहकर प्रवेश करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सहसा अतिचार या अशुभ परिणाम होने पर 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' कहकर निवृत्त होते हैं दशविध सामाचारमें प्रवर्तित होते हैं।

संघसे निकलकर अथालंद विधि धारण करते हैं। अपना अधिकाधिक समय ध्यानमें व्यतीत करते हैं। इसीलिए संघके साथ इनका दान, ग्रहण, अनुपालन, विनय व वार्तालाप आदि रूप व्यवहार नहीं होता। आवश्यकता होने पर कोई एक संलाप करता है। जिस क्षेत्रमें सधर्मी होते हैं, उस क्षेत्रमें प्रवेश नहीं करते। संभवतः इसका कारण यह होगा कि सधर्मियोंके साथ वार्तालाप अथवा उपदेश देनेके कारण आत्मकल्याणमें विघ्न उपस्थित हो सकता है। इनका तो अधिकाधिक समय ध्यानमें ही बीतता है। आत्मकल्याणके लिए ही ये मौन धारण करते हैं। मार्ग, शंकायुक्त द्रव्य, वसतिकाके स्वामीका घर आवश्यक होनेसे केवल इतने ही प्रश्न करते हैं।

ग्रामके बाहर आगंतुकोंके लिए जो निवास होता है, उसमें कल्पस्थित मुनिकी आज्ञासे ठहरते हैं। पशु-पक्षी आदिके कारण जहाँ ध्यानमें विघ्न होता है, उस स्थानको छोड़ देते हैं।

आप कौन हैं? कहाँसे आये हैं? कहाँ जायेंगे? कब तक ठहरेंगे? कितने हैं? आदि प्रश्नोंका 'मैं श्रमण हूँ' यही एक उत्तर देते हैं। जहाँ लोग जानेके लिए कहते हैं? घरकी रक्षा करो? आदि वचन-व्यवहार जहाँ किये जाते हैं वहाँ ये मुनि नहीं ठहरते। वसतिकामें आग लग जाने पर समयके अनुसार रहने अथवा चले जानेका निर्णय स्वयं करते हैं। मार्गमें व्याघ्र, सर्प आदिके मिलने पर भी वहीं रुकने या चले जानेका स्वयं निर्णय करते हैं। प्रचण्ड वायु या वर्षा होने पर वहीं ठहर जाते हैं। पैरमें काँटा लगने पर अथवा आँखमें धूल चली जाने पर उसे निकाल भी लेते हैं नहीं भी, जबकि परिहारविशुद्धि संयममें स्थित मुनि नहीं निकालते।

तृतीय पौरुषीमें भिक्षाके लिए निकलते हैं। कृपण, याचक, पशु-पक्षीगणके चले जाने पर पाँचवी पिण्डैषणा करते हैं. मौन रखते हैं।

कोई आकर कहे कि धर्मोपदेश करो, मैं आपके चरणोंमें दीक्षा लेना चाहता हूँ, तो ऐसा कहने पर वे मनसे भी उसकी चाहना नहीं करते, तब वचन और कायका तो कहना ही क्या? अन्य मुनि, जो उनके सहायक होते हैं, वे उन्हें धर्मोपदेश देकर शिखासहित अथवा मुण्डन कराकर आचार्यको सौंप देते हैं।

क्षेत्रकी अपेक्षा एकसौ सत्तर कर्मभूमिरूप धर्मक्षेत्रोंमें ये आलंदक मुनि होते हैं। कालकी अपेक्षा सर्वदा होते हैं। चारित्रकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापना-चारित्रमें होते हैं। तीर्थकी अपेक्षा सब तीर्थङ्करोंके तीर्थमें होते हैं। जन्मसे तीस वर्ष तक भोग भोगकर उन्नीस वर्ष तक मुनिधर्मका पालन करते हैं, श्रुतसे नौ या दस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वके धारी होते हैं। वेदसे पुरुष या नपुंसक होते हैं अर्थात् स्त्रियाँ इस विधिको नहीं धारण करतीं। लेश्यासे पद्म व शुक्ल लेश्यावाले होते हैं। ध्यानसे धर्मध्यानी होते हैं। संस्थानसे छह प्रकारके संस्थानोंमेंसे किसी एक संस्थानवाले होते हैं। कुछ कम सात हाथसे लेकर पाँचसौ धनुष ऊँचे होते हैं। कालसे एक अन्तर्मुहूर्तसे लेकर कुछ कम पूर्वकोटिकी स्थितिवाले होते हैं। उनको विक्रिया, चारण और क्षीरास्रवित्व आदि ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं, किंतु रागका अभाव होनेसे उनका सेवन नहीं करते।

गच्छ-प्रतिबद्ध आलंदक विधि

गच्छमें रहकर भी आलंदक विधि धारण की जा सकती है। गच्छ-प्रतिबद्ध आलंदककी विधि यह है कि वे गच्छसे निकलकर एक योजन और एक कोस क्षेत्रमें विहार करते हैं। यदि आचार्य (गणधर) शारीरिक शक्तिसे सम्पन्न होते हैं, तो क्षेत्रसे बाहर निकलकर उन्हें अर्थपद देते हैं। आलन्दकोंमेंसे भी जो समर्थ होते हैं आकर शिक्षा ग्रहण करते हैं। परिज्ञान एवं धारण गुणोंसे पूर्ण एक, दो अथवा तीन आलन्दक मुनि गुरुके पास जाते हैं और उनसे प्रश्नोंका समाधान कर अपने क्षेत्रमें जाकर भिक्षा ग्रहण करते हैं।

आचार्य यदि अधिक चलनेमें शक्तिहीन होते हैं, तो गच्छमें सूत्रार्थपौरुषी करके (अर्थात् सार्थ आगमसूत्र वाचना करके) उद्यानमें जाकर जहाँ आलन्दक मुनि निवास करते हैं, अर्थपदकी शिक्षा देते हैं अथवा उपाश्रयमें ही अन्य साधुओंको छोड़कर एक आलंदकको ही उपदेश देते हैं। यदि संघ दूसरे क्षेत्रमें विहार करता है, तो अथालंदक मुनि भी गुरुकी आज्ञासे उस क्षेत्रको जाते हैं। जब गच्छ-निवासी मुनि क्षेत्रकी प्रतिलेखना करते हैं, तब उस मार्गसे दो अथालंदक जाते हैं।

अथालंदक मुनि संघसे बाहर रहते हैं। अथालंद विधि धारण करनेके इच्छुक अधिक-से-अधिक नौ मुनि एक साथ रहते हैं। वे संघसे बाहर रहते हैं, जो गच्छसे प्रतिबद्ध आलन्दक होते हैं, वे भी संघसे कुछ दूरी पर रहते हैं, केवल स्वाध्याय आदिके लिए आचार्यके पास जाते हैं अथवा आचार्य इनके पास जाकर उपदेश देते हैं। इसीलिए संघके विहार करने पर गुरुकी आज्ञासे ये भी विहार कर जाते हैं।[1]

यह आलन्द (अथालंद) विधि दिगम्बर शास्त्रोंमें प्राप्त नहीं होती। इस चर्यासे स्पष्ट है कि ये साधुओंकी चर्यामें शिथिलाचारके विरुद्ध थे।

परिहारसंयमविधि

आलंद विधिकी अपेक्षा यह परिहारसंयम विधि जटिल नहीं है। जिनकल्प धारण करनेमें असमर्थ तथा परिहारसंयमको धारण करनेमें समर्थ मुनि अपने बल, वीर्य, आयु

---

१. भगवती आराधना टीका विजयोदया पृ० १९७-२०१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और विघ्नोंको जानकर जिनभगवान[1]से हाथ जोड़कर विनयपूर्वक पूछते हैं कि हम आपकी आज्ञासे परिहारसंयम धारण करना चाहते हैं। यह सुनकर जिनका ज्ञान उत्कृष्ट नहीं होता और जिन्हें आज्ञा मिल जाती है, वे निःशल्य होकर प्रशस्त स्थानमें लोंच करते हैं तथा गुरुओंके सम्मुख आलोचना करके अपने व्रतोंको अच्छी तरह विशुद्ध करते हैं। परिहारसंयम धारण करने वालोंमेंसे एक कल्पस्थित मुनि (अर्थात् परिहारसंयम कल्प धारण करने वाले)को सूर्यका उदय होने पर गुरु रूपसे स्थापित करते हैं। वह उस गणके लिए प्रमाण होता है। वह आलोचना सुनकर शुद्धि करता है। कल्पस्थित आचार्यको छोड़कर शेषमें आधे पहले परिहारसंयम ग्रहण करते हैं, अतः वे परिहारिक कहलाते हैं। शेष अनुपहारिक कहलाते हैं, वे बादमें परिहारसंयम ग्रहण करते हैं। यदि तीन परिहारसंयम धारणके इच्छुक होते हैं। तो उनमेंसे एक गणी, दूसरा परिहारसंयमका धारी और तीसरा अनुपहारिक होता है। यदि पांच होते हैं तो उनमेंसे एक कल्पस्थित गणी, दो परिहारसंयमके धारी और शेष दो उन दोनोंमेंसे प्रत्येकके एक-एक अनुपहारिक होता है। यदि सात होते हैं तो उनमें एक कल्पस्थित तीन परिहारिक और शेष तीन अनुपहारिक होते हैं। यदि नौ हों तो एक कल्पस्थित, चार परिहारिक और चार अनुपहारिक होते हैं। छह महीने तक परिहारसंयमी परिहारसंयममें निविष्ट होता है। उसके पश्चात् अनुपहारिक परिहारसंगममें निविष्ट होता है। उसके पश्चात् अनुपहारिक परिहारसंयममें प्रविष्ट होता हैं। उनके भी निविष्ट परिहारिक होने पर अन्य अनुपहारिक परिहारसंयममें प्रविष्ट होते हैं। वे भी छह मासमें निविष्ट परिहारक हो जाते हैं। इसके पश्चात् कल्पस्थित परिहारमें प्रविष्ट होता है। उसका एक अनुपहारिक और एक कल्पस्थित होता है। वह भी छह मासमें निविष्टपरिहारिक होता है। इस प्रकार प्रमाणसे अठारह मासमें परिहारसंयम धारण किया जाता है।

यह सब कथन अपराजितसूरिने एक प्राकृत उद्धरण द्वारा किया है।

परिहारसंयमी वसति और आहारके सिवाय अन्य तृणासन, लकड़ीका आसन, चटाई आदि ग्रहण नहीं करते। शरीरसे ममत्व छोड़कर चार प्रकारके उपसर्गोंको सहते हैं। दृढ़ धैर्यशाली तथा निरन्तर ध्यानमें चित्त लगाते हैं। बलवीर्य और गुणों की पूर्णता होते हुए भी संघमें वीर्याचारका पालन नहीं करते। वाचना, पृच्छना और परिवर्तनोंको छोड़कर सूत्रार्थ और पौरुषीसे सूत्रार्थका ही चिन्तन करते हैं। आठों

---

१. प्रतीत होता है कि यहां जिन भगवान शब्दसे यह तात्पर्य अभीष्ट है कि जो जिनभगवानके सदृश पूर्ण निर्ग्रन्थ आचार्य मुनि हैं, उनसे ही आज्ञा लेनेका कथन है, दूसरी पंक्तिमें इन्हें यतीन्द्र कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रहर निद्रा त्याग कर ध्यान करते हैं। स्वाध्यायकाल और प्रतिलेखना आदि क्रिया उनके नहीं होती, क्योंकि श्मशानमें भी उनके लिए ध्यानका निषेध नहीं है। यथा-समय आवश्यक करते हैं। दोनों समय उपकरणोंका शोधन करते हैं। आज्ञा लेकर देवालय आदिमें रहते हैं। जिन देवालयों आदि स्थानोंके स्वामियोंका पता नहीं होता, 'जिसका होता है वह हमें अनुज्ञा दे' कहकर वहां निवास करते हैं। निकलते और प्रवेश करते समय आसीधिका और निषीधिका करते हैं। दश प्रकारके सामाचार करते हैं। उपकरण आदि देना, लेना, अनुपालन, विनय, वंदना, वार्तालाप आदि व्यवहार उनका संघके साथ नहीं होता। गृहस्थ अथवा अन्य लिंगियों द्वारा दी हुई योग्य वस्तुका ग्रहण करते हैं। उनके साथ भी शेष सम्बन्ध नहीं होता। उनमेंसे तीन, पाँच, सात अथवा नौ संयतोंका परस्परमें व्यवहार होता है।

कल्पस्थित आचार्य और परिहारसंयमी आपसमें संघाटदान, संघाटग्रहण, निवास वंदना, वार्तालाप आदि व्यवहार करते हैं। अनुपहारिक संयमी परिहारसंयमीके साथ संवास, वंदना, दान, अनुपालना आदि व्यवहार करते हैं। कल्पस्थित भी अनुपरिहार-संयमीके साथ व्यवहार करता है। वंदना करने पर धर्मलाभ कहते हैं। यहां कुछ गाथाएं उद्धृत की हैं, जिन्हें कल्पोक्त कहा है।

तीन भाषाओंको छोड़कर सदा मौन रहते हैं। वे तीन भाषाएं हैं—पूछने पर उत्तर देना, मांगना और स्वयं पूछना, मार्ग पूछना, शंकायुक्त उपकरणके विषयमें पूछना, वसतिकासे सम्बद्ध शय्याधरका पता पूछना, ग्रामके बाहर श्मशान, शून्यघर देवालय, गुफा, आने वालोंके लिए बना घर अथवा वृक्षकी खोलमें निवास करते समय 'हमें अनुज्ञा दें' एक बार यह कहना पड़ता है। कौन हो ? कहाँसे आये हो ? कहाँ जाओगे ? यहाँ कितने समय तक ठहरोगे ? तुम कितने लोग हो, इस प्रकारके प्रश्न होने पर 'हम श्रमण हैं', यह एक ही उत्तर देते हैं। अन्यत्र चुप रहते हैं। 'इस स्थानसे चले आओ', 'यह स्थान हमें दो', 'जरा घर देखना' इत्यादि वचन-व्यवहार जहाँ होता है, वहाँ नहीं ठहरते। गोचरी यदि नहीं मिलती तो तीसरे प्रहर दो गव्यूति जाते हैं। यदि वर्षा, आँधी आदिसे गमनमें बाधा होती है, तो जहाँ तक गमन किया है, वहीं ठहर जाते हैं। व्याघ्र आदि पशुओंके आने पर यदि वे भद्र होते हैं, तो मुनि चार हाथ चलते हैं और यदि दुष्ट हुये तो एक पग भी नहीं चलते। नेत्रोंमें धूल चले जाने पर या काँटा आदि लग जाने पर स्वयं नहीं निकालते। यदि दूसरे निकालते हैं, तो चुप रहते हैं। नियमसे तीसरे प्रहरमें ही भिक्षाके लिए जाते हैं। जिस क्षेत्रमें छह भिक्षाएँ अपुनरुक्त होती हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न घरोंमें मिल जाती हैं, वह क्षेत्र निवासके योग्य होता है, शेष अयोग्य होता है, उसे छोड़ देते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षेत्रकी अपेक्षासे भरत और ऐरावत क्षेत्रमें, प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करके तीर्थमें, कालकी अपेक्षा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें, चारित्रकी अपेक्षा छेदोपस्थापनाचारित्र वाले होते हैं। प्रथम तीर्थङ्करके कालमें उनकी आयु कुछ कम एक पूर्वकोटि और अन्तिम तीर्थङ्करके कालमें एकसौ बीस वर्ष होती है। जन्मसे तीस वर्ष तक भोग भोगते हैं और मुनि-पर्याय उन्नीस वर्ष होती है। श्रुतसे दश पूर्वके पाठी होते हैं। वेदसे पुरुषवेदी होतो है। लेश्यासे तेज, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले होते हैं। ध्यानसे धर्मध्यानी होते हैं। आदिके तीन संहनन वाले होते हैं। छह संस्थानोंमें कोई एक संस्थान होता है। सात हाथसे लेकर पांच सौ धनुप ऊँचे होते हैं। परिहारसंयमके कालसे जघन्य आयु अठारह मास और उत्कृष्ट आयु परिहार-संयम होनेके पूर्वके वर्षोंसे हीन एक पूर्वकोटि होती है। चारण ऋद्धि, विक्रिया ऋद्धि और आहारक ऋद्धि आदि ऋद्धियाँ होती हैं।

परिहारविशुद्धिरूप योगके पूर्ण होनेपर अवधिज्ञान, मन.पर्ययज्ञान व केवलज्ञान-को प्राप्त होते हैं। मोक्ष भी प्राप्त करते हैं।[1]

जिनकल्प—अथालंद तथा परिहारसंयमकी अपेक्षा जिनकल्प धारण करना कठिन है। जिनके समान एकाकी विहार करते हैं। अतः जिनकल्पी कहलाते हैं। परिषहों-को अत्यंत धैर्यसे सहन करते हैं। एकाकी विहार ही इनकी परिहारसंयमसे भिन्नता है। शेष आचार उसीके समान है।

जिनकल्पी समस्त कर्मभूमियोंमें होते हैं। सब तीर्थंकरोंके तीर्थमें तथा सर्वदा होते हैं। (इस कथनसे स्पष्ट है कि वे श्वेताम्बरोंकी भाँति जिनकल्पको व्युच्छिन्न नहीं मानते।) जन्मसे तीस वर्ष तक तथा मुनिपदसे उन्नीस वर्षके होते हैं। नव-दस पूर्वके पाठी होते हैं। तेज, पद्म तथा शुक्ल इन शुभ लेश्याओंके धारी होते हैं। धर्म-ध्यानी और शुक्लध्यानी होते हैं। प्रथम संहनन (वज्रवृषभनाराचसंहनन) होता है। छह संस्थानोंमेंसे कोई भी संस्थान हो सकता है। लम्बाई सात हाथसे लेकर पाँच सौ धनुष तक होती है। जिनकल्प धारणकी अवधि अन्तर्मुहूर्तसे लेकर न्यून पूर्वकोटि काल तक हो सकती है। तपसे विक्रिया, आहारक, चारण और क्षीरास्रवित्व आदि लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं, पर विरागी होनेसे उनका उपयोग नहीं करते। ये अवधि-ज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान तक प्राप्त करते हैं।[2]

भक्तप्रत्याख्यान—सत्रह प्रकारके मरणोंमें पण्डितमरणके तीन भेद हैं—प्रायोपगमन, भक्तप्रत्याख्यान तथा इंगिनीमरण। इनमेंसे भक्तप्रत्याख्यान ही इस कालमें संभव है।

---

१. भगवती आराधना, भाग १ (विजयोदया सहित), पृ० २०१-५।
२. भगवती आराधना, भाग १ (विजयोदया सहित), पृ० २०५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः उसीका विस्तृत वर्णन भगवती आराधनामें किया गया है। भक्तप्रत्याख्यान अथवा भक्तपरिज्ञा मरणके अधिकारी साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका सभी हैं। अस्वस्थता, उपसर्ग आदिके कारण सहसा उपस्थित मरणके समय आराधनापूर्वक मरण अविचारभक्तप्रत्याख्यान है। पूर्व निश्चय कर निर्यापकाचार्यको खोजकर क्रम-क्रमसे भोजन-पानका त्याग सविचारभक्तप्रत्याख्यान है। भक्तप्रत्याख्यान ही इस कालके योग्य है। इसे स्त्री-पुरुष, श्रावक-साधु सभी कर सकते हैं। इसका उत्कृष्ट काल १२ वर्ष है।[1]

अविचारभक्त-प्रत्याख्यान

अविचारभक्त-प्रत्याख्यानके तीन भेद हैं—निरुद्ध, निरुद्धतर तथा निरुद्धतम। रोगाक्रान्त होनेसे दूसरे संघमें जानेकी शक्ति न होनेके कारण जो अपने ही संघमें रहता है तथा शक्ति रहते अपनी परिचर्या दूसरेसे नहीं कराता। शक्तिहीन होनेपर संघके द्वारा परिचर्या कराता है, वह मुनि निरुद्धभक्तप्रत्याख्यान करता है।

अपने ही संघमें निरुद्ध होनेसे यह निरुद्धमरण है। सर्प, आग, व्याघ्र, चोर, मूर्च्छा, विसूचिका आदिके कारण तत्काल मरण उपस्थित हो, तो जब तक बोली बन्द न हो, शरीरमें शक्ति शेष रहे, तीव्र वेदनाके कारण चित्त व्याकुल न हो तब तक समीपस्थ आचार्य आदिके सम्मुख दोषोंकी आलोचना करके रत्नत्रयकी आराधना करे। उपधियों, शरीर व परिचारकोंमें ममत्व त्याग दे। यह विधि निरुद्धतरभक्त-प्रत्याख्यानकी है।

जब सर्पदंश आदि आकस्मिक कारणोंसे वाणी एकाएक अवरुद्ध हो जाती है, तब अरहंत, सिद्धका स्मरण करते हुए अपनी तत्काल आलोचना करने वाले साधु परम-निरुद्धभक्तप्रत्याख्यान धारण करते हैं।

यह अविचारभक्तप्रत्याख्यान प्रकाश और अप्रकाशरूप दो प्रकारका होता है।[2] यदि क्षपकका मनोबल कम हो अथवा स्वजन आदि विघ्न उपस्थित करने वाले हों, तो समाधिको प्रकट नहीं किया जाता। यदि क्षपक परीषह सहिष्णु हो, वसति एकान्तमें हो, ग्रीष्म आदि ऋतु न हो, परिवारके जन विघ्न उपस्थित न करते हों, तो समाधिको प्रकट किया जा सकता है।[3] लोकमें जिनका समाधिमरण प्रकट हो जाए, वह प्रकाश है और जिनका विख्यात न हो, वह अप्रकाश है। इस प्रकार शिवार्यने परमनिरुद्धके दो भेदोंका प्रतिपादन किया है।

१, २, ३, भगवती आराधना, गाथा २५९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इंगिनीमरण—इंगिनीमरणका अधिकारी रत्नत्रयमें लगे दोषोंकी आलोचना करके संघसे निकलकर गुफाके अन्दर अथवा जीवरहित कठिन भूमि प्रदेशमें जमीनपर अथवा शिलापर एकाकी आश्रय लेता है। अपने शरीरके सिवाय उसका कोई सहायक नहीं होता। गाँव या नगरमें तृणोंकी याचना करता है तथा छिद्ररहित, कोमल, शरीरस्थितिके लिए साधन, प्रतिलेखना योग्य तृणोंको भूमि-प्रदेशपर सावधानीसे पृथक्-पृथक् करके फैला देता है। समस्त प्रकारके आहारके विकल्प, आभ्यन्तर व बाह्य परिग्रहको त्यागकर लेश्याविशुद्धिसे सम्पन्न हो धर्मध्यान करता है। उपसर्ग रहित अवस्थामें स्वयं अपने शरीरकी परिचर्या करता है। उपसर्ग होनेपर प्रतीकार रहित होकर उसे सहन करता है। वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच और नाराच नामक तीन शुभ संहननोंमें कोई एक संहनन तथा समचतुरस्रसंस्थान धारण करता है। कठोरतम उपसर्ग सहन करता है। अनुप्रेक्षारूप स्वाध्यायमें लीन रहता है। निद्रा-त्यागी होता है। बलात् निद्रा आनेपर सो लेता है। पैरमें काँटा चुभने तथा आँखमें धूल गिरनेपर स्वयं दूर नहीं करता। कोई दूसरा दूर करता है, तो चुप रहते हैं। इनके लिए श्मशानमें भी ध्यान निषिद्ध नहीं है। कुछ आचार्योंके अनुसार देवों या मनुष्योंके आग्रह करनेपर थोड़ा धर्मोपदेश भी देते हैं।

प्रायोपगमन—प्रायोपगमनकी विधि इंगिनीमरणके समान ही है। इसमें उससे अधिक उत्कृष्ट तपश्चर्या है। तृणोंके संस्तरका भी निषेध है। भक्तप्रत्याख्यानमें स्वकृत तथा परकृत दोनों परिचर्या संभव हैं। इंगिनीमरणमें परकृत परिचर्याका निषेध है। प्रायोपगमनमें स्वकृत तथा परकृत दोनों ही परिचर्याओंका निषेध है। यदि उन्हें जलमें फेंक दिया जाता है तो वे वैसेही पड़े रहते हैं। उपसर्ग अवस्थामें एक स्थान-से उठाकर दूसरे स्थानमें डाल दिये जानेपर यदि वह वहीं मरण करता है, तो उसे नीहार कहते हैं और ऐसा नहीं होनेपर पूर्व स्थानमें ही मरण हो तो वह अनीहार कहाता है। जिनकी आयुका काल अल्पशेष रहता है, वे प्रतिमायोग धारण करके प्रायोपगमन करते हैं और कुछ दीर्घकाल तक विहार करते हुए इंगिनीमरण करते हैं।[२]

श्रेष्ठ मरणके लिए जीवनकालसे ही मनको तैयार करना तथा अन्तमें शरीरसे व संसारसे विरक्त होकर तटस्थवृत्तिसे मरण करना ही समाधिमरण है। समाधिमरण नष्ट होते हुए शरीरका समतापूर्वक त्याग है।

---

१. भगवती आराधना, गाथा २०३५–२०५५
२. भगवती आराधना, गाथा २०५९–२०६५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीर्थङ्करोंके धर्ममें विभिन्नता

यापनीयोंके अनुसार प्रथम व अन्तिम तीर्थङ्करोंके धर्मसे मध्यके तीर्थङ्करोंके धर्ममें कतिपय अन्तर हैं।

(१) मूलाचारकारके अनुसार बाईस तीर्थङ्करोंने सामायिक संयमका उपदेश दिया तथा ऋषभदेव तथा अन्तिम तीर्थङ्कर महावीरने छेदोपस्थापना संयमका उपदेश दिया।[1]

(२) प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्करने पंच महाव्रतोंका उपदेश दिया, जबकि अन्य तीर्थङ्करोंने ब्रह्मचर्यको अपरिग्रहमें गर्भित करके चतुर्याम धर्मका उपदेश दिया। पंच महाव्रतोंका उपदेश कथन करने, विभाजन करने तथा जाननेके लिए सरल होता है।[2]

(३) प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करके धर्ममें अपराध हो, चाहे न हो, प्रतिक्रमण आवश्यक बतलाया गया है, किंतु मध्यके तीर्थङ्करोंके धर्ममें अपराध होने पर ही प्रतिक्रमणका उपदेश है।[3] आगे और स्पष्ट कहा गया है कि ईर्यासमिति, गोचरीवृत्ति और स्वप्न आदिमें दोष हो, चाहे न हो, प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करोंके कालमें सभी मुनि सब दोषोंके लिए अनिवार्य प्रतिक्रमण करते हैं। मध्यम तीर्थङ्करोंके शिष्य दोष होने पर आलोचना करके शुद्ध होते हैं।

अपराजितसूरि विजयोदयामें अन्यत्रसे दो गाथाओंको उद्धृत करते हुए प्रतिक्रमणके भेदोंका निर्देश करते हैं—

आलोयणा दुदिवसिग रादिग इत्तिरियभिक्खचरिया य।
पक्खिय चाउम्मासिय संवच्छर उत्तमट्ठेय ॥
पडिकमण रादिग देवसिगं इत्तिरिय भिक्खचरिया य।
पक्खिय चाउम्मासिय संवच्छर उत्तमयट्ठेय ॥[4]

आलोचना और प्रतिक्रमणके रात्रिक, दैवसिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक,

---

१. बावीसं तित्थयरा सामायियसंजमं उवदिसंति।
छेदुवठाणियं पुरा भयवं उसहो य वीरो य ॥ ७/३६

२. आचक्खिदुं विभजिदुं विण्णादुं चावि सुहदरं होदि।
एदेण कारणेण दु महव्वदा पंच पण्णत्ता ॥ ७/३७

३. सपडिकम्मो धम्मो पुरिमस्स पच्छिमस्स य जिणस्स।
अवराहे पडिकमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥ ७/१२९

४. भगवती आराधना, विजयोदया पृ० ३३२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐर्यापथिक और भिक्षाचर्यामें की जाने वाली ये भेद हैं। इनके विषयमें अपराजित-सूरि कहते हैं कि ये प्रतिक्रमणके भेद प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर प्रणीत पंच यम-धर्ममें ही होते हैं—'अमी प्रतिक्रमणभेदाः आद्यन्ततीर्थङ्करप्रणीते पंचयमे धर्म्मे इतरत्र तु चतुर्यमे प्रतिक्रमणस्य कालनियम उक्तः।'

मध्यम तीर्थङ्करोंके कालके साधुओंके प्रतिक्रमणके विषयमें कहा गया है—

खमगो याणेसणो विय दूरायादो य सव्वसमणो वि।
सुमणे वि यदि य सद्दो जागरमाणो वि अगदो वि॥
ठाणाविओ आयरियं पावज्जमित्ति मज्झिमजिणेसु।
ण पडिक्कमणं तेण दु जे णातिक्कमदि सो णेव॥
सद्दादिसु वि पवित्ती आदि य अंतंमि सो पडिक्कमदि।
मज्झिमगा मण्णोति य अमज्झमाणं हवे उभयं॥
इरियं गोयर सुमिणदि सव्वमाचरदु मा व आचरदु।
पुरिमचरिमेसु सव्वो सव्वं णियमा पडिक्कमदि॥

(४) पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री[1] लिखते हैं कि दश कल्पोंके विषयमें श्वेताम्बर मान्यता है कि चार स्थितकल्प हैं, छह अस्थितकल्प। शय्यातरपिण्ड, चातुर्मास, पुरुष की ज्येष्ठता तथा कृतिकर्म ये चार कल्प स्थित हैं अर्थात् मध्यम तीर्थङ्करोंके साधु इन चारोंका पालन करते हैं। शेष छह इनके लिए अनवस्थित हैं। वस्त्रधारणसे रागद्वेष उत्पन्न होता है, तो अचेल अन्यथा सचेल रहते हैं। अन्य साधुओंके उद्देश्य से बना भोजन ले लेते हैं। दोष लगनेपर प्रतिक्रमण करते हैं। राजपिण्डमें दोष न हो, तो ग्रहण कर लेते हैं। यदि एक क्षेत्रमें निवास करनेमें दोष न हो तो पूर्वकोटिकाल तक भी रहते हैं। दोष हो तो एक मास पूर्व भी चल देते हैं।

विजयोदयाकारके अनुसार भी आचेलक्य, प्रतिक्रमण और उद्दिष्टत्याग ये भगवान् ऋषभ और महावीरके कालमें ही स्थितकल्प हैं, मध्यम तीर्थङ्करोंके कालमें नहीं। विजयोदयाकार अचेलताके प्रस्थापनके अवसर पर एक ओर कहते हैं कि समस्त भूत-भावी जिन, उनके गणधर तथा शिष्य सभी अचेल होते हैं, दूसरी ओर 'आचेलक्को धम्मो पुरिमचरिमाणं'[2] आदि आगमवाक्योंको प्रमाण रूपमें उद्धृत करते हैं। आचेलक्य प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करके कालमें स्थितकल्प है—तथापि विशिष्ट परिस्थितियोंमें वस्त्रधारणकी छूट है। राजपिण्डकी भी इसी प्रकार छूट है—जहाँ दोषोंके उत्पन्न होनेकी संभावना हो, वहाँ प्रतिषेध है। रोगीके लिए तो राजपिण्ड

---

१. भगवती आराधना-हिन्दी टीका, विशेषार्थ पृ. ३३४।
२. भ० आ०, विजयोदया, पृ० ३१०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुर्लभ द्रव्य है। मृत्युभय या श्रुतविच्छेद आदि विघ्न उपस्थित होने पर ग्रहण किया जा सकता है—'दोषसंभवो यत्र तत्र राजपिण्डग्रहणप्रतिषेधो न सर्वत्र प्रकल्प्यते। ग्लानार्थं राजपिण्डोपि दुर्लभं द्रव्यम्। आगाढकारणे वा श्रुतस्य व्यवच्छोदो माभूदिति।'

(५) प्रथम तथा अन्तिम तीर्थङ्करके कालमें रात्रिभोजनविरमणको छठा व्रत कहा गया है—'आद्यपाश्चात्यतीर्थयो रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि पञ्चमहाव्रतानि।'[1]

तीर्थङ्करोंके धर्ममें उक्त अन्तरका कारण शिष्योंकी मनोवृत्ति बताया गया है। प्रथम तीर्थङ्करके शिष्य सरलस्वभावी किंतु जडबुद्धि थे। बारम्बार समझाने पर भी शास्त्रका मर्म नहीं समझ पाते थे। अन्तिम तीर्थङ्करके शिष्य कुटिल तथा जड़मति थे। वे योग्य अयोग्यका विवेक नहीं कर पाते थे। मध्यके बाईस तीर्थङ्करोंके शिष्य दृढ़बुद्धि, एकाग्रमन तथा प्रेक्षापूर्वकारी थे। इसीलिए उनके नियमोंमें अन्तर था।[2]

श्रमणके विभिन्न पद

श्रमणसंघको व्यवस्था सहज रूपसे चल सके, धर्म प्रचार, प्रसार व प्रभावना सम्यग्रूपेण हो सके, इस दृष्टिसे श्रमणसंघमें कतिपय पदोंकी व्यवस्था की जाती थी। मूलाचारमें श्रमणसंघमें आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर नामक पदोंके उल्लेख मिलते हैं। इन पाँचोंको संघका आधार बताया है, जहाँ ये आधार न हों, वहाँ मुनिका निवास निषिद्ध बताया है—

तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा।
आइरियउवज्झाया पवत्तथेरा गणधरा य॥[3]

इन पाँचोंका संक्षिप्त लक्षण निम्नलिखित गाथामें इस प्रकार दिया है—

सिस्साणुग्गहकुसलो धम्मुवदेशो य संघवट्टवओ।
मज्जादुवदेसोवि य गणपरिरक्खो मुणेयव्वो॥[4]

शिष्योंपर अनुग्रह करनेमें कुशल आचार्य, धर्मोपदेशक उपाध्याय, संघप्रवर्तक प्रवर्त्तक, मर्यादोपदेशक स्थविर तथा गणपरिरक्षक गणधर होता है।

दिगम्बर परम्परामें तीर्थङ्करोंकी ध्वनिको गूँथने वाले ही गणधर कहे गये हैं। किंतु मूलाचारमें गणरक्षकोंको गणधर कहा गया है। इस प्रकार प्रवर्त्तक, स्थविर तथा गणधर इन तीन पदोंका अधिक उल्लेख है।

---

१. विजयोदया पृ० ३३०।
२. मूलाचार ७/३८-१३३; विजयोदया पृ० ३३३।
३. मूलाचार ४/१५५।
४. मूलाचार ४/१५६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलाचारमें आर्यिकाओंके गणिनो तथा स्थविरा पदोंका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त आर्याओंके गणधरका भी उल्लेख है। उनके कतिपय विशिष्ट गुण बताये गये हैं।[1]

इससे स्पष्ट है कि गणिनीके अतिरिक्त भी आर्यासंघके संरक्षणके लिए एक वयोवृद्ध गुणवान् साधु उनके गणधर पदको सुशोभित करता था।

श्वेताम्बर परम्परामें इन पांचके अतिरिक्त गणी और गणावच्छेदक पदोंका उल्लेख मिलता है। आचार्यके अतिरिक्त संघके अप्रतिम बहुश्रुत विद्वान्के लिए गणी शब्दका प्रयोग मिलता है। संघके श्रामण्यनिर्वाहके लिए अपेक्षित साधन-सामग्री (उपधि) की व्यवस्थाकी दृष्टिसे गणावच्छेदक पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। यापनीय साधुओंकी नाममात्रकी उपधियाँ होनेसे संभवतः वहाँ इस पदकी व्यवस्था नहीं होगी।

भिक्षु-प्रतिमाएँ—भगवती आराधनाकी एक गाथामें विविध भिक्षु-प्रतिमाओंका उल्लेख है।[2] टीकामें इनका विवरण नहीं है। पं० आशाधरजीने मूलाराधनादर्पणमें एक गाथा उद्धृत कर इनका विवरण दिया है—

मायिय दुय तिय चउ पंच मास छम्मास सतमासी य।
तिण्णेव सत्तराइं राइंदिय राइपडिमाओ॥

सल्लेखना करने वाला, धैर्यशाली, महासत्त्वसे सम्पन्न, परीषहोंका जेता, उत्तम-संहननसे शिशिष्ट, क्रमसे धर्मध्यान और शुक्लध्यानको पूर्ण करता मुनि जिस प्रदेशमें रहता है, उस देशके लिए दुर्लभ आहारका व्रत धारण करता है कि यदि एक मासमें ऐसा आहार मिला, तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। उस मासके अन्तिम दिन वह प्रतिमायोग धारण करता है। यह एक भिक्षु प्रतिमा है। इस प्रकार पूर्वोक्त आहारसे सौगुने उत्कृष्ट अन्य-अन्य भोजन सम्बन्धी नियम लेता है। ये नियम दो, तीन, चार, पांच, छह और सात मासको लेकर होते हैं अर्थात् दो या तीन आदि सात मासमें

---

१. मूलाचार ४/१८४-५।

गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य।
चिरपव्वइओ गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि॥
एवं गुणवदिरित्तो जदि गणधारित्तं करेदि अज्जाणं।
चत्तारि कालगा से गच्छादिविराहणा होज्ज।

२. सदि आउगे सदि बले जाओ विविधाओ भिक्खुपडिमाओ।
ताओ वि ण बाधंते जहाबलं सल्लिहंतस्स॥गा. २५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा आहार मिलेगा,तो आहार करूँगा। सर्वत्र नियमोंके अन्तिम दिनोंमें प्रतिमायोग धारण करता है। ये सात भिक्षु प्रतिमाएं हैं। पुनः पूर्व आहारसे सौगुना उत्कृष्ट दुर्लभ अन्य-अन्य आहारका नियम सात-सात दिनमें तीन बार ग्रहण करता है अर्थात् सात दिनमें ऐसा आहार मिला, तो ग्रहण करूँगा। ये अगली तीन भिक्षु-प्रतिमाएं हैं, फिर रात-दिन प्रतिमायोगसे स्थित रहकर पीछे रात्रिप्रतिमायोग धारण करता है। ये शेष दो भिक्षु-प्रतिमाएं हैं। इनके धारण करने पर पहले अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञानको प्राप्त करके पीछे सूर्योदय होनेपर केवलज्ञान प्राप्त करता है।[1]

तत्त्वार्थभाष्यमें भी १२ भिक्षु-प्रतिमाओंका वर्णन है,[2] जिसमें सात प्रतिमाएं तो एकमासिकीसे लेकर सप्तमासिकी तक बतलायी हैं, तीन प्रतिमाएं सप्तरात्रिकी चतुर्दशरात्रिकी और एकविंशतिरात्रिकी कही हैं, शेष दो प्रतिमाएं अहोरात्रिकी व एकरात्रिकी नामकी हैं।

सिद्धसेनगणिने उक्त भाष्यकी टीका लिखते हुए आगमके अनुसार सप्तरात्रिकी प्रतिमाएं तीन बताई हैं। चतुर्दशरात्रिको और एकविंशतिरात्रिकी प्रतिमाओंको आगमसम्मत नहीं माना है—'सप्तचतुर्दशैकविंशतिरात्रिक्यस्त्रिस्र इति नेदं पारमर्षवचनानुसारिभाष्यं। किं तर्हि ? प्रमत्तगीतमेतत्।'[3]

यापनीयोंको तीन सप्तरात्रिकी, अथवा सप्तरात्रिकी, चतुर्दशरात्रिकी और एकविंशतिरात्रिकोमेंसे कौन-सी मान्यता इष्ट है, निर्णय करनेका कोई साधन नहीं है, क्योंकि भगवती आराधना और उसकी टीकामें इनके उल्लेख तो हैं, पर विवरण नहीं। पं० आशाधरजीने भगवती आराधनाकी गाथाकी व्याख्याके लिए श्वे० आगमग्रन्थोंके आधारपर इनका वर्णन किया है। उनका वर्णन सिद्धसेनगणि अथवा श्वेताम्बर मान्यताके अनुरूप है। संभवतः यापनीयोंको भाष्यकारसम्मत सप्तरात्रिकी, चतुर्दशरात्रिकी तथा एकविंशतिरात्रिकी वाली मान्यता इष्ट हो, क्योंकि भाष्यकार भी यापनीयोंकी भांति माथुरी वाचनाके अनुयायी समझे जाते हैं।[4]

द्वादशानुप्रेक्षाएँ—भगवती आराधना, मूलाचार तथा तत्त्वार्थसूत्र में द्वादश अनुप्रेक्षाओंका वर्णन है। डॉ० उपाध्येयके अनुसार श्वेताम्बर आगमोंमें कहीं भी पूरी बारह अनुप्रेक्षाओंका वर्णन नहीं मिलता। कहीं चार अनुप्रेक्षाओंका वर्णन है, तो

---

१. भगवती आराधनाकी पं० आशाधरजीकृत व्याख्या—मूलाराधनादर्पणमें गाथा २५१ की व्याख्या।
२. तत्त्वार्थभाष्य ९/६
३. तत्त्वार्थभाष्य ९/६ की वृत्ति
४. तत्त्वार्थसूत्र, हिन्दी विवेचन, प्रस्तावना, पृ० २३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहीं दो, तो कहीं एक।[1] तत्त्वार्थसूत्र जैनागमसमन्वयसे इसकी पुष्टि होती है।[2] दिगम्बर परम्परामें स्वामी कार्तिकेय व आचार्य कुन्दकुन्द सभीने इनका वर्णन किया है।

आचाम्ल तप या आयंबिल—शरीरकी सल्लेखनाके निमित्त विविध प्रकारके तप बताये गये हैं। उनमें आचाम्ल तपको श्रेष्ठ कहा गया है। दो, तीन, चार अथवा पाँच दिनोंके उत्कृष्ट उपवासके उपरान्त संक्लेश परिणाम न करता हुआ यदि परिमित, हल्का काँजीका आहार करता है, तो वह आचाम्ल तप है।[3] श्वेताम्बर परम्परामें आयंबिल तप बहुश्रुत है।

निर्यापकाचार्यका अन्वेषण—समाधिमरणका इच्छुक यति पाँचसौसे सातसौ योजन या उससे भी अधिक दूरी तक एकसे लेकर बारह वर्ष पर्यन्त जिनागमसम्मत निर्यापकको खोजता है।

सर्वप्रथम वह एक रात्रिकी भिक्षुप्रतिमा धारण करता है। तीन उपवास करके चतुर्थ रात्रिमें ग्राम, नगर आदिके बाहर वनमें अथवा श्मशानमें पूर्व अथवा उत्तर अथवा जिनप्रतिमाकी ओर मुख करके दोनों पैरोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखकर अपनी दृष्टि नाकके अग्रभाग पर रखते हुए शरीरसे ममत्व त्याग कर स्थित होता है। अपने चित्तको समाहित कर चार प्रकारके उपसर्गको सहन करता है। सूर्योदय होने तक न तो विचलित होता है और न गिरता है, फिर स्वाध्याय करके दो गव्यूतिप्रमाण गमन करके भिक्षाके क्षेत्रकी वसतिमें जाकर ठहरता है अर्थात् एकरात्रिक भिक्षुप्रतिमाकी समाप्तिपर स्वाध्याय करके भिक्षाके लिए गमन करता है। यदि भिक्षाका स्थान दूर हो तो स्वाध्यायकी स्थापना करके केवल मंगलाचरण करके भिक्षा-स्थानके लिए गमन करता है। यह उसकी स्वाध्याय-कुशलता है।

चैत्यस्थिति संयमी तथा श्रावकोंसे भिक्षा स्थान ज्ञात करना उसकी प्रश्न-कुशलता है।

जिस यतिके साथ सामाचारी की जा सकती है, उस यतिको सहायकके रूपसे ले लें या स्वयं उसका सहायक हो जावे। इस प्रकार स्थण्डिल भूमिकी खोजमें और सामाचारीके योग्य यतिके साथ रहनेमें जो प्रयत्नशील होता है, उसे स्थंडिल संभोगी कहते हैं। वह सर्वत्र अप्रतिबद्ध अनासक्त रहता है।

गुरुके सम्मुख आलोचना करनेका संकल्प करके जो क्षपक निर्यापक आचार्यकी

---

१. जैन साहित्य और इतिहास, पं० नाथूरामजी प्रेमी, पृ० ५३५।

२. तत्त्वार्थसूत्र व जैनागम समन्वय, पं० आत्माराम, पृ० १८१-२।

३. भगवती-आराधना भाग, १, गाथा २५२-५३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खोजमें निकलता है, वह स्वयं यदि वाक्शक्ति खो बैठे अथवा मरणको प्राप्त हो तो भी आराधक है।[1]

निर्यापकाचार्यके गुण

निर्यापक आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, प्रकुर्वी, आयापायविदर्शी, अवपीडक, अपरिस्रावी, निर्वापक, प्रथितकीर्ति व निर्यापनगुण समन्वित होना चाहिए।[2]

१. आचारवान्—पाँच प्रकारके आचारका—जो अतिचार लगाये बिना पालन करता है तथा दूसरोंको पाँच प्रकारके आचारके निरतिचार पालनमें लगाता है और आचारका उपदेश देता है, यह आचारवान् नामक गुण है अथवा जो दश स्थितिकल्प तथा प्रवचनमाताओं (समिति-गुप्ति)में तत्पर रहता है, वह आचारवान् है। जो आचार्य स्वयं आचारवान् होता है वह क्षपकको पाँच प्रकारके आचार में उद्यत करता है। स्वयं आचाररहित आचार्य क्षपकको रत्नत्रयमें प्रवृत्त नहीं कर सकता।[3]

२. आधारवान्—चौदह पूर्व, दश पूर्व, अथवा नौ पूर्वका धारी, महाबुद्धिशाली, सागरकी तरह गम्भीर, प्रायश्चित्तशास्त्र (कल्पव्यवहार) का ज्ञाता आधारवान् होता है। ज्ञान आधार है जो ज्ञानवान् वह आधारवान् है। जो ज्ञानवान् नहीं है वह आचार्य क्षपकके ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तपको नष्ट कर देता है। ज्ञानी आचार्यके द्वारा श्रुतका पान करानेसे और योग्य शिक्षारूप भोजनसे उपकृत होनेपर भूख-प्याससे पीड़ित होते हुए भी ध्यानमें स्थिर होता है। सेवा करनेमें यति जिसका तिरस्कार कर देते हैं, उसको भी बहुश्रुत आचार्य प्रोत्साहित करते हैं। शास्त्रोपदेशरूपी पेय और अनुशासनरूप भोजनसे भूख,प्याससे पीड़ित भी क्षपक ध्यानमें एकाग्रचित्त होता है।[4]

३. व्यवहारवान्—

प्रायश्चित्तशास्त्रज्ञान, प्रायश्चित्तकर्मका देखना तथा प्रायश्चित्त देनेका अभ्यास ये तीन गुण जिसमें होते हैं, उस आचार्यको व्यवहारवान् कहते हैं। प्रायश्चित्तशास्त्रका ज्ञाता होते हुए भी जिसने दूसरे आचार्यको प्रायश्चित्त देते हुए न देखा हो तथा जिसे प्रायश्चित्त देनेका अभ्यास न हो, वह प्रायश्चित्त देते समय खेदखिन्न होता है। यह प्रायश्चित्त (व्यवहार) पाँच प्रकारका है—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारण और जीव। अपराजितसूरिने दो कारणोंसे इनका विवेचन नहीं किया। पहला प्रायश्चित्त सार्वजनिक

---

१. भगवती आराधना व टीका; गाथा ४०४-४०९।
२. भगवती आराधना, गाथा ४१९-२०।
३. भगवती आराधना, गाथा ४२१-२९।
४. भगवती आराधना, गाथा ४३०-४४९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूपसे अकथनीय होनेसे, दूसरे अन्य शास्त्रोंमें इनका विवेचन होनेसे। पं० आशाधरजी-ने अपनी मूलाराधना टीकामें इनका विवरण इस प्रकार दिया है—ग्यारह अंगोंमें कहे गये प्रायश्चित्तको आगम कहते हैं। चौदह पूर्वोंमें कहे गये प्रायश्चित्तको श्रुत कहते हैं। अन्य स्थानमें स्थित अन्य आचार्यके द्वारा अन्य स्थानमें स्थित अन्य आचार्य द्वारा आलोचित अपने गुरुके दोषके लिए ज्येष्ठ शिष्य द्वारा प्रायश्चित्त आज्ञा है। एकाकी मुनि चलनेकी शक्ति न होने पर दोष लगने पर वही पूर्वनिश्चित्त प्रायश्चित्त करता है, वह धारणा है। बहत्तर पुरुषोंके स्वरूपके विषयमें (पुरुषोंके स्वभाव, सामर्थ्य, समय, स्थानकी दृष्टिसे) वर्तमान आचर्योंने जो शास्त्रमें कहा है, वह जीत है।

भगवती आराधना व टीकामें जीतके स्थान पर जीव है। हमें प्रतीत होता है यहाँ जीत शब्द ही होना चाहिए क्योंकि जीतकल्प शब्दका प्रयोग इन्होंने अन्य भी किया है।

श्वेताम्बर आगमोंमें भी व्यवहारके ये पाँच ही भेद किये गये हैं। इनके अनुसार आगम व्यवहारी छह हैं—केवलज्ञानी, मन.पर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी और नौपूर्वी।

श्रुतव्यवहारी—शेष पूर्वधर तथा ग्यारह अंगके धारी श्रुतसे व्यवहार करते हैं। जीत—केवली आदि प्रायश्चित्तदायकके न रहने पर भी जो व्यवहार प्रवृत्त तथा प्रचलित है, वही जीतकल्पव्यवहार है। जीतका अर्थ है अवश्य, कल्पका अर्थ है आचार, इस प्रकार जीतकल्पका अर्थ है अवश्य करणीय। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, संहनन आदिकी हानिको लक्ष्य कर दिया गया प्रायश्चित्त जीत है।[1]

प्रायश्चित्त देनेमें कुशल तथा आगममें निपुण आचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव करण, परिणाम, उत्साह, शरीरबल, प्रव्रज्याकाल, आगम और पुरुषको जानकर मध्यस्थ भावसे प्रायश्चित्त देते हैं। प्रायचित्तके ज्ञाता आचार्यके पादमूलमें रहनेसे क्षपकका ज्ञान, चारित्र, समाधि और शुद्धि निश्चयसे होती है।[2]

४. **प्रकुर्वी**—क्षपकके वसतिसे निकलने अथवा उसमें प्रवेश करनेमें, वसति, संस्तर और उपकरणके शोधनमें, खड़े होने, बैठने, सोने, शरीरसे मल दूर करने, भोजन-पान लानेमें, पण्डितमरण सम्बन्धी चर्यामें आदर, शक्ति तथा उत्कृष्ट भक्तिसे हस्तावलम्ब-नादि द्वारा उत्कृष्ट उपकार करते हैं, वह आचार्य प्रकुर्वक है। रोगग्रस्त क्षपक

---

१. भगवती आराधना, गाथा ४५२-५६।
२. वही, गाथा ४५७-४५९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेवाभावी आचार्यसे सुख प्राप्त करता है, अतः क्षपकको सेवाभाव रखने वाले आचार्य-के समीप ठहरना चाहिए।

निर्यापकाचार्यके पास जाते हुए क्षपकके रत्नत्रयका प्रकर्ष होता है। आत्माकी शुद्धि होती है। संक्लेशका आभाव होता है। गुरुके समक्ष मानका निरास, मायाचारका त्याग होता है, मार्दव होता है। शरीरमें ममत्व कम होनेसे लाघव होता है। मैं कृतार्थ हूँ, इस प्रकारका संतोष होता है, अब मैं अपने ही आत्महितके कर्ममें प्रवृत्त हो रहा हूँ, इस प्रकार हृदयमें सुख होता है। ये अनेक गुण हैं।[1]

५. आयापायविदर्शी—अवज्ञा और लज्जाके भयसे क्षपक दोषोंकी आलोचना नहीं करता अथवा मायाचारपूर्वक करता है। तब आय अर्थात् रत्नत्रयका लाभ व अपाय अर्थात् रत्नत्रयका विनाश दिखाने वाले आचार्यको आयापायविदर्शी कहते हैं। आयापायविदर्शी आचार्यके पादमूलमें रहनेसे रत्नत्रयकी आराधना होना निश्चित है।[2]

६. अवपीडक—जो क्षपक आलोचकके गुण-दोषोंको समझने पर भी लज्जा, भय मान और कष्टासहिष्णुताके कारण अपने दोषोंको नहीं कहता उसे आचार्य एकान्तमें मधुर वचनोंसे शिक्षा देते हैं। उन्हें निन्दित होनेके भयसे मुक्त करते हैं। स्निग्ध, मधुर, हृदयग्राही और सुखकर वचनोंके द्वारा एकान्तमें समझाने पर भी कोई क्षपक यदि अपने दोषोंको सम्यक्‌रूपसे नहीं कहता, तब जैसे सिंह सियारके पेटमें गये माँस-को भी उगलवाता है वैसे ही अवपीडक आचार्य उस क्षपकके अन्तरमें छिपे हुए मायाशल्य-दोषोंको बाहर निकालता है। वह क्षपकसे कहता है कि जबतक आप कषायोंको कृश नहीं करते—मायाशल्यको नहीं निकालते, तब तक आपका क्षपक होना अथवा सल्लेखना धारण करना व्यर्थ है।

ऊर्जस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी, प्रसिद्ध कीर्तिशाली सिंहके समान आचार्यको भगवानने अवपीडक कहा है। अवपीडक आचार्यको क्षपकसे सभी दोष उगलवाना चाहिए[4]।

७. अपरिश्रावी—क्षपकके दोषोंको जो अन्य मुनियोंपर प्रकट नहीं करता, वह अपरिश्रावी आचार्य है। जो आचार्य ऐसा करता है, वह साधुका, आत्माका, गणका अथवा संघका हो परित्याग करता है। साधु आचार्यपर श्रद्धा तथा स्नेह त्याग कर गुरुका परित्याग कर सकता है अथवा कुपित होकर रत्नत्रयका ही त्याग कर सकता है।

१. भगवती ओराधना गाथा ४६१-४७५।
२, ३. वही गाथा ४७६-४८७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रहस्यभेद करने पर क्षपक द्वेषी होकर साधुका घात कर सकता है अथवा गणमें फूट डाल सकता है। साथ ही गणके अन्य साधु भी आचार्यके दोष-कथनसे भीत होकर गणसे अलग हो सकते हैं, अथवा आचार्यका त्याग कर सकते हैं। संघ विरुद्ध होकर आचार्यपद छीन सकता है। इस प्रकार शिष्योंके दोष-कथन करने पर मिथ्यादृष्टि श्रमणोंको धिक्कारेंगे, इस प्रकार मिथ्यात्वकी आराधना होगी। इस प्रकार शिष्योंके रहस्योंको गुप्त रखने वाला आचार्य अपरिश्रावी होता है।[1]

८. निर्वापक—संस्तर या भोजन-पान क्षपकके मनोनुकूल न होने पर अथवा उसमें विलम्ब करने पर, निर्यापकोंके वैयावृत्त्यमें प्रमाद करने पर अथवा सल्लेखना विधिसे अनजान नवीन साधुओंके कठोर और प्रतिकूल वचनोंसे क्षपक कुपित हो सकता है अथवा शीत-उष्ण, भूख प्याससे पीड़ित होनेसे तीव्र वेदनासे क्षपक कुपित हो सकता है और मर्यादा तोड़नेकी इच्छा कर सकता है। इस स्थितिमें विचलित न होने वाले, क्षमाशील तथा मानरहित आचार्य संतोष वचन कहते हुए उस कुपित अथवा मर्यादाको तोड़नेके इच्छुक क्षपकके चित्तको शान्त करता है, वह आचार्य निर्वापक होता है। उसे निष्कषाय होना चाहिए। वह रत्नकरण्डकके समान श्रुतको हृदयमें धारण करता है, अर्थात् श्रुतकेवली होता है, तथा वक्ता, विनयी, वैयावृत्य करने वाला स्वाभाविक बुद्धिसम्पन्न व जितेन्द्रिय महात्मा होता है। समस्त श्रुतका ज्ञाता नहीं है, ऐसा आचार्य भी निर्वापक हो सकता है। निर्वापक आचार्य स्निग्ध, मधुर, गम्भीर व मनको प्रसन्नता तथा कानोंको सुख देने वाली कथा कहते हैं, जिससे क्षपकको पहले अभ्यास किये हुए श्रुतके अर्थका स्मरण होता है।[2]

इन गुणोंसे युक्त आचार्य निर्यापकाचार्य होता है, जैसे नौका चलानेका अभ्यासी बुद्धिमान् नाविक तरंगोंसे क्षुभित समुद्रसे रत्नोंसे भरे जहाजको धारण करता है, वैसे ही निर्यापक आचार्य संयम और गुणोंसे पूर्ण, किंतु परीषहरूप लहरोंसे चंचल और विरक्त हुये क्षपकरूप जहाजको मधुर और हितकारी उपदेशोंसे धारण करता है, उसका संरक्षण करता है।[3]

निर्यापकाचार्यके छत्तीस गुण

आचारवत्त्व आदि आठ गुण, दस प्रकारका स्थितिकल्प, बारह तप, छह आवश्यक ये छत्तीस गुण भगवती आराधनामें बताये गये हैं।[4] विजयोदया टीकामें आठ ज्ञाना-

---

१. भगवती आराधना, गाथा ४८८-९७।

२. भगवती आराधना, गाथा ४९८-५०४।

३. वही, गाथा ५०५-५०८।

४. वही, गाथा ५२८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चार, आठ दर्शनाचार, बारह प्रकारका तप, पांच समिति तथा तीन गुप्ति ये छत्तीस गुण बताये गये हैं।[1]

पं० आशाधरजीने पहले विजयोदयाके अनुसार छत्तीस गुण बतलाकर फिर किसी प्राकृत टीकाके अनुसार २८ मूलगुण और आचारवत्त्व आदि आठ इस तरह छत्तीस बतलाये हैं। 'यदि वा' लिखकर दस आलोचना गुण, दस प्रायश्चित्त गुण, दस स्थितिकल्प, छह जीतगुण इस तरह छत्तीस गुण बताये गये हैं। भगवती आराधनाकी छत्तीस गुण प्रतिपादक गाथाको प्रक्षिप्त ही बताया गया है।

भगवती आराधनाकी गाथा यदि प्रक्षिप्त है, तो विजयोदया टीकाके अनुसार आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, बारह प्रकारका तप, पांच समिति, तीन गुप्ति इन्हें यापनीयसम्मत छत्तीस गुण मानना चाहिए। विजयोदयामें भिन्न छत्तीसगुणोंके प्रतिपादनसे इस गाथाको प्रक्षिप्त ही मानना चाहिए। इसके पूर्व की ५२७ वीं गाथाके 'छत्तीसगुणसमण्णागदेण' शब्दकी व्याख्यामें अपराजितसूरिने छत्तीस गुणोंका नाम-निर्देश किया है।

अड़तालीस निर्यापक

अड़तालीस निर्यापक यति क्षपकके समाधिमरणमें सहयोगी होते हैं। ये निर्यापक[2] वे होते हैं, जिन्हें धर्म प्रिय है, जो धर्ममे स्थिर हैं, संसारसे भीरू हैं, पापसे डरते हैं, धैर्यवान् हैं, अभिप्रायको जानते हैं, विश्वासके योग्य हैं, प्रत्याख्यानके क्रमको जानते हैं, योग्यायोग्यके विवेकमें कुशल होते हैं, क्षपकके चित्तको समाहित करनेमें प्रयत्नशील रहते हैं, जिन्होंने प्रायश्चित्त ग्रन्थोंको सुना है; जो सूत्रके अर्थको हृदयसे स्वीकार किये हैं, अपने और दूसरोंके उद्धार करनेके माहात्म्यसे शोभित हैं। ऐसे अड़तालीस निर्यापक यति क्षपकके समाधिमरणमें सहयोगी होते हैं।

इनमेंसे चार परिचारक मुनि क्षपकके आमर्शन (शरीरके एक हिस्सेका स्पर्श, परिमर्शन (समस्त शरीरके स्पर्श), चंक्रमण (इधर-उधर जाने), शयन, बैठने, खड़े होने, उद्वर्तन-परावर्तन करवट बदलने, हाथ-पांव पसारने और सिकोड़नेमें सहायता करते हैं।

चार परिचारक मुनि विकथा त्याग कर धर्मकथा कहते हैं। नाना कथाओंमें कुशल वे परिचारक यतिको प्रिय, मधुर, सुखदायक, हितकारी कथा निरन्तर कहते हैं। ज्ञान व चारित्रके उपदेशवाली आक्षेपिणी कथा क्षपकके योग्य होती है। परसमयका निरसन कर स्वमतकी चर्चा होनेसे विक्षेपिणी कथा क्षपकको उपयोगी नहीं है,

---

१. विजयोदया, पृ० ३८८।

२. आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसार ३/२१० में छेदोपस्थापना देने वाले आचार्यको निर्यापक कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्योंकि क्षपक मरणके समय रत्नत्रयकी आराधनामें तत्पर होता है, उसके लिए वह कथा अनायतन है। संवेजनी और निर्वेदनी कथा उपयोगी होती है।

चार परिचारक यति उस क्षपकके लिए उद्गमादि दोषोंसे रहित इष्ट भोजन विना ग्लानिके लाते हैं। वे अमायावी तथा मोह व अन्तराय कर्मोंका क्षयोपशम होनेसे भिक्षालब्धिसे युक्त होते हैं। ऐसे ही चार परिचारक मुनि क्षपकके लिए ग्लानिके विना दोषरहित पानक लाते हैं।

चार यति प्रयत्नपूर्वक उस आनीत भोजन-पानकी रक्षा करते हैं।

चार मुनि क्षपकके सब मल-मूत्र उठानेका कार्य करते हैं। सूर्यके उदय तथा अस्त होनेके समय वसति, उपकरण व संथरेकी प्रतिलेखना करते हैं।

चार यति सावधानीपूर्वक क्षपकके घरके द्वारको असंयमियों आदिके प्रवेशसे रक्षा करते हैं। अन्य चार यति समवशरण द्वारको रक्षा करते हैं। निद्राजयी अथवा निद्रा जय करनेके इच्छुक चार यति रात्रिमें जागरण करते हैं। चार मुनि उस क्षेत्रकी प्रवृत्तियोंकी परीक्षा करते हैं कि समाधिमें कोई बाधा आनेका तो खतरा नहीं है।

क्षपकके आवासके बाहर स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तके ज्ञाता चार यति क्रमसे एक-एक करके सभामें धर्म सुननेके लिए आते हुए श्रोताओंको चार कथाएँ इस प्रकार कहते हैं कि क्षपकको सुनाई न दें।

शास्त्रज्ञ और वादी चार मुनि धर्मकथा करने वालोंकी रक्षाके लिए सभामें सिंह-के समान विचरते हैं।

इस प्रकार माहात्म्यशाली अड़तालीस निर्यापक यति क्षपककी समाधिमें उत्कृष्ट प्रयत्नशील रहते हुए क्षपकको संसार-समुद्रसे निकलनेके लिए प्रेरित करते हैं।

इस प्रकार उत्कृष्टतासे अड़तालीस निर्यापक होते हैं। कालके परिवर्तनसे जिस प्रकारके शोभनीय गुण संभव है वे ही निर्यापक होते हैं। देश-कालके अनुसार सावधानी-पूर्वक चार-चार निर्यापक कम करते जाना चाहिए। कम-से-कम दो निर्यापक अवश्य होना चाहिए। एक निर्यापक न तो आत्महित कर सकता है और न क्षपकका हित। निर्यापक आहार आदिके लिए गया तो क्षपक अयोग्य सेवन कर सकेगा। समीपमें निर्यापक न होनेसे क्षपकका समाधिके बिना मरण हो सकता है।

शारीरिक स्थिति जब गोचरी करनेमें असमर्थ हो जाती है, तब क्षपकको संस्तरा-रूढ़ किया जाता है। उस स्थितिमें मरणासन्न साधुके लिए यह व्यवस्था थी कि मरणसमाधि कराने वाले निर्यापक यति उसके लिए विधिपूर्व खान-पान लावें और विधिपूर्वक देवें।[1]

---

१. भगवती आराधना, गाथा ६४६-६८७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दशस्थितिकल्प

श्वेताम्बर तथा यापनीय परम्परामें दश स्थितिकल्पोंकी चर्चा है। मूलाचार, भगवती आराधना और विजयोदयामें इनका विस्तृत वर्णन है। ये दश स्थितिकल्प हैं आचेलक्य, उद्दिष्टत्याग, शय्याधरपिण्डत्याग, राजपिण्डत्याग, कृतिकर्म, व्रत, पुरुषज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषण। विजयोदयाके अनुसार इनमें आचेलक्य[1], उद्दिष्टत्याग[2] और प्रतिक्रमण[3] केवल प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करके तीर्थमें ही आवश्यक है। मध्यके तीर्थंकरोंके कालमें ये आवश्यक नहीं हैं। प्रतिक्रमणके विषयमें मूलाचारमें भी यही कहा गया है।

वर्तमान कालमें अर्थात् महावीरके तीर्थमें सभी अवश्य करणीय होनेसे स्थितिकल्प हैं, परन्तु जिस प्रकार आचेलक्यके स्थितकल्प होने पर भी विशिष्ट परिस्थितियोंमें वस्त्र धारणकी छूट है। उसी प्रकार विशिष्ट परिस्थितियोंमें राजपिण्ड भी ग्रहण किया जा सकता है। अपराजितसूरि कहते हैं कि जहाँ दोष संभव हो वहीं राजपिण्ड ग्रहणका प्रतिषेध है, सर्वत्र नहीं। रोगीके लिये तो राजपिण्ड दुर्लभ द्रव्य है। मृत्यु अथवा श्रुतव्यवच्छेदका भय उपस्थित होने पर राजपिण्ड ग्रहण किया जा सकता है। 'दोषसंभवो यत्र तत्र राजपिण्डग्रहणप्रतिषेधो न सर्वत्र कल्प्यते। ग्लानार्थं राजपिण्डोपि दुर्लभं द्रव्यम्। आगाढकारणे वा श्रुतस्य व्यवच्छेदो माभूदिति।'

श्वेताम्बर परम्परामें पञ्चाशक-विवरणके अनुसार आचेलक्य, उद्दिष्टत्याग, प्रतिक्रमण, राजपिण्डका त्याग, मास और पर्युषणा ये छह कल्प मध्यके बाईस तीर्थंकरोंके कालमें अस्थितकल्प हैं क्योंकि उनके अनुयायियोंके लिए इनका सतत् पालन आवश्यक नहीं है। उनके लिए चार स्थितकल्प हैं शय्याधर-पिण्डका त्याग, चतुर्याम, पुरुष ज्येष्ठता और कृतिकर्म।

आचेलक्कुद्देसियपडिक्कमण रायपिंडमासेसु।
पज्जुसणकप्पम्मि य अट्ठियकप्पो मुणेयव्वो॥

---

१. 'आचेलक्को धम्मो पुरिमचरिमाणं' 'यथाहमचेली तथा होउ पच्छिमो इति' आदि विजयोदया (भगवती आराधना, भाग १), पृ० ३२६।

२. तथा चोक्तं कल्पे—

सोलसविधमुद्देशं वज्जेदव्वंति पुरिमचरिमाणं।
तित्थगराण तित्थे ठिदिकप्पो होदि विदिओ हु॥ विजयोदया

३. प्रतिक्रमणसहितो धर्मः आद्यपाश्चात्ययोर्जिनयोर्जातापराधप्रतिक्रमणं मध्यवर्तिनो जिना उपदिशन्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिज्जायररपिंडम्मि चाउज्जामे ये पुरिसजेट्ठे य।
कितिकम्मस्स य करणे ठियकप्पो मज्झिमाणं पि ॥[1]

यहाँ दशस्थितिकल्पोंमें चातुर्यामका उल्लेख है। मूलाचार और भगवती आराधनामें इसकी जगह 'व्रत' है। जैसा कि कह चुके हैं कि प्रथम व अन्तिम तीर्थंकरका धर्म पञ्चमहाव्रतरूप कहा गया है, जबकि मध्यम तीर्थंकरोंका धर्म चतुर्यमरूप है, इसलिए यह भेद किया गया होगा। परन्तु व्रतका अर्थ विजयोदयामें व्रतपालन न करके व्रतदान किया गया है। यह श्वेताम्बर परम्परासे भेद है।

पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीके मतानुसार 'दशस्थितिकल्पवाली गाथा श्वेताम्बरीय सिद्ध नहीं होती, क्योंकि मूलाचारमें भी मिलती है तथा अनगारधर्मामृतमें इसका संस्कृत रूप मिलता है। .. दसकल्प तो दिगम्बर परम्पराके प्रतिकूल नहीं अनुकूल ही हैं।'[2]

यद्यपि दशस्थितिकल्प वाली गाथामें आपत्तिजनक कोई बात नहीं है, तथापि यह गाथा दिगम्बर-परम्पराकी नहीं कही जा सकती। दिगम्बर परम्परामें शय्याधरपिंड या राजपिंडके त्यागका कोई विधान नहीं प्राप्त होता। आचार्य कुन्दकुन्द तो दरिद्र व ऐश्वर्यशाली सभी घरोंसे निरपेक्ष भावसे आहार ग्रहणका निर्देश करते हैं। साथ ही जिस मूलाचारको वे दिगम्बरीय ग्रन्थ मानते हैं, वह स्पष्टतया यापनीय ग्रंथ है, क्योंकि इसमें स्त्रीमुक्तिका विधान है। और पं० आशाधरजी बहुश्रुत विद्वान् हैं मूलाराधनादर्पणमें इन्होंने श्वेताम्बरीय ग्रंथोंके आधारसे बहुत-सी व्याख्यायें की हैं। और जैसा कि कह चुके हैं कि काष्ठा संघ दिगम्बरोंमें अन्तर्भुक्त यापनीय शाखा ही है।

अन्तर्द्वीपजमनुष्य—विजयोदयामें उल्लिखित है कि समुद्रके द्वीपोंके मध्य रहनेवाले कन्दमूल फल खाने वाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज मनुष्य हैं। ये मृगोपम चेष्टायें करते हुए मनुष्यायुका उपभोग करते हैं। ये अभाषक, एकोरुक, लांगूलिक, विषाणिक, आदर्शमुख, हस्तिमुख, अश्वमुख, विद्युन्मुख, उल्कामुख, हयकर्ण, गजकर्ण, कर्णप्रावरण इत्यादि मनुष्य नामानुरूप गूंगे, एक टांगवाले, पूँछवाले, सींगवाले, दर्पणकी भाँति मुख वाले, हाथीके समान मुखवाले, घोड़के समान मुख वाले, बिजलीके समान मुख वाले, घोड़के समान कानवाले, हाथीके समान कानवाले तथा कान ही जिनका प्रावरण है, ऐसे होते हैं।[3]

तत्त्वार्थभाष्यकारने भी वहांके मनुष्योंके नामसे अन्तर्द्वीपोंके नाम बताये हैं—'एकोरुकाणामेकोरुकद्वीपः। एवं शेषाणामपि स्वनामभिस्तुल्यनामानो वेदितव्याः।'[4]

---

१. पंचाशक-विवरण, अध्याय १७ गाथा ८, १०।
२. भगवती आराधना, भाग १, एक प्रस्तावना, पृ० ३४-३५।
३. विजयोदया, पृ० ४८३।
४. तत्त्वार्थभाष्य, ३/१५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परन्तु श्वेताम्बर परम्परा इसके विपरीत उक्त द्वीपोंके नामसे वहाँके मनुष्योंके नाम पड़े बताये हैं। 'आर्या म्लेच्छाश्च' सूत्रकी वृत्तिमें सिद्धसेनगणिने वहाँके मनुष्योंको सम्पूर्ण अंग-प्रत्यंगोसे पूर्ण सुन्दर मनोहर कहा है—'द्वीपनामतः पुरुषनामानि, ते तु सर्वाङ्गसुन्दरा दर्शनमनोरमणाः नैकोरुका एव। इत्येवं शेषा अपि वाच्या।'[1]

दिगम्बर परम्परामें एकोरुक आदि नाम आकृतिकी अपेक्षासे माने गये हैं।[2] इस विचारधारामें यापनीय दिगम्बर परम्पराका समर्थन करते हैं।

पुण्य-पाप प्रकृतियाँ

यापनीय सम्यक्त्व, हास्य, रति और पुरुषवेदको पुण्यप्रकृति मानते हैं। मूलाचार-में कहा गया है कि सम्यक्त्व, श्रुत, विरति तथा कषायनिग्रह गुणोंसे जो जीव परिणत है, (अर्थात् उसके जो कर्म बंध होता है) वह पुण्य है, उससे विपरीत पाप है।

सम्मत्तेण सुदेण य विरदीए कसायणिग्गहगुणेहिं।
जो परिणदो स पुण्णो तद्विवरीदेण पावं तु॥[3]

विजयोदयामें 'सद्वेद्यं सम्यक्त्वं रतिहास्यपुंवेदा शुभे नामगोत्रे शुभं चायुः पुण्यम्, एतेभ्योऽन्यानि पापानि।'[4]

दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इन्हें पुण्यप्रकृति नहीं माना गया है। तत्त्वार्थसूत्रके तत्त्वार्थभाष्यसम्मत पाठ भेदमें भी इन्हें पुण्यप्रकृति कहा गया है[5]। इसका कारण भी मूल तत्वार्थसूत्रका यापनीय कृति होना है। उक्त तत्त्वार्थभाष्यसम्मत सूत्र की टीका करते हुए सिद्धसेनगणि लिखते हैं कि 'कर्मप्रकृतिग्रन्थका अनुसरण करने वाले तो ४२ प्रकृतियोंको ही पुण्यरूप मानते हैं। उनमें सम्यक्त्व, हास्य, रति, पुरुष-वेद नहीं है। सम्प्रदायका विच्छेद हो जानेसे मैं नहीं जानता कि इसमें भाष्यकार-का क्या अभिप्राय है? कर्मप्रकृतिग्रन्थ प्रणेताओंका क्या? चौदह-पूर्वधारी हो इसकी ठीक-ठीक व्याख्या कर सकते हैं।'[6]

सम्यक्त्व आदिको पुण्यप्रकृति मानना यापनीयोंको ही इष्ट है। सिद्धसेन गणि इस विषयमें कहते हैं कि कुछ लोग इन चारोंको पुण्य प्रकृति मानते हैं, जो मोहनीय

---

१. सभाष्यतत्त्वार्थसूत्रवृत्ति ३/१५।
२. सर्वार्थसिद्धि ३ ३६।
३. मूलाचार ५/३७।
४. विजयोदया (भगवती आराधना, भाग २), गाथा १८२८ की व्याख्या. पृ० ८१४।
५. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र ८/६।
६. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी वृत्ति ८/६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मकी प्रकृति होनेके कारण इष्ट नहीं हैं। उन्होंने 'अपरस्त्वाह' कहकर उनकी कारिकाएँ उद्धृत की हैं, जिसके विषयमें पं० प्रेमीका अनुमान[1] है कि वे तत्त्वार्थ-सूत्रकी किसी यापनीय टोकाकी होंगी। वे कारिकाएँ इस प्रकार हैं—

रतिसम्यक्त्वहास्यानां पुंवेदस्य च पुण्यताम्।
मोहनीयमिति भ्रान्त्या केचिन्नेच्छन्ति तच्च न ॥
पुण्यं प्रीतिकरं सा च सम्यक्त्वादिषु पुद्गलाः।
मोहत्वं तु भवाबन्ध्यकारणादुपदर्शितम् ॥
मोहो रागः स च स्नेहो भक्तिरागः स चार्हति।
रागस्यास्य प्रशस्तत्वान्मोहत्वेनापि मोहता ॥

रात्रिभोजनविरमणव्रत

मूलाचार[2], भगवती आराधना[3] और विजयोदया[4] इन तीनों यापनीय ग्रन्थोंमें रात्रिभोजनविरमणव्रतको पृथक् छठा व्रत कहा गया है। दिगम्बर परम्पराकी भाँति इसका अन्तर्भाव आलोकित-पान-भोजन नामक अहिंसाव्रतकी भावनामें नहीं किया गया है।

उक्त ग्रन्थोंमें मुनियोंके लिए मुनियोंके महाव्रतोंके सन्दर्भमें इस व्रतकी चर्चा हैं। यह छठा व्रत पंच महाव्रतोंके पालनार्थ ही है।

दिगम्बर परम्परामें प्रायः सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदि ग्रन्थोंमें इसे अणुव्रत कहकर उसे आलोकितपानभोजन नामक अहिंसाव्रतकी भावनामें अन्तर्भावित किया गया है। श्लोकवार्तिकमें अवश्य इसे रात्रिभोजनविरतिव्रत मात्र कहा है, अणुव्रत या महाव्रत नहीं।[5]

काष्ठासंघी पं० आशाधरजीने केवल रात्रिमें भोजनका त्याग होनेसे अर्थात् काल की दृष्टिसे अणु होनेसे इसे अणुव्रत कहा है —'अणुव्रतत्वं चास्य दिवाभोजनस्यापि कारणात्।' (मूलाराधनादर्पण, आश्वास ६, पृ० ११७६)।

इसको पृथक्व्रत माननेका कारण संभवतः अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयका भीषण द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष रहा होगा, क्योंकि हरिषेणके बृहत्कथाकोशकी भद्रबाहुकथा से प्रतीत होता है। दुर्भिक्षके समय उत्तरभारतके साधु रात्रिमें भिक्षा माँगकर लाकर

---

१. जैन साहित्य और इतिहास (द्वितीय संस्करण), पृ० ५४१ की पादटिप्पणी।
२. मूलाचार ५/९८।
३. भगवती आराधना, प्रथम भाग, ११७९।
४. विजयोदया, पृ० ३३० व ३३१।
५. तत्त्वार्थसूत्र ७/१ की सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रखने लगे थे। संभवतः ग्रहण भी करने लगे हों। इसी प्रवृत्तिको रोकनेके लिये ही संभवतः इसे पृथक् छठे व्रतके रूपमें उल्लिखित किया जाने लगा।

शुक्लध्यानके प्रथम भेदका स्वामी

भगवती आराधना[1], मूलाचार[2], विजयोदया[3] तथा तत्त्वार्थसूत्र (श्वे. पाठ)में[4] पृथक्त्ववितर्क सवीचार ध्यानका अधिकारी उपशान्तमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्तीको तथा एकत्ववितर्कका स्वामी बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थानवर्तीको माना है। श्वेताम्बर परम्परामें भी यही माना गया है।

दिगम्बर परम्परा इससे भिन्न है। दिगम्बर पाठवाले तत्त्वार्थसूत्रमें आठवें गुणस्थानसे ही पृथक्त्ववितर्कवीचार शुक्लध्यानको माना है,[5] तथा एकत्व-वितर्कका अधिकारी बारहवें गुणस्थानवर्तीको माना हैं।

षट्खण्डागमकी टीकामें आचार्य वीरसेनने उपशान्तमोह गुणस्थानवर्तीको माना है।[6]

केवलीके ज्ञान-दर्शन—भगवती आराधनासे ज्ञात होता है कि यापनीय दिगम्बरोंकी भांति केवलीके ज्ञान-दर्शनके युगपद् होनेको स्वीकार करते थे।

---

१. भगवती आराधना, गाथा १८७४ व ७७।

दव्वाइं अणेयाइं तीहिं वि जोगेहिं जेण ज्झायंति।
उवसंतमोहणिज्जा तेण पुधत्तं त्ति तं भणिया॥
जेणगमेव दव्वं जोगेणेगेण अण्णदरगेण।
खीणकसाओ ज्झायदि तेणेगत्तं तयं भणियं॥

२. मूलाचार ५/२०७।

उवसंतो दु पुहुत्तं झायदि झाणं विदक्कवीचारं।
खीणकसाओ ज्झायदि एयत्तविदक्कवीचारं॥

३. विजयोदया (भगवती आराधना, भाग २), पृ. ८३६।

उपशान्तमोहनीयस्वामिकत्वात् क्षीणकषायत्वस्वामिकत्वाद् ध्यानाद् भिद्यते।

४. तत्त्वार्थसूत्र श्वेताम्बर पाठ ९/३७,३८,३९।

आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य।
उपशान्तक्षीणकषाययोश्च।
शुक्ले चाद्ये।

५. तत्त्वार्थसूत्र ९/३७ की व्याख्या

६. धवला टीका, पुस्तक १३, पृ. ७४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे ।
तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगदमोहो ॥[1]

षट्खण्डागममें युगपद्वादका उल्लेख है—[2]
सव्वं समं जाणदि पस्सदि विहरन्ति ।

5293

गर्भ-कल्याणक—तीर्थङ्करोंकेगर्भ कल्याणकमें देवोंका आगमन संभवतः यापनीय परम्परामें मान्य नहीं है । विजयोदयामें ललित गद्यमें तीर्थंकरोंके कल्याणकोंका विस्तृत वर्णन है किंतु गर्भकल्याणकमें देवोंका वर्णन नहीं है ।[3] पउमचरिउमें भी भगवान ऋषभके गर्भकल्याणक मनानेके लिए देवोंके आगमनका वर्णन नहीं है । जन्म, दीक्षा तथा ज्ञान कल्याणकमें देवोंके आगमनका वर्णन है ।[4] पद्मचरित और हरिवंशपुराणमें भी गर्भकल्याणकमें देवोंके आगमनका वर्णन नहीं है ।

विजहना अर्थात् साधुका मृतक कर्म[5]

नगर आदिके मध्य या बाहर मरणको प्राप्त क्षपकके शरीरको वैयावृत्य करने वाले परिचारक मुनि स्वयं ही सावधानीपूर्वक हटा देते हैं । वर्षावासमें तथा ऋतुके प्रारंभमें निषीधिकाका प्रतिलेखन करना श्रमणका कल्प है; अतः साधु क्षपकका शव निषीधिकासे हटानेका प्रयत्न करते हैं । यहां यह शंका नहीं करनी चाहिए कि साधु तो अपने शरीरमें भी अममत्व रखते हैं, तब क्षपकके शवको हटानेका प्रयत्न क्यों करते हैं ? साधुके लिए निषीधिकाका प्रतिलेखन आवश्यक है, अतः वे क्षपकके शवको दूर करते हैं ।

निषीधिका एकांत स्थानमें, प्रकाशवान् नगरादिके न अधिक समीप और न बहुत दूर होनो चाहिए । विस्तीर्ण, प्रासुक तथा अतिदृढ़ होनी चाहिए । चीटियों तथा छिद्रोंसे रहित समभूमिमें होनी चाहिए । गीली नहीं होनी चाहिए, जंतुरहित होना चाहिए ।

निषीधिका बस्तीसे पश्चिम-दक्षिण दिशामें हो तो उत्तम होती है । पश्चिम-दक्षिण दिशामें हो तो सर्व संघको समाधिलाभ होता होता है, दक्षिण दिशामें हो तो संघको आहार सुलभ होता है । पश्चिम दिशामें हो तो संघका विहार सुखपूर्वक होता है । उपकरणोंका लाभ होता है । यदि इन दिशाओंमें निषीधिका न मिले तो पूर्व दक्षिण

---

१. भगवती आराधना, (द्वितीय भाग), गाथा २१३५ पृ. ९०१ ।
२. षट्खण्डागम ४ पयडि सूत्र ७८ ।
३. विजयोदया (भगवती-आराधना, भाग १) पृ. १८२ ।
४. पउमचरिउ, प्रथम भाग, संधि १, २ ।
५. भगवती आराधना, गाथा १९६०-१९९४ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिशामें, पश्चिम-उत्तरमें, पूर्वमें या पूर्वोत्तरमें होना चाहिए। किंतु पूर्व-दक्षिणमें स्पर्द्धा, पश्चिमोत्तर दिशामें कलह, पूर्व दिशामें भेद, उत्तरमें व्याधि तथा पूर्वोत्तर दिशामें परस्पर खींचातानी होती है।

क्षपक जिस समय मरणको प्राप्त हो, शवको उसी समय वहाँसे हटा देना चाहिए। यदि असमयमें मरा हो तो जागरण, बंधन या छेदन करना चाहिए।

बाल, वृद्ध, शैक्ष्य, तपस्वी, भीरु, रोगी मुनि तथा दुःखित हृदय आचार्योंको छोड़कर निद्राको जीतने वाले मुनि जागरण करते हैं। जो मुनि गृहोतार्थ होते हैं, जिन्होंने अनेक बार क्षपकका कर्म किया है, महाबलशाली, महापराक्रमी, महासत्त्व-शाली मुनि मृतकके हाथ या पैरके अँगूठेको बाँधते या छेदते हैं। यदि यह विधि न की जाय तो कोई विनोदी देवता मृतकको उठाकर दौड़ सकता है, क्रीडा कर सकता है, बाधा पहुँचा सकता है। उसे देखकर बालक आदिका चित्त क्षुब्ध हो सकता है, वे डरकर भाग सकते हैं और उनका मरण हो सकता है।

यदि भक्तपरिज्ञा मरण करनेवाली विख्यात आर्यिका, श्राविका या स्थानरक्षिका हो तो उसके लिए शिविका बनानी चाहिए। शिविका बनानेके पश्चात् उसके शवको संस्तर-सहित शिविकामें रखकर बाँध देना चाहिए, जिससे वह उठ न सके, उसका सिर गाँव-की ओर होना चाहिए। उस शिविकाको लेकर पहले देखे हुए मार्गसे शीघ्र जाते हैं, न तो मार्गमें रुकते हैं और न पीछे देखते हैं। उसके आगे एक व्यक्तिको सीधे बिना रुके, बिना पीछे देखे कुश मुट्ठीमें लेकर चलना चाहिए। पूर्व निरूपित स्थानमें लगातार मुट्ठीसे एक समान कुश डालते हुए एक संस्तर बनाना चाहिए, जो सर्वत्र सम हो। जहाँ कुश न हों, वहां चूर्ण अथवा केशरसे सर्वत्र समान रेखा खींचना चाहिए।

यदि संस्तर, ऊपर विषम हो, तो आचार्यका मरण या व्याधि, मध्यमें विषम हो, तो श्रेष्ठमुनि (वृषभ) का मरण, व्याधि तथा नीचे विषम हो, तो अन्य मुनियोंका मरण या व्याधि होती है। जिस दिशामें ग्राम हो, उस ओर शिर करके उपधिसहित (पीछी आदि) उस शवको रख देना चाहिए। शवके उठनेके भयसे उसका सिर गांवकी ओर किया जाता है। सम्यक्त्वकी विराधना करके जो मरकर देव होता है, वह भी पीछीके साथ अपना शरीर देखकर ही जान लेता है कि मैं पूर्वभवमें संयमी थी। जघन्य नक्षत्रमें यदि क्षपकका मरण होता है, तो सबका कल्याण होता है, मध्यम नक्षत्रमें मरण होता है, तो शेष साधुओंमेंसे एकका मरण होता है। यदि उत्कृष्ट नक्षत्रमें मरण होता है, तो दोका मरण होता है। शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, स्वाति, आश्लेषा, ज्येष्ठा ये जघन्य नक्षत्र हैं। रोहिणी, विशाखा, पुनर्वसु, उत्तरा-फाल्गुनी, उत्तरा-भाद्रपद, उत्तराषाढ़ा ये उत्कृष्ट नक्षत्र हैं। शेष नक्षत्र मध्यम हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पं. आशाधरजीके अनुसार अल्पनक्षत्र उन्हें कहते हैं जो पन्द्रह मुहूर्त तक रहते हैं, तीस मुहूर्त तक रहने वाले मध्यम तथा पैंतालीस मुहूर्त तक रहने वाले नक्षत्र उत्कृष्ट नक्षत्र हैं।

इसलिए संघकी रक्षाके अभिप्रायसे तृणोंका पुतला बनाकर रखें। यदि मध्यम नक्षत्रमें मरण हुआ हो, तो उसके साथ एक पुतला रखें। यदि उत्तम नक्षत्रमें मरण हुआ हो तो उसके साथ दो पुतले रखें। मृतकके पास उस पुतलेको रखकर तीन वार उच्च स्वरसे घोषणा करे कि मैंने उस दूसरेके स्थानमें यह दूसरा स्थापित किया है, जिसके स्थानमें यह पुतला स्थापित किया है, वह चिरकाल तक जीवित रहकर तपस्या करे। यह पुतला देनेका विधान है। दो पुतले स्थापित करने पर तीन वार घोषणा करे कि मैंने दूसरा और तीसरा पुतला स्थापित किया है, ये दोनों जिसके वदलेमें स्थापित किये हैं, वे दोनों साधु चिरकाल तक जीवित रहकर तप करें। यदि पुतला बनानेके लिए तिनके न हों, तो ईंट पत्थर आदिके चूर्णसे अथवा केशर क्षार वगैरहसे ऊपर ककार लिखकर उसके नीचे तकार लिखें। इस प्रकार 'क्त' अक्षर लिखें।

मृतककी शय्याके निर्माणके लिए गृहस्थोंसे जो उपकरण, वस्त्र, पात्र आदि लिया गया हो, उसमें जो लौटा देने योग्य हों, उन्हें पाडिहारिक कहते हैं। उस पाडिकारिकको गृहस्थोंको सम्यक् रीतिसे समझा-बुझाकर लौटा दें।

आराधना की प्राप्ति की भावनासे संघ एक कायोत्सर्गको तथा क्षपककी वसतिकाकी जो अधिष्ठात्री देवता हो उसके प्रति इच्छाकार करे कि आपकी इच्छासे संघ इस स्थान पर बैठना चाहता है। अपने संघके साधुका स्वर्गवास होने पर उस दिन उपवास करना चाहिए तथा स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। उपवास कर सकते हैं नहीं भी। कुछके अनुसार दूसरे संघके साधुका मरण होने पर स्वाध्याय करना चाहिए। उपवास कर भी सकते हैं और नहीं भी।

क्षपकका शरीर स्थापित करके तीसरे दिन जाकर देखते हैं कि संघका विहार सुखपूर्वक होगा या नहीं। मृतककी गति अच्छी हुई हुई है या बुरी। जितने दिन तक वह शव गीदड़ आदिसे सुरक्षित रहता है, उतने वर्षों तक उस राज्यमें सुभिक्ष एवं शांति रहती है। पक्षी तथा पशुओं द्वारा वह शरीर जिस दिशामें ले जाया गया हो, क्षेम-सुभिक्ष जानकर उसी दिशामें संघको बिहार करना चाहिए। यदि उसका सिर और दांत पर्वतके शिखके ऊपर दिखाई दे तो वह मुक्तिको प्राप्त हुआ है। यदि मृतकका मस्तक उन्नत भूमिभागमें दिखाई दे, तो वह मरकर वैमानिक देव हुआ जानना। यदि सम भूमिभाग में दिखाई दे, तो ज्योतिष्क देव या व्यन्तरदेव हुआ समझना चाहिए। यदि गड्ढेमें दिखाई दे, तो वह भवनवासी देव हुआ, समझना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मृतक संस्कारकी यह विधि लक्षण है। प्राचीन श्वेताम्बर ग्रन्थमें प्राप्त मृतक संस्कारविधिसे मिलती है। वहां भी साधुके शवको दहन अथवा दफन किये बिना छोड़ देनेका उल्लेख है। दिगम्बर परम्पराके लिए यह अश्रुतपूर्व है। पुतले बनाने की यह विधि जैनधर्मकी प्रकृतिसे सर्वथा विरुद्ध है और एक प्रकार का मिथ्यात्व भी है। हमें आश्चर्य भी है कि अहिंसा धर्मके अनुयायी और खासकर साधुके द्वारा इसका विधान कैसे किया गया ?

यहाँ हमने यापनीयोंकी उन विचारधाराओं तथा मान्यताओंका उल्लेख किया है, जिनमें वे दिगम्बर तथा श्वेताम्बर किसी एक परम्परासे मतभेद रखते हैं तथा किसी एक परम्पराके अनुकूल विचार रखते हैं और दोनों विचारधाराओंके अतिरिक्त विशिष्ट विचारधारा रखते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंचम परिच्छेद

यापनीयोंकी आचार संहिता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यापनीयोंकी आचार-संहिता

यापनीय सम्मत श्रावक व मुनि आचार-संहिताका वर्णन इस अध्यायका प्रतिपाद्य विषय है।

श्रावक-आचार-संहिता

मुनिधर्म ग्रहण करनेमें असमर्थ व्यक्तियोंके लिए श्रावकाचारका निरूपण किया जाता है।

यापनीयोंका श्रावकाचार विषयक साहित्य संक्षिप्त सूत्ररूपमें ही उपलब्ध हुआ है। भगवती आराधना, तत्त्वार्थसूत्र, पद्मचरित, हरिवंशपुराण, पउमचरिउ इत्यादिमें श्रावकाचारका निरूपण हुआ है।

बारहव्रत—भगवती आराधनामें गृहवासको सदोष माना गया है।[1] टीकाकार अपराजितसूरिने गृहवासके दोषोंकी विस्तारसे चर्चा की है।[2] यहाँ देशविरत सम्यग्दृष्टिके मरणको बालपण्डितमरण बतलाते हुए श्रावकाचारका प्रतिपादन किया गया है।

पंच य अणुव्वदाइं सत्त य सिक्खाउ देसजदिधम्मो।
सव्वेण य देसेण य तेण जुदो होदि देसजदो॥
पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहिं।
अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विरमणाइं॥
जं च दिसावेरमणं अणत्थदंडेहिं जं च वेरमणं।
देसावगासियं पि य गुणव्वाइं भवे ताइं॥
भोगाणं परिसंखा सामाइयमतिहिसंविभागो य।
पोसहविधि य सव्वो चदुरो सिक्खाउ वुत्ताओ॥
आसुक्कारे मरणे अव्वोच्छिण्णाए जीविदासाए।
णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसल्लेहणमकासी॥
आलोचिदणिस्सल्ली सघरे चेवारुहित्तू संथारे।
जदि मरदि देसविरदो तं वुत्तं बालपंडिदयं॥[3]

पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत यह देशयतिका धर्म है। प्राणिवध, मृषावाद, अदत्तादान, परदारगमन तथा अपरिमित इच्छाओंसे विरमण अणुव्रत हैं। दिग्विरमण, अनर्थदंडविरमण व देशावकाशिक गुणव्रत हैं। भोगोंका परिसंख्यान; सामायिक, अतिथि-

---

१. भगवती आराधना, (भाग २), गा० १३१९।
२. विजयोदया (भगवती आराधना), पृ० ६४९।
३. भगवती आराधना गाथा २०७३-७८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संविभाग तथा प्रौषधविधि ये चार शिक्षाव्रत हैं। इनका पालन करते हुए श्रावक जीवन-यापन करे। मरण अवश्यंभावी होनेपर जीविताशा नष्ट हो जानेपर अन्तिम समयमें सल्लेखना करे। परिवारके लोगों द्वारा अनुमति न मिलने पर घरपर ही आलोचना करके निःशल्य होकर संस्तरपर आरूढ़ होकर समाधिमरण करे। देशविरतिके इस मरणको बालपंडितमरण कहते हैं।

सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्रमें ही अणुव्रतोंके अतिचारोंकी चर्चा मिलती है।[1] हरिवंशपुराणमें भी इन बारह व्रतोंकी अतिचारसहित चर्चा है।[2]

दिगम्बर, श्वेताम्बर व यापनीय तीनों ही परम्पराओंमें श्रावकके बारह व्रतोंकी मान्यता है। दिगम्बर परम्परामें गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंमें व्यतिक्रम पाया जाता है। यहाँ कहीं कोई शिक्षाव्रत गुणव्रतमें व कहीं कोई गुणव्रत शिक्षाव्रतमें सम्मिलित कर लिया गया है। कहीं सल्लेखनाको बारहव्रतोंमें सम्मिलित कर लिया गया है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार, सागारधर्मामृत, धर्मसंग्रहश्रावकाचार व प्रवचनसारोद्धार आदिमें दिग्व्रत, अनर्थदण्ड, उपभोगपरिभोगपरिमाणको गुणव्रत तथा देशावकाशिक सामायिक व प्रौषधोपवास तथा अतिथिसंविभागको शिक्षाव्रत माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्दके चारित्तपाहुड, वसुनन्दि-श्रावकाचार, व्रतोद्योतन-श्रावकाचार, भव्यधर्मोपदेश रत्नमाला आदिमें सल्लेखनाको शिक्षाव्रतमें सम्मिलित किया गया है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय, पूज्यपादश्रावकाचार, लाटीसंहिता, यशस्तिलकचम्पू आदिमें दिग्विरति, देशविरति तथा अनर्थदण्डविरतिको गुणव्रत तथा सामायिक, प्रौषध, भोगोपभोग तथा अतिथिसंविभागको शिक्षाव्रत माना है।

श्वेताम्बर परम्परामें सर्वत्र सल्लेखनाको पृथक् रखा गया है। उपासकदशांगसूत्रमें पाँच अणुव्रत, उनके पाँच अतिचार, दिग्व्रत, उपभोगपरिभोगपरिमाण तथा अनर्थदण्डविरमण गुणव्रत व इनके पाँच-पाँच अतिचार तथा सामायिक, देशावकाशिक, प्रौषधोपवासतथा यथासंविभाग चार शिक्षाव्रत और इनके पाँच-पाँच अतिचारोंका वर्णन है। इन बारह व्रतोंके अनन्तर अन्तिम समयमें सल्लेखनाका विधान है।

यापनीय परम्परामें भी भगवती आराधना व तत्त्वार्थसूत्रमें दिग्व्रत, देशावकाशिक व अनर्थदण्डविरमण गुणव्रत तथा सामायिक, प्रौषध, अतिथिसंविभाग तथा भोगोपभोगपरिमाणको शिक्षाव्रत कहा गया है। सल्लेखनाका पृथक् उल्लेख है। किन्तु पद्मचरित और तदनुसारी पउमचरिउमें दिशाप्रत्याख्यान, भोगोपभोगपरिमाण तथा अनर्थदण्डविरमणको गुणव्रत तथा सामयिक, प्रौषध, अतिथिसंविभाग तथा अन्तिम

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७।
२. हरिवंशपुराण सर्ग ५८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समयमें सल्लेखनाको शिक्षाव्रत कहा गया है। पउमचरिउमें अनर्थदण्डविरमणके स्थानपर जो खलसंग्रहत्याग[1] है, वह नवीन व अपूर्व है। सम्भवतः लिपिकारका प्रमाद हो।

मूलगुण

दिगम्बर परम्परामें गृहस्थोंके आठ मूलगुण माने गये हैं। मद्य, मांस व मधुके साथ पंच उदुम्बर त्यागको मूलगुण माननेको एक परम्परा है।[2] आचार्य समन्तभद्रने तीन मकार और पाँच अणुव्रतोंको अष्टमूलगुण कहा है, यह दूसरी परम्परा है।[3]

आचार्य जिनसेनने मद्य, मांस, मधुके साथ पंच उदुम्बर त्याग और हिंसासे विरतिको सार्वकालिक व्रत कहा है।[4] निम्नलिखित श्लोक जो जिनसेनकृत महापुराण-का माना जाता है, उसमें नहीं मिलता—

हिंसाऽसत्यस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद् विरतिर्गृहिणोऽष्टमूलगुणाः॥

पं० मेधावी-विरचित धर्मसंग्रह-श्रावकाचार (३/१५५) में आप्तपंचनुति, जीव-दया, सलिलगालन, मद्यादित्रय, निशाहार व पंचोदुम्बरवर्जन ये आठ मूलगुण माने गये हैं। यह सर्वथा नवीन प्रतिपादन है।

सागारधर्मामृतमें पूर्वोक्त दोनों परम्पराओंका संग्रह है।

मद्यमांसमधून्युज्झेत् पञ्च क्षीरिफलानि च।
अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादि वा॥
फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थाने इहैव वा। (२/२-३)

परन्तु यापनीय अणुव्रतोंको ही मूलगुण मानते हैं। अपराजितसूरि विजयोदया-टीकामें कहते हैं–'संयतासंयतानामणुव्रतानि मूलगुणव्यपदेशभाञ्जिभवन्ति'—उत्तरगुणोंका कारण होनेसे इन्हें मूलगुण कहा जाता है—उत्तरगुणानां कारणत्वान्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेषु वर्तते'।[5] तत्त्वार्थसूत्रसे भी यही प्रतीत होता है कि पाँच अणुव्रत श्रावकके मूलगुण हैं,

---

१ पउमचरिउ, ३४वीं सन्धि।

२. उदा० पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (६१), यशस्तिलकचम्पू (६/२५५), सावयधम्मदोहा (२२,२६), प्रश्नोत्तरश्रावकाचार (१२/६), धर्मोपदेशपीयूषवर्षश्रावकाचार(३/७), लाटीसंहिता (१/६-७), पूज्यपाद श्रावकाचार (१४), व्रतसार-श्रावकाचार (५), श्रावकाचारसारोद्धार (३१६), पंचविंशतिकागतश्रावकाचार (२३) आदि, ये सभी श्रावकाचारसंग्रह भाग १, २, ३ में संग्रहीत हैं।

३. रत्नकरण्डश्रावकाचार ३/६६।

४. महापुराण ३८/१२२।

५. विजयोदया (भगवती-आराधना भाग–१), पृ० १५८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनके लिए प्रथम सूत्रमें उन्होंने 'अणुव्रतोऽगारी' (७/१९) कहा है और दूसरे सूत्रमें उसे सात शीलव्रतोंसे सम्पन्न माना है। ये उत्तरव्रत हैं।

अष्टमूलगुणकी परम्परा बादमें विकसित हुई प्रतीत होती है। आचार्य कुन्दकुन्द और स्वामी कार्तिकेयने भी मूलगुणोंका कोई विधान नहीं किया है। तत्त्वार्थसूत्र और श्वेताम्बर आगम उपासकदशांगसूत्रमें भी मूलगुणोंका निर्देश नहीं है। सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्रने अष्टमूलगुणोंकी चर्चा की है। तीन मकार और पंच क्षीरिफल अभक्ष्योंमें परिगणित होते हैं। कालान्तरमें तो अभक्ष्य पदार्थोंकी एक लम्बी सूची ही दी गई है। अतः पाँच अणुव्रतोंको ही मूलगुण कहना ही उचित प्रतीत होता है।

रात्रिभोजनविरमणव्रत—यापनीय साहित्यमें प्रायः सर्वत्र महाव्रतोंके सन्दर्भमें रात्रिभोजनविरमणव्रतकी छठे व्रतके रूपमें चर्चा है। कवि स्वयंभूने गृहस्थोंके सन्दर्भमें भी अनस्तमितव्रतकी चर्चा की है। अनस्तमित अर्थात् रात्रिभोजनत्याग नामक व्रतके पालनसे विमल शरीर और विमल गोत्र प्राप्तिका उल्लेख किया है।[1]

मौनका महत्त्व—महाकवि स्वयंभूने भोजन करते समय मौनका पालन करने वालेको शिव व शाश्वत मोक्षका अधिकारी कहा है—

भोअणें मउणु चउत्थउ पालइ।
सो सिव-सासय गमणु णिहालइ॥ ३४/८।९

बृहत्कथाकोशमें भी मौनव्रतधारी अणुव्रतधारीको मोक्षका अधिकारी बताया गया है—

अणुव्रतधरः कश्चित् गुणशिक्षाव्रतसमन्वितः।
सिद्धिभक्तो व्रजेत् सिद्धिं मौनव्रतसमन्वितः॥

हरिवंशपुराणमें भी 'मौनस्तु साक्षान्मोक्षस्य कल्पते' (१८/५१) कहा गया है।

गृहस्थ-मुक्तिके संकेत

दंसणपाहुडकी टीकामें श्रुतसागरसूरिने यापनीयोंको सग्रन्थोंकी मुक्ति मानने वाला कहा है। श्वेताम्बर परम्परामें भी पन्द्रह प्रकारके सिद्ध माने गये हैं, उनमें गृहीलिंगसिद्ध भी हैं।—'तित्थसिद्धा, अतित्थसिद्धा, सयंबुद्धसिद्धा, पत्तेयबुद्धसिद्धा, बुद्धबोहियसिद्धा, थीलिंगसिद्धा, पुरिसलिंगसिद्धा, नपुंसकलिंगसिद्धा, सलिंगसिद्धा, अण्णलिंगसिद्धा, गिहिलिंगसिद्धा, एगसिद्धा, अणेगसिद्धा इति।'[2] फिर भी उपासकदशांगसूत्रमें दस श्रावकोंकी कथाएँ हैं, जो पूर्णतः श्रावकधर्मका पालन करते हैं।

---

१. पउमचारिउ ३४/८/९।
२. ललितविस्तरा, पृ. ३९७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्यारह प्रतिमाएं धारण करते हैं। अन्तमें सल्लेखना धारण करते हैं, तथापि उनके मुक्त होनेका उल्लेख नहीं है।

भगवती आराधना और उसकी विजयोदया टीकामें भी ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, जिससे यह कहा जा सके कि ये गृहस्थोंकी मुक्ति स्वीकार करते थे। वे तो आचरणकी शुद्धताके समर्थक हैं। अचेलताके प्रति उनका आग्रह है। वस्त्र-ग्रहण विशिष्ट परिस्थितियोंमें ही स्वीकृत है। इस सबसे हमें यही प्रतीत होता है कि ये अन्तिम समयमें सल्लेखना धारण करने वालेको ही मुक्ति स्वीकार करते होंगे, क्योंकि पउमचरिउमें यही कहा गया है।—

जो चउत्थउ सिक्खावउ धरइ सण्णासु करेप्पिणु पुणु मरइ।
सो होइ तिलोयहों वड्ढूयउ णउ जम्म-मरण विओअ-भउ ॥[1]

अर्थात् जो चौथा शिक्षाव्रत धारण करता है, अर्थात् संन्यास धारण करता है, उसे जन्म-मरणका भय नहीं रहता। इस सन्धिमें कुलभूषण मुनि रामको उपदेश देते हुए श्रावकाचारका कथन करते हैं। यहीं आरंभमें वे कहते हैं कि मधु, मद्य और मांसका जो त्याग करता है, छह निकायके जीवोंपर दया करता है और अन्तमें सल्लेखनापूर्वक मरण करता है, वह मोक्षरूपी महासागरमें प्रवेश करता है।[2]

वस्तुतः समाधिमरणके समय श्रावक भी आलोचना करके निःशल्य होकर आहारादिका त्याग कर देता है। भगवती आराधनामें स्पष्ट रूपसे कहा है कि श्रावक भी अन्तिम समयमें निर्यापकाचार्योंके समीप भक्त-प्रत्याख्यान-मरण कर सकता है और उस समय उसे उत्सर्गलिंग धारण कर लेना चाहिए। स्वयंभूने इसे ही संन्यास धारण करना कहा है। भगवती आराधनामें भक्तप्रत्याख्यानमरणसे मुक्ति प्राप्त होनेका भी कथन है। और जब श्रावक इस मरणका अधिकारी है, तब इस मरणसे मुक्तिका भी अधिकारी हो सकता है।

अपराजितसूरि निर्ग्रन्थताको प्रकृष्ट मोक्षमार्ग कहते हैं—'नैर्ग्रन्थ्यताको प्रकृष्ट मोक्षमार्ग कहते हैं—'नैर्ग्रन्थ्यमेव मोक्षमार्गप्रकृष्टम्'।' मोक्षका प्रकृष्ट मार्ग नैर्ग्रन्थ है, तो क्या कोई अप्रकृष्ट (सामान्य या अपवाद) मार्ग भी है?

इसके अतिरिक्त पउमचरिउ और बृहत्कथाकोशमें मौनव्रती अणुव्रतधारीको मोक्षका अधिकारी माना है। इनके श्रावकाचारकी एक विशेष बात यह है कि इन्होंने मौनव्रतको बहुत महत्त्व दिया है।

१. स्वयंभूकृत पउमचरिउ ३४/७/१०-११।
२. पउमचरिउ ३४/४/१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुनि-आचार-संहिता

मूलाचार, भगवती-आराधना तथा उसकी विजयोदया टीकासे यापनीय सम्मत मुनियोंके आचारका ज्ञान होता है। मूलाचार मुनि-आचारका प्रतिपादक ग्रन्थ है। भगवती आराधनामें समाधिमरणके प्रसंगमें मुनि आचारका वर्णन है। इन ग्रन्थोंसे ज्ञात होता है कि यापनीय मुनियोंकी आचार-संहिता दिगम्बर मुनियोंके प्रायः तुल्य थी।

मूलगुण—मूलगुणव्यपदेशो व्रतेषु वर्तते[1]—व्रतोंको मूलगुण कहते हैं, अतः पंच महाव्रत मुनियोंके मूलगुण हैं। मूलाचारमें अट्ठाइस मूलगुणोंका कथन है, वे इस प्रकार हैं—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियनिरोध, षट् आवश्यक, लोंच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त।[2]

भगवती आराधना और उसकी टीकामें अट्ठाइस मूलगुणोंका उल्लेख नहीं है। यद्यपि स्थितिभोजन और एकभक्तको छोड़कर विवेचनमें प्रायः सभी आ गये हैं।

महाव्रत—महाव्रतका अर्थ करते हुए भगवती आराधनामें कहा गया है कि जो महान प्रयोजनको सिद्ध करते हैं अथवा महान व्यक्तियों द्वारा जिनका आचरण होता है अथवा जो स्वयं महान हैं वे महाव्रत हैं।[3] मुनि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पाँच व्रतोंका मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदन इन नौ प्रकारसे पालन करते हैं। इसके विषयमें विजयोदयामें—'सर्वजीवविषयमहिंसाव्रतम-दत्तपरिग्रहत्यागौ सर्वद्रव्यविषयौ द्रव्यैकदेशविषयाणि शेषव्रतानि' अर्थात् समस्त जीवोंके विषयमें अहिंसाव्रत, समस्त द्रव्योंके प्रति अचौर्य व अपरिग्रहव्रत व सत्य और ब्रह्मचर्य द्रव्यके एकदेशके विषयमें होते हैं—कह कर आवश्यकनियुक्तिकी गाथा (७९१) उद्धृत की है—

> पढमम्मि सव्वजीवा तदिये चरिमे सव्वदव्वाइं।
> सेसा महव्वया खलु तदेकदेसम्मि दव्वाणं॥[4]

---

१. (भगवती-आराधना, भाग १), विजयोदया, पृ० १५८।

२. मूलाचार १/२-३।

३. भगवती आराधना गाथा ११७८।
साधेंति जं महत्थं आयरिदाइं च जं महल्लेहिं।
जं च महल्लाइं सयं महव्वदाइं हवे ताइं॥

४. (भगवती आराधना, भाग १) पृ० १५८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्रतोंकी भावनाएँ[1]

अहिंसाव्रतकी भावनाएँ—एषणासमिति, आदान-निक्षेपणसमिति, ईर्यासमिति, मनोगुप्ति तथा आलोकितभोजनपान।

सत्यव्रतकी भावनाएँ—क्रोध, भय, लोभ तथा हास्यका प्रत्याख्यान व अनुवीचिभाषण।

अस्तेयव्रतकी भावनाएँ—याञ्चाप्रतिसेवी (प्रार्थनासे प्राप्त वस्तुका सेवन), समनुज्ञापनाप्रतिसेवी (अनुमतिसे प्राप्त वस्तुका सेवन), अनन्यभावप्रतिसेवी (अनात्मबुद्धिसे सेवन), त्यक्तप्रतिसेवी (आचार्य द्वारा त्यक्त वस्तुका सेवन) तथा सधर्मोपकरणका अनुवीचिसेवन। ये भावनाएँ मूलाचारके अनुसार हैं।[2]

भगवती-आराधनामें अननुज्ञातग्रहण (समनुज्ञापनाप्रतिसेवी), असंगबुद्धि (अनन्यभावप्रतिसेवी), प्रयोजनमात्रयाचना (याञ्चाप्रतिसेवी), अननुज्ञातगृहप्रवेशवर्जन तथा सूत्रानुसार याचना (अनुवीचिसेवन) कही गई हैं।[3]

ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएं—महिलालोकन, पूर्वरतस्मरण, संसक्तवसतिका त्याग, विकथा तथा प्रणीतरसोंका त्याग ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएँ हैं।

अपरिग्रह व्रतकी भावनाएं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंधमें रागद्वेषका परिहार।

तत्त्वार्थसूत्रके श्वे० पाठमें इन भावनाओंका उल्लेख नहीं है। भाष्यमें इनका उल्लेख हैं। भाष्यमें उल्लिखित अचौर्यव्रतकी भावनाएँ मूलाचार तथा भगवती आराधनासे मिलती जुलती हैं जबकि तत्त्वार्थसूत्रके दिगम्बर पाठकी अचौर्यव्रतकी भावनाएँ मूलाचार और भगवतो आराधनासे नितान्त भिन्न हैं। वे इस प्रकार हैं—शून्यागारावास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, भैक्ष्यशुद्धि और सधर्माविसंवाद।[4] इसके अतिरिक्त अहिंसाव्रतकी एषणासमितिके स्थानपर वाक्गुप्ति तथा ब्रह्मचर्यव्रतकी संसक्तवसतिकात्यागभावनाके स्थानपर स्वशरीरसंस्कारत्याग है। इस प्रकार व्रतोंकी भावनाओंमें दिगम्बर परम्परासे कुछ भिन्नता है।

---

१. भगवती आराधना गाथा १२००-५ और उसकी टोका तथा मूलाचार ५/१४०-४

२. मूलाचार ५/१४२।

३. भगवती-आराधना १२०२-३।

४. तत्त्वार्थभाष्य ७।३।

'अस्तेयानुवीच्यवग्रहयाचनमभीक्ष्णावग्रहयाचनमेतावदित्यवग्रहावधारणं समानधार्मिकेभ्योऽवग्रहयाचनमनुज्ञापितपानभोजनमिति।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रात्रिभोजनविरमण

मूलाचार और भगवती आराधनाके अनुसार व्रतोंके रक्षणार्थं ही रात्रिभोजन-निवृत्ति कही गयी है।[१] अपराजितसूरिका कथन है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंङ्करके तीर्थंमें रात्रिभोजनविरमणको छठा व्रत कहा गया है।[२] यह उन पाँच महाव्रतोंके पालनार्थं ही है—'तेषामेव पंचानां व्रतानां पालनार्थं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठं व्रतम्।' इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि यदि मुनि रात्रिमें भिक्षाके लिए भ्रमण करता है तो त्रस और स्थावर जीवोंका घात करता है, क्योंकि रात्रिमें उनको देख सकना कठिन है। दायकके आनेका मार्ग, उसके अन्न रखनेका स्थान, अपने उच्छिष्ट गिरनेका स्थान, दिया जाने वाला आहार नहीं देखा जा सकता। दिनमें भी जिनका परिहार कठिन है उन रसज अतिसूक्ष्म जीवोंका परिहार रात्रिमें तो संभव ही नहीं है। इन सबकी सम्यक् रूपसे परीक्षा किये बिना पदविभागी सामाचार, एषणासमिति तथा सत्यव्रत स्थिर नहीं रह सकता। रात्रिमें गृहस्वामी सोया हुआ हो और किसी अन्यके हाथसे आहार लेने पर अदत्तादान होगा। रात्रिमें लाकर रखने और दिनमें भोजन करनेसे अपरिग्रहव्रतका लोप होगा। इस प्रकार रात्रिभोजनत्यागसे ही समस्त व्रत सम्पूर्ण रहते हैं।

दुर्भिक्षके समय उत्तर भारतमें श्रमण रात्रिमें भोजन लेने अथवा लाकर रखने लगे होंगे, जैसा कि बृहत्कथाकोशकी भद्रबाहुकथासे संकेत मिलता है। तभी उसके परिहारके लिए रात्रिभोजनत्यागको छठे व्रतके रूपमें परिगणित किया गया होगा।

आरंभमें दिगम्बर परम्परामें इसे पृथक् व्रतके रूपमें मान्यता नहीं मिली। तत्त्वार्थसूत्रकी दिगम्बर टीकाओं सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकमें ७/१ सूत्रकी व्याख्याके अवसरपर यह शंका उठाई गई है कि रात्रिभोजनत्याग छठा अणुव्रत है, उसकी यहाँ गणना करनी चाहिए, फिर यह अहिंसाव्रतकी आलोकित-भोजन-पान-भावनामें अन्तर्भूत होता है, कहकर उसका समाधान किया गया है। परन्तु काष्ठा-संघमें यह पृथक् अणुव्रतके रूपमें मान्य हुआ है। सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिकमें रात्रि-भोजनविरमण छठा अणुव्रत माना जाना चाहिए, यह शंका उठाई गई है, जबकि श्लोकवार्तिकमें इसे व्रत मात्र कहकर शंका उठाई गई है।

काष्ठासंघी पं० आशाधरजीने इसे अणुव्रत कहा है, यद्यपि सर्वत्र रात्रिभोजन-विरमणकी चर्चा मुनियोंके आचारके प्रसंग में है, अतः इसे अणुव्रत क्यों कहा! इसका

---

१. मूलाचार ५/९८, भगवती आराधना ११७९, विजयोदया, पृ० ३३१।
२. विजयोदया, पृ० ३३०—'आद्यपाश्चात्यतीर्थंयो रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि पंच महाव्रतानि।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तर देते हुए उनका कथन है कि केवल रात्रिमें भोजनका त्याग होनेसे दिनमें ग्रहण किये जानेके कारण कालकी दृष्टिसे इसे अणुव्रत कहा जाता है।[1]

यह पं० आशाधरजीकी अपनी व्याख्या है, क्योंकि यापनीयोंने इसे व्रत ही कहा है अणुव्रत नहीं। परन्तु रात्रिभोजनत्यागको पृथक् व्रतके रूपमें मान्यता देना यापनीयोंका ही प्रभाव है। हम पहले कह चुके हैं कि यापनीय संघकी शाखाएँ काष्ठासंघमें अन्तर्भुक्त हुई हैं, अतः उन्होंने अपनी मान्यताओंसे इन्हें प्रभावित किया है।

अष्टप्रवचनमातृका—पाँच समिति तथा तीन गुप्तियाँ भी व्रतोंकी रक्षक हैं। इन्हें अष्टप्रवचनमातृका कहते हैं।

समिति—अपराजितसूरि कहते हैं कि प्राणियोंको पीड़ा न हो, इस भावसे सम्यक् प्रवृत्ति करना समिति है। सम्यक् विशेषणके द्वारा जीवोंके स्वरूपका ज्ञान और श्रद्धानपूर्वक प्रवृत्ति कही गई है।[2]

ईर्यासमिति—मूलाचार और भगवती आराधनामें कहा गया है कि मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि और आलम्बन शुद्धि इन चार शुद्धियोंके द्वारा सूत्रानुसार गमन करते हुए मुनिके ईर्यासमिति कही गई है।[3]

इन शुद्धियोंकी व्याख्या करते हुए अपराजितसूरि कहते हैं[4] कि मार्गमें चींटी आदि त्रसजीवोंकी अधिकताका न होना तथा बीज, अंकुर, तृण, हरे पत्ते और कीचड़ आदिका न होना मार्गशुद्धि है। जिस मार्गमें वाहन, पशु, स्त्री-पुरुषोंका आवागमन रहता है, वह मार्ग प्रासुक होता है। सूर्यके प्रकाशका स्पष्ट प्रसार और उसकी व्यापकता उद्योतशुद्धि है। चन्द्रमा, नक्षत्र आदिका प्रकाश अस्पष्ट होता है और दीपक आदिका प्रकाश व्यापक नहीं होता। चलनेमें जीवोंकी रक्षामें चित्तकी सावधानता उपयोगशुद्धि है। गुरु, चैत्य, तीर्थ और यतिकी वंदनाके लिए गमन करना, किसीके पास शास्त्रका अपूर्व अर्थ या अपूर्व शास्त्रके अर्थका ग्रहण करनेके लिए गमन करना, मुनियोंके योग्य क्षेत्रकी खोजके लिए गमन करना, वैयावृत्य करनेके उद्देश्यसे गमन करना, अनियत आवासके उद्देश्यसे गमन करना, स्वास्थ्यलाभके उद्देश्यसे गमन

---

१. मूलाराधनादर्पण, आश्वास ७, गाथा ११८५-६, पृ० ११८७ तथा अनगारधर्मामृत अध्याय ४/१५०।
२. (भगवती आराधना, भाग १) विजयोदया, पृ० १४८।
३. मूलाचार ५/१०५, भगवती आराधना, गाथा ११८५।
४. (भगवती आराधना, भाग २), विजयोदया, पृ० ५९९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना, श्रमपर विजय पानेके लिए गमन करना, भिन्न-भिन्न देशोंकी भाषा सीखनेके लिए गमन करना इत्यादि प्रयोजनोंको अपेक्षासे गमन करना आलम्बनशुद्धि है ।[1]

मूलाचारके अनुसार ईर्यापथके अनुसार जाने वाले मुनिको अप्रमत्त होकर सामने युग-प्रमाण भूमि देखते हुए चलना चाहिए ।[2]

सूत्रानुसार गमनका स्पष्टीकरण करते हुए अपराजितसूरि कहते हैं कि न बहुत जल्दी, न बहुत बिलम्बसे सामने युगप्रमाण भूमि देखकर चलना, पाद-निक्षेप अधिक दूर न करना, भय और आश्चर्यके बिना गमन करना, लीलापूर्वक गमन न करना, पैर अधिक ऊँचा उठाते हुए गमन न करना, लाँघना-दौड़ना नहीं, दोनों भुजाएँ लटकाकर गमन करना, हरे तृण-पत्तोंसे एक हाथ दूर रहते हुए गमन करना, विकाररहित चंचलतारहित, ऊपर व तिर्यक् अवलोकन रहित गमन करना, पशु, पक्षी, मृगोंको भयभीत न करते हुए गमन करना, विरुद्ध योनि वाले जीवोंके मध्यसे जाने पर उनको होने वाली बाधाको दूर करनेके लिए अपने शरीरकी बार-बार प्रतिलेखना करते हुए गमन करना, दुष्ट बैल आदिसे चतुरतापूर्वक बचते हुए गमन करना, भुस, तुष, मसी, तृणसमूह, गोबर, गीला जल, पाषाण और लकड़ीके तख्तेसे बचते हुए चलना, चोरी और कलहसे दूर रहना और पुल पर न चढ़ना आदि ईर्यासमिति है ।[3]

बिजयोदयामें ईर्यासमितिके अतिचारोंका वर्णन है—जो इस प्रकार हैं—मंदालोकगमन, पदविन्यासके क्षेत्रका सम्यगनालोचन, चित्तके उपयोगका अन्यत्र होना ये ईर्यासमितिके अतिचार हैं ।[4]

भाषासमिति

सूत्रानुसारी तथा असत्य, कठोरता, चुगली आदि दोषोंसे रहित अनवद्य सत्य और असत्यमृषा दो प्रकारके वचन बोलनेवालेके शुद्ध भाषा समिति होती है। जो न सत्य हो और न मृषा वह वचन असत्यमृषा है ।[5] विजयोदयामें वचनके चार प्रकार बताये गये हैं—सत्य, असत्य, सत्यसहित असत्य और असत्यमृषा । इनमें उक्त दो बोलने योग्य हैं।

---

१. (भगवती आराधना भाग २), विजयोदया, पृ० ५९९ ।
२. मूलाचार, ५/१०६ ।
३. (भगवती आराधना भाग २), विजयोदया, पृ० ५९९-६०० ।
४. (भगवती आराधना भाग १) विजयोदया, पृ० ३८ ।
५. भगवती आराधना गाथा, ११९८, मूलाचार ५।११० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्यवचनके दश भेद हैं—जनपदसत्य, सम्मतसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, संभावनासत्य, व्यवहारसत्य, भावसत्य और उपमासत्य ।[1]

सत्यसे विपरीत असत्य है । सत्यमृषा वह वचन है, जो सत्य और असत्य दोनों रूप होता है । ये असत्य और सत्यमृषा दोनों त्याज्य हैं ।

जो न एकांत सत्य होता है और न एकान्त असत्य होता है और न सत्यासत्य होता है वह वचन असत्यमृषा होता है । असत्यमृषाके नौ भेद हैं—आमन्त्रणी, आज्ञापनी, याचनी, संपृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, इच्छानुलोमा, संशयवचनी और अनक्षरात्मक ।[2]

विना विचारे बोलना, बिना ज्ञानके बीचमें बोलना तथा भाषासमितिके क्रमको जाने बिना बोलना भाषासमितिकके अतिचार कहे गये हैं ।[3]

एषणासमिति

उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित भोजन, उपकरण और वसतिको ग्रहण करने वाले मुनिकी एषणासमिति निर्मल होती है ।[4] विजयोदयामें एषणासमितिका विस्तृत वर्णन करते हुए कहा गया है कि भिक्षाकाल, बुभुक्षाकाल और अवग्रहकाल ये तीन काल हैं । गृहस्थोंके यहाँ भोजनका काल विचारकर भिक्षाके लिए निकलना भिक्षाकाल है । अपनी भूख और शरीरकी स्थितिका विचार करना बुभुक्षाकाल है । भिक्षाके लिए नियमका विचार करना अवग्रहकाल है । इन तीनों कालोंका विचारकर भिक्षाके लिए गमन करना चाहिए ।

गोचरीके लिए ईर्यासमितिपूर्वक गमन करना चाहिए । निन्दा और पूजामें समभाव रहें । जिस घरमें नाचना-गाना हो, झण्डियाँ लगी हों, उस घरमें न जावें । शराबी, वेश्या, लोकमें निन्दित कुल, यज्ञशाला, दानशाला, विवाहशाला, जिन घरोंमें जानेका निषेध हो, आगे रक्षक खड़ा हो और कोई न जा सकता हो, ऐसे घरोंमें जानेका निषेध है । दरिद्रकुलोंमें और आचाररहित सम्पन्न कुलोंमें भी प्रवेश न करें । बड़े, छोटे और मध्यम गृहोंमें एक साथ भ्रमण करें । द्वार पर यदि सांकल लगी हो या कपाट बन्द हो, तो उसे खोले नहीं । बालक, बछड़ा, मेंढ़ा और कुत्तेको लाँघकर न जाएँ । पुष्प, फल और बीज पड़े हों, उस परसे न जाएँ । तत्कालको लिपी-पुती भूमिपरसे

---

१. भगवती आराधना, गाथा ११८७; मूलाचार ५/१११-६ ।
२. भगवती आराधना, ११८९-९० मूलाचार; ५/११८-९ ।
३. (भगवती आराधना, भाग १) विजयोदया, पृ० ३८ ।
४. भगवती आराधना, ११८१ व मूलाचार, ५/१२१ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न जाएँ। जिस घरमें अन्य भिक्षार्थी भिक्षाके लिए खड़े हों, उस घरमें प्रवेश न करें। जिस घरके कुटुम्बी घबराए हों, उनके मुख पर दीनता और विषाद हो, वहाँ न ठहरें। भिक्षार्थियोंके लिए भिक्षा मांगनेकी जो भूमि हो, उस भूमिसे आगे न जाएँ। अपना आगमन बतलानेके लिए याचना या अव्यक्त शब्द न करें। बिजलीकी तरह अपना शरीरमात्र दिखला दें। कौन मुझे निर्दोष भिक्षा देगा, ऐसी चिन्ता न करें। एकान्त घरमें, उद्यानमें, केले, लता और झंडियोंसे बने घरमें, नाट्यशाला और गायन-शालामें आदरपूर्वक आतिथ्य पाने पर भी प्रवेश न करें। जहाँ बहुत मनुष्योंका आवागमन हो, जीवजन्तुसे रहित, अपवित्रतासे रहित तथा दूसरेके रोके-टोके जानेसे रहित तथा जो आवागमनका मार्ग न हो, वहाँ गृहस्थोंकी प्रार्थनासे ठहरें। सम और छिद्ररहित जमीन पर दोनों पैरोंके मध्य चार अंगुलका अन्तर रखकर निश्चल खड़े हों और दीवार आदिका सहारा न लें।

चोरकी तरह कपाटके छिद्र अथवा चारदिवारीके छिद्रमेंसे न देखें। दाताके आनेका मार्ग, उसके खड़े होनेका स्थान तथा भोजनोंकी शुद्धताका ध्यान रखें। स्तनपान कराती हुई स्त्री अथवा गर्भिणी द्वारा दिये गये आहारको ग्रहण न करें। रोगी, अतिवृद्ध, बालक, पागल, पिशाच, मूढ़, अन्धा, गूंगा, दुर्बल, भीरु, शंकालु, अति निकटवर्ती अथवा दूरवर्ती मनुष्यके द्वारा तथा घूंघट किये हुए स्त्रीसे आहार ग्रहण न करें। टूटे-फूटे पात्रसे दिया गया आहार ग्रहण न करें। मांस, मधु, मक्खन, बिना कटा फल, मूल, पत्र, अंकुरित तथा कंद ग्रहण न करें। इनसे जो छू गया हो, उसे भी ग्रहण न करें। जिस भोजनका रस, गन्ध बिगड़ गया हो, जो दुर्गंधित फफूंदयुक्त, पुराना तथा जीवजन्तुयुक्त हो उसे न तो किसीको देना चाहिए[1] और न स्वयं खाना चाहिए। जो भोजन उद्गम, उत्पादन तथा एषणा दोषसे दुष्ट है, उसे नहीं खाना चाहिए। इसप्रकार नौ कोटिसे शुद्ध आहार ग्रहण करना एषणा समिति है।

अतिचार—उद्गम आदि दोष होने पर भी भोजन ले लेना, वचनसे उसकी अनुमति देना, कायसे उसकी प्रशंसा करना, ऐसे मुनियोंके साथ रहना या उनके साथ क्रियाओंमें प्रवृत्ति करना एषणासमितिके अतिचार हैं।[2] इस प्रकार विजयोदयामें एषणा-समितिका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।

---

१. यापनीय साधु अपवादरूपसे पात्र रखते थे। साथ ही रुग्ण साधुको आहार लाकर देते थे। यह कथन उसी सन्दर्भमें लिखा गया प्रतीत होता है।

२. विजयोदया (भगवती आराधना सहित), पृ० ३८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदान-निक्षेप समिति

ग्रहण करते समय तथा रखते समय आँखोंसे देखकर द्रव्य या द्रव्यस्थानकी प्रतिलेखना करना आदान-निक्षेप समिति है। भगवती आराधनामें इस समितिके चार दोषोंकी चर्चा है। बिना देखे तथा बिना प्रमार्जन किये पुस्तक आदिका ग्रहण करना या रखना सहसा नामक दोष है। बिना देखे-प्रमार्जन करके पुस्तक आदिको ग्रहण करना या रखना अनाभोगित नामक दूसरा दोष है। देखकर उचित प्रतिलेखना न करना दुष्प्रमृष्ट दोष है। देखकर और प्रमार्जन करके भी यह शुद्ध है अथवा नहीं यह नहीं देखना अप्रत्यवेक्षण नामक दोष है। जो इन चारों दोषोंको दूर करता है, उसके आदान-निक्षेप समिति होती है।[1]

अतिचार—विजयोदयामें अनालोचन तथा दुष्प्रमार्जन ये दो आदान-निक्षेप समितिके अतिचार बताये गये हैं।[2]

प्रतिष्ठापना समिति

मूलाचारमें कहा गया है कि जो भूमि दावाग्निसे, खेतीसे, श्मशान या अग्निसे अचित्त हो, स्थण्डिल तथा ऊसर हो, लोगोंके आवागमनसे रहित हो, विस्तीर्ण हो, जतुरहित तथा एकान्त हो, वहाँ अचित्तभूमिमें प्रतिलेखन कर मल, मूत्र, श्लेष्मा आदि विसर्जित करें, वह प्रतिष्ठापना समिति है।

रात्रिमें प्रज्ञाश्रमण द्वारा दृष्ट स्थानका प्रमार्जन करके तथा जंतु है या नहीं, इस आशंकाका निवारण करनेके लिए हथेलीसे भूमिका धीरेसे स्पर्श करें। यदि प्रथमभूमि अशुद्ध हो, तो द्वितीय तथा तृतीय भूमि देखें। यदि शीघ्रतासे, अनिच्छासे, ही मलमूत्रका त्याग हो जावे, तो सधर्मी गुरु प्रायश्चित्त न देवें।[3]

भगवती आराधनामें कहा गया है कि आदान-निक्षेप विषयक सावधानीका कथन करनेसे प्रतिष्ठापना समितिका कथन हो जाता है। त्याज्य मूत्रादिको निजन्तुक प्रदेशमें त्यागना प्रतिष्ठापना समिति है।[4]

अतिचार—विजयोदयामें शरीर और भूमिका शोधन न करना तथा मलत्याग करनेके स्थानको न देखना प्रतिष्ठापना समितिके अतिचार कहे गये हैं।[5]

---

१. भगवती आराधना गा० ११९२ मूलाचार ५/१२२-३

२. विजयोदया (भगवती आराधना सहित), पृ० ३८।

३. मूलाचार ५/१२४-८।

४. भगवती आराधना गाथा ११९३।

५. विजयोदया (भगवती आराधना सहित), पृ० ३८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समितियोंके विषयमें भगवती आराधनामें कहा गया है कि समितियोंसे युक्त साधु जीवनिकायबहुल पृथ्वीपर हिंसादिमें उसी प्रकार लिप्त नहीं होता है, जिस प्रकार कमलपत्र जलमें तथा कवचयुक्त व्यक्ति बाणोंसे विद्ध नहीं होता। समितिसे संवर और निर्जरा होती है।[1]

गुप्ति—अपराजितसूरि गुप्तिकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि संसारके कारणोंसे आत्माके गोपनको गुप्ति कहते हैं अथवा योगके सम्यक् निग्रहको गुप्ति कहते हैं अथवा स्वेच्छाचारिताका अभाव गुप्ति है।[2] मूलाचारमें सावद्यकार्योंसे मन, वचन कायकी प्रवृत्तिके निवारणको गुप्ति कहा गया है।[3]

मनोगुप्ति—भगवती आराधनामें रागादिसे मनकी निवृत्तिको मनोगुप्ति कहा गया है। अपराजितसूरि इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि रागद्वेषकी कालिमासे रहित ज्ञानमात्र मनोगुप्ति है अथवा आत्माकी रागादिसे निवृत्ति मनोगुप्ति है।[4] स्वाध्यायमें रागादिसहित प्रवृत्ति मनोगुप्तिका अतिचार है।[5]

वचोगुप्ति—अलीकादिसे निवृत्ति अथवा मौन वचनगुप्ति है।[6] भगवती आराधनाके इस कथनकी व्याख्यामें अपराजितसूरि कहते हैं कि विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमें कारण होनेसे और दूसरोंको दुःखकी उत्पत्तिमें निमित्त होनेसे जो अधर्ममूलक वचनसे निवृत्ति है, वह वचनगुप्ति है अथवा मौन धारण करना वचनगुप्ति है। इस वचनगुप्तिसे भाषासमितिमें यह अन्तर है कि उसमें प्रेक्षापूर्वकारितासे योग्य वचन बोला जाता है और अयोग्य वचनमें अप्रवृत्ति अर्थात् मौन वचनगुप्ति है। विजयोदयामें जहां गाथा १६ की व्याख्यामें समिति, गुप्ति, ज्ञान, दर्शनके अतिचार कहे गये हैं वहां वचोगुप्तिके अतिचार छूट गये हैं। लिपिकारके प्रमाद आदि कारणसे लुप्त हो गये होंगे।

कायगुप्ति—औदारिक शरीरकी क्रियासे निवृत्ति कायगुप्ति है अथवा शरीरमें ममत्व न करना कायगुप्ति है। हिंसादिसे निवृत्तिको भी आगममें कायगुप्ति कहा गया है।[7]

---

१. भगवती आराधना गाथा ११९५-९७।
२. विजयोदया (भगवती आराधना सहित), पृ० १४८।
३. मूलाचार ५/१३५।
४. विजयोदया, पृ० ५९६।
५. विजयोदया, पृ० ३८।
६. भगवती आराधना गाथा ११८१।
७. मूलाचार ५/१३६ व भगवती आराधना गाथा ११८२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्तके असावधान रहते हुए शारीरिक क्रियाका रोकना कायगुप्तिका अतिचार है। अतिचारोंके विषयमें अपराजितसूरिका कथन है कि आवागमनके स्थान पर एक पैरसे खड़े रहना, अशुभ ध्यानमें लीन होकर निश्चल होना, मिथ्या देवताओंकी मूर्तिके सम्मुख खड़े रहना, सचित्त भूमिमें अथवा क्रोध या अभिमानसे खड़े रहना कायगुप्तिके अतिचार हैं। कायोत्सर्गको कायगुप्ति मानने वालोंके पक्षमें कायोत्सर्गके दोष ही कायगुप्तिके अतिचार हैं।[1]

खेतकी बाड़, नगरकी परिखा या प्राकार जिस प्रकार नगरकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार गुप्तियां साधुकी आत्माकी पापसे रक्षा करती हैं।[2]

गुप्ति और समितिमें अंतर यह है कि गुप्ति निवृत्तिरूप हैं, समितियां प्रवृत्तिरूप।

षट् आवश्यक—आवश्यककी परिभाषा करते हुए मूलाचारमें कहा गया है कि पापादिके वश्य न होना अवश्य है, अवश्यककी क्रियाका नाम आवश्यक है।[3] अपराजितसूरि 'आवासय' शब्दकी व्याख्या करते हैं कि जो आत्मामें रत्नत्रयका आवास कराते हैं वे आवश्यक हैं।[4] ये आवश्यक छह हैं सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

सामायिक—मूलाचारमें सामायिकके नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावके भेदसे छह भेद कहे गये हैं।[5] अपराजितसूरिने नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे सामायिकके चार भेद कहे हैं।[6]

निक्षेपोंकी अपेक्षासे किये गये सामायिकके इन भेदोंकी व्याख्या विजयोदयामें इस प्रकार की गई है। निमित्तकी अपेक्षाके विना किसी जीव आदिका सामायिक नाम रखना नामसामायिक है। सर्वं सावद्यके त्यागरूप परिमाणवाले आत्माके द्वारा एकीभूत शरीरका जो आकार सामायिक करते समय होता है, उस आकारके समान होनेसे 'यह वही है' इस प्रकार जो चित्र, पुस्तक आदिमें स्थापना की जाती है वह स्थापना सामायिक है। द्रव्य सामायिकके दो भेद हैं—आगम द्रव्य सामायिक व नोआगमद्रव्यसामायिक। द्वादशाङ्ग श्रुतके आद्य ग्रंथका नाम सामायिक

१. विजयोदया, पृ. ३८।
२. मूलाचार ५/१३७।
३. मूलाचार ७/१४।
४. विजयोदया, पृ. १५३।
५. मूलाचार ७/१७।
६. विजयोदया, पृ. १५३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, उसके अर्थका जो ज्ञाता है, जिसे सामायिक नामक आत्मपरिणामका बोध है किन्तु वर्तमानमें उस ज्ञानरूपसे परिणत नहीं है अर्थात् उसका उपयोग उसमें नहीं है, वह आगमद्रव्यसामायिक है। नोआगमद्रव्यसामायिक ज्ञायकशरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे तीन प्रकारकी है। सामायिकके ज्ञाताका जो शरीर है, वह भी सामायिकके ज्ञानमें कारण है, क्योंकि आत्माकी तरह शरीरके बिना भी ज्ञान नहीं होता। जिसके होने पर जो नियमसे होता है और अभावमें जो नहीं होता, वह उसका कारण है। ऐसी वस्तुओंमें कार्यकारणभावकी व्यवस्था है। अतः ज्ञान-सामायिकका कारण होनेसे त्रिकालवर्ती शरीर 'सामायिक' शब्दसे कहा जाता है। चारित्रमोहनीयकर्मके क्षयोपशमविशेषकी सहायतासे जो आत्माका भविष्यमें सर्व-सावद्ययोगके त्यागरूप परिणामवाली होगी, उसे भाविसामायिकशब्दसे कहा जाता है। जो चारित्रमोहनीयनामककर्मके क्षयोपशम अवस्थाको प्राप्त है वह नोआगम द्रव्यतद्व्यतिरिक्तसमायिक है। भावसामायिक भी दोप्रकार की है—आगमभाव और नोआगमभाव। इनमें प्रत्ययरूप सामायिक आगमभावसामायिक है और सर्व-सावद्यके योग त्यागरूप परिणाम नोआगमसामायिक है।[1]

सामायिकके महत्त्वके विषयमें मूलाचारमें कहा गया है कि सामायिक करनेसे श्रावक श्रमण हो जाता है।[2]

चतुर्विंशतिस्तव—वृषभादि चौबीस तीर्थङ्करोंका स्तवन चतुर्विंशतिस्तव है।[3] नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे यह भी छह प्रकारका है।

बंदना—रत्नत्रय सहित आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक व स्थविर मुनियोंके गुणातिशयको जानकर उनकी श्रद्धापूर्वक विनय करना वंदना है। यह विनय दो प्रकार-की है—अभ्युत्थान और प्रयोग। गुर्वादिकोंके सम्मानमें खड़े होना अभ्युत्थान विनय है। असंयमियों, संयमासंयमियों, और पार्श्वस्थ आदि पांच प्रकारके भ्रष्ट मुनियोंके सम्मानमें उठना नहीं चाहिए। जो रत्नत्रय और तपमें नित्य तत्पर हैं, उनके लिए ही उठना चाहिए। जो सुखशील साधु हैं अर्थात् प्रमादयुक्त और अपने रत्नत्रयके पालनमें असावधान हैं, ऐसे साधुओंकी विनय नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे कर्मबंध होता है। किंतु वाचनादाता एवं अनुयोग-शिक्षक यदि रत्नत्रयमें अपनेसे न्यून भी हों तो भी उनके सम्मानमें उठकर खड़ा होना चाहिए।

१. विजयोदया, पृ. १५३।
२. मूलाचार ७/३८।
३. मूलाचार ७/७८-८२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वसतिसे, कायभूमिसे, भिक्षासे, जिनमंदिरसे गुरुके पाससे अथवा ग्रामान्तरसे आनेके समय उठना चाहिए।[१]

मन-वचन-कायकी शुद्धिपूर्वक कृतिकर्म प्रयोग-विनय है। यह कृतिकर्म ३२ दोषोंसे रहित होना चाहिए। मूलाचारमें कहा गया है कि कृतिकर्ममें दो नमस्कार, बारह आवर्त, चार शिरोनति और तीन शुद्धियां होती हैं।[२]

प्रतिक्रमण—दोषोंसे निवृत्तिको प्रतिक्रमण कहते हैं। विजयोदयामें इसके भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे छह प्रकार बताये गये हैं। अयोग्य नामोंका उच्चारण न करना नामप्रतिक्रमण है। आप्ताभासोंको मूर्तियों आदिके सम्मुख पूजन न करना स्थापनाप्रतिक्रमण है। दूषित द्रव्योंका त्याग द्रव्यप्रतिक्रमण है। दूषित क्षेत्रोंका प्रतिक्रमण क्षेत्रप्रतिक्रमण है। अकालमें गमनागमन न करना काल प्रतिक्रमण है। मिथ्यात्व आदि अशुभ व पुण्यास्रवभूत शुभ भावोंसे निवृत्ति भाव प्रतिक्रमण है।[३]

प्रतिक्रमण दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक व सांवत्सरिक होता है।

प्रत्याख्यान—आगामी कालमें किसी कार्यके न करनेके संकल्पका नाम प्रत्याख्यान है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे इसके भी छह भेद हैं। अयोग्य नामके उच्चारणके त्यागका संकल्प नामप्रत्याख्यान है। आप्ताभासोंकी मूर्तियोंके न पूजनेका संकल्प आदि स्थापनाप्रत्याख्यान है। अयोग्य द्रव्यके त्यागका संकल्प द्रव्यप्रत्याख्यान है। अयोग्य क्षेत्रके त्यागका संकल्प क्षेत्रप्रत्याख्यान है। विशिष्ट कालमें क्रियाके त्यागका संकल्प कालप्रत्याख्यान है। भावका अर्थ अशुभ परिणाम है। इसके दो भेद हैं—मूलगुणभावप्रत्याख्यान तथा उत्तरगुणभावप्रत्याख्यान। मूलगुणोंमें दूषण लगाने वाले भावों–परिणामोंका त्याग मूलगुणभावप्रत्याख्यान है और उत्तरगुणोंको दूषित करने वाले भावोंके त्यागका नाम उत्तरगुणभावप्रत्याख्यान है।

संयमियोंके जीवनपर्यन्त मूलगुणभावप्रत्याख्यान होता है। उत्तरगुणभाव प्रत्याख्यान अल्पकालिक व जीवनपर्यंत दोनों होता है। यह प्रत्याख्यान उपधि और आहारका होता है।

---

१. विजयोदया, पृ. १५४।
२. मूलाचार ७/१०४।
३. विजयोदया, पृ. १५५-६।
४. विजयोदया, पृ. १५९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कायोत्सर्ग—कायका त्याग अर्थात् कायमें ममत्व न रहना कायोत्सर्ग है। यति शरीरसे निस्पृह होकर स्थाणुकी तरह शरीरको सीधा करके दोनों हाथोंको लटकाकर, प्रशस्त ध्यानमें लीन हो, शरीरको ऊँचा-नीचा न करके परीषहों और उपसर्गोंको सहन करता हुआ कर्मोंको नष्ट करनेकी अभिलाषासे जंतुरहित एकान्त देशमें ठहरता है, यह कायोत्सर्ग है।[1]

कायोत्सर्गका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल एक वर्ष है। अतिचारोंको दूर करनेके लिए यह क्रिया जाता है। इसके रात, दिन, पक्ष, मास, चारमास, वर्ष आदि कालमें होने वाले अनेक भेद हैं। सायंकालमें सौ उच्छ्वास प्रमाण, प्रातःकाल में पचास उच्छ्वास प्रमाण, पाक्षिक अतिचारमें तीनसौ उच्छ्वास प्रमाण, चार मासों में चारसौ उच्छ्वास प्रमाण और वार्षिकमें पाँचसौ उच्छ्वास प्रमाण काल कायोत्सर्गका है। हिंसादि पांच पापोंके त्यागमें होने वाले अतिचारमें एकसौ आठ उच्छ्वास प्रमाण अधिक काल तक कायोत्सर्ग करना चाहिए। दैवसिक अतिचारमें एकसौ आठ उच्छ्वास, रात्रिक अतिचारमें चौवन उच्छ्वास, भक्त-पान, ग्रामान्तर जाने, उच्चार-प्रस्रवण आदि अतिचारमें पच्चीस उच्छ्वास, निर्देश आदि अतिचारमें सत्ताईस उच्छ्वासप्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए।

मूलाचारमें कायोत्सर्गके चार भेद बताये गये हैं उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टोत्थित तथा उपविष्टनिविष्ट। जो धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान सहित खड़े होकर कायोत्सर्ग करता है वह उत्थितोत्थित नामक कायोत्सर्ग है। जो आर्तरौद्र ध्यानके साथ खड़े होकर कायोत्सर्ग करता है उसके उत्थितनिविष्ट नामक कायोत्सर्ग होता है। जो बैठकर धर्म और शुक्लध्यान करता है उसके उपविष्ट उत्थित कायोत्सर्ग होता है। जो बैठे हुए अशुभध्यानमें लीन होता है उसके उपविष्ट निविष्ट कायोत्सर्ग होता है।[2]

उपसर्गको सहन करनेके लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए। बाहुयुगलको लटकाकर पैरोंमें चार अंगुल का अंतर रखकर सर्वाङ्गचलनरहित कायोत्सर्ग शुद्ध है।

कायोत्सर्गमें अनेक दोषोंकी संभावना है। घोड़ेकी तरह पैर मोड़कर खड़ा होना, लताकी तरह हिलते हुए खड़े होना, खम्भेकी तरह शरीरको स्तब्ध करके खड़ा होना, दीवार आदिके आश्रयसे अथवा सिर लगाकर खड़े होना, कौओंके समान आँखोंको हिलाना, लगामसे पीड़ित घोड़ेकी तरह मुख चलाना, कन्धे पर जुआ रखे बैलकी

---

१. मूलाचार ७/१५९-६४ व विजयोदया, पृ० १६२।
२. मूलाचार ७/१७६-८० व विजयोदया, पृ० १६२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तरह सिर लटकाकर खड़े रहना, कैथका फल ग्रहण करते समय जैसे हथेली फैलाते हैं, उस प्रकार हथेली फैलाकर खड़े होना, शिर घुमाते हुए खड़े होना, गूंगेकी तरह हुंकार करते हुए खड़े होना, अंगुली चटकाते हुए खड़े होना, भौंको नचाना, भीलनीकी तरह अपने अग्रभागको ढाकते हुए खड़े होना, ऐसे खड़े होना मानो पैरोंमें सांकल बंधी है और मदिरा पिये हुए की तरह खड़े होना ये अठारह दोष हैं। इन दोषोंका परिहार करना चाहिए।[1]

लोंच—केशलोंच मुनिके लिए आवश्यक है। केशलोंच न करने पर यदि बालोंकी सफाई न की जाए तो बालोंमें सम्मूर्छन जीवोंकी उत्पत्ति संभव है। साधुके सोने पर किसीसे सर टकराने पर उन जीवोंको बाधा पहुँचती है। भिन्न देश, भिन्न काल और भिन्न स्वभाव होनेसे जीवोंसे जीवोंको बाधा पहुँचती है। उस बाधाको दूर करना अशक्य जैसा है। इसलिए केशलोंच न करनेसे हिंसादि दोष होते हैं। साथ ही जूं और लीखसे साधुके संक्लेश परिणाम होते हैं। संक्लेश परिणाम अशुभरूप होनेसे पापास्रव-का कारण हैं।

लोंच करनेसे निर्विकारता, आत्मवशता, अनासक्ति, स्वाधीनता, निर्दोषता और निर्ममत्व होता है।

प्रतिक्रमण और उपवासके साथ दो मासमें लोंच उत्तम, तीनमें मध्यम तथा चारमें जघन्य कहा जाता है।[2]

आचेलक्य—चेलका ग्रहण परिग्रहका उपलक्षण है। समस्त परिग्रहके त्यागको आचेलक्य कहते हैं। दश धर्मोंका पालन आचेलक्यसे ही संभव है। समस्त परिग्रह-से विरतिको त्याग कहते हैं, वही अचेलता है। अतः अचेल मुनि ही त्यागधर्मका पालन करता है। जो निष्परिग्रह है, वही अकिंचन है। निष्परिग्रही ही आरंभत्याग-के कारण संयमी होता है। परिग्रहके निमित्त ही असत्यमें प्रवृत्ति होती है। अचेलके ही लाघव तथा अदत्तादान त्याग होता है। रागादिका त्याग होने पर ब्रह्मचर्य भी विशुद्ध होता है। परिग्रहके अभावमें उत्तम क्षमा होती है, सौन्दर्यका मद न होनेसे मार्दव होता है। मायाके मूल परिग्रहका त्याग करनेसे आर्जव धर्म होता है। परीषहों पर विजय और तप होता है। इस प्रकार अचेल मुनि ही दश धर्मोंका पालन करता है।

अचेलतासे संयमकी शुद्धि होती है। स्वेद, धूलि और मैलसे लिप्त वस्त्रमें उसी योनिवाले और उसके आश्रयसे रहने वाले त्रसजीव तथा सूक्ष्म और स्थूल जीव

---

१. मूलाचार ७/१७१-२ तथा विजयोदया, पृ० १६३।
२. मूलाचार १/२९।

१५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्पन्न होते हैं। वस्त्र धारण करनेसे उनको बाधा पहुँचती है। जीवोंसे संसक्त वस्त्र धारण करने वालेके उठने-बैठने, सोने, वस्त्र फाड़ने, काटने, बाँधने, वेष्टित करने, धोने, कूटने और धूपमें डालनेपर जावोंको बाधा होनेसे महान असंयम होता है। अचेलके संयम-विशुद्धि होती है। अचेल इन्द्रिय-विजयमें उद्यत रहता है। ऐसा न करनेपर शरीरमें विकार होनेपर लज्जित होना पड़ता है।

अचेलताका तीसरा गुण कषायका अभाव है। वस्त्रसे उसकी रक्षाके लिए मायाचार करना पड़ता है। कलह होतो है। वस्त्रलाभ होनेसे लोभ होता है, अहंकार होता है। वस्त्रके धोने-सीने आदिमें लगनेसे स्वाध्याय तथा ध्यानमें विघ्न होता है।

वाह्य परिग्रहका त्याग आभ्यन्तर परिग्रहका मूल है। बिना छिलकेका धान नियमसे शुद्ध होता है, उसी प्रकार अचेल नियमसे शुद्ध होता है, सचेलकी शुद्धि भाज्य है।

अचेलतामें राग-द्वेषका अभाव एक गुण है। राग और द्वेष बाह्य द्रव्यके अवलम्बनसे होते हैं। परिग्रहके अभावमें राग-द्वेष नहीं होते। शरीरमें अनादर भी अचेलताका गुण है। अचेलतामें स्वाधीनता, चित्तकी विशुद्धि, निर्भयता तथा सर्वत्र विश्वास आदि गुण हैं। प्रतिलेखना तथा परिकर्मका न होना अचेलताका गुण है। सवस्त्रको अनेक परिकर्म तथा प्रतिलेखना करनो होती है। अचेलके लाघव गुण होता है। अचेल ही निर्ग्रन्थ होता है, अन्यथा अन्य मतानुयायी भी निर्ग्रन्थ कहे जायेंगे। तीर्थङ्करोंके मार्गका आचरण करना भी अचेलताका गुण है। संहनन और बलसे पूर्ण तथा मुक्तिमार्गके उपदेशक सभो तीर्थङ्कर अचेल थे तथा भविष्यमें भो अचेल होंगे। मेरु आदि पर्वतोंपर विराजमान जिनप्रतिमा और तीर्थङ्करोंके मार्गके अनुयायी गणधर भी अचेल होते हैं। उनके शिष्य भी उन्हींकी तरह अचेल होते हैं। अपने बलवीर्यको न छिपाना भी अचेलताका गुण है। वस्त्रमें दोष तथा अचेलतामें अपरिमित गुण होनेसे अचेलताको स्थितिकल्प कहा गया है।[1]

अपराजितसूरि एक ओर सभी तीर्थङ्कर, जिनप्रतिमा, गणधर और उनके शिष्योंको अचेल कहते हैं, दूसरी ओर 'आचेलक्को धम्मो पुरिमचरिमाणं' 'यथाहमचेली तथा होउ पच्छिमो इति होक्खदित्ति'' आदि उद्धरण उद्धृत करते हैं।[2]

अस्नान—स्नानादिसे रहित, पसीने आदिसे लिप्त शरीरका होना अस्नान व्रत है।

---

१. विजयोदया, पृ० ३२०–३२७

२. वही, पृ० ३२६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षितिशयन—प्रासुकभूमिप्रदेशमें बिना किसी फलकके अथवा तृणमय या काष्ठ-मय फलकपर दण्ड अथवा धनुषके आकारमें एकपार्श्वसे शयन करना क्षितिशयन है।

अदंतधावन—अंगुली, नख या तिनके आदिसे दांतोंको नहीं धोना अदंतधावन है।

स्थितिभोजन—पैरोंमें चार अंगुलका अन्तर रखकर भित्ति आदिके सहारेके बिना खड़े होकर अपने खड़े होने तथा जूठा गिरने और परोसनेवालेके खड़े होनेकी भूमि प्रासुक हो, यह देखकर अंजलिपुटमें भोजन ग्रहण करना स्थितिभोजन है।

एकभक्त—सूर्यके उदय और अस्त होनेके दो कालोंके बीच उदयके बाद तीन नाड़ी काल और अस्तके पूर्व तीन नाड़ी कालको छोड़कर शेष समयमें एक बार आहार ग्रहण करना एकभक्त है।

दशस्थितिकल्प—मूलाचार तथा भगवती आराधनामें मूलगुणोंके अतिरिक्त दश स्थितिकल्पोंका भी वर्णन किया गया है। आचेलक्य, उद्दिष्टत्याग, शय्याधरपिंड-त्याग, राजपिण्डत्याग, कृतिकर्म, व्रत (दान), पुरुषज्येष्ठता, प्रतिक्रमण मास और पर्युषण ये दशस्थितिकल्प हैं। इनमें शय्याधरपिंडत्याग तथा राजपिंडत्यागको छोड़कर शेष सभी आचार दिगम्बर परम्परामें भी मान्य हैं। ये सभी प्रथम व अन्तिम तीर्थङ्कर-के कालमें अनिवार्य माने गये हैं, इसलिए इन्हें स्थितिकल्प कहा जाता है। रुग्ण तथा वृद्ध साधुके लिए यदि मरणका भय उपस्थित हो, तो राजपिंडका ग्रहण अपवाद रूप-में मान्य है।[1]

लिंग—अचेलता मुनिके लिए उत्सर्गलिंग है। कारणकी अपेक्षासे आर्यिकाओंको आगममें वस्त्रकी अनुज्ञा है। आर्यिकाओंका यह लिंग उत्सर्ग लिंग ही है, दिगम्बरोंकी भाँति औपचारिक नहीं।

भिक्षु अपवाद रूपसे वस्त्र-पात्र ग्रहण कर सकता है। यह वस्त्रधारण तीन कारणों-से होता है। यदि उसके शरीरमें कोई दोष हो, लिंग चर्मरहित हो या अण्डकोश लम्बे हों, अथवा वह लज्जालु हो अथवा परीषह सहनेमें असमर्थ हो, तो वह वस्त्र ग्रहण करता है। यह वस्त्रधारण कारणविशेषकी अपेक्षासे ग्रहण किया जाता है, अतः अपवाद मार्ग है। जो उपकरण कारण-विशेषकी अपेक्षासे ग्रहण किया जाता है, उसके ग्रहण, ग्रहणकी विधि तथा गृहीत उपकरणका त्याग आचारांग, कल्पसूत्र आदि सूत्रोंमें निर्दिष्ट किया गया है, यह कहकर विजयोदयाकार[3] अपवादलिंगको त्याज्य ही मानते हैं।

---

१. विशेष विवरणके लिए चतुर्थ परिच्छेद देखिए।

२. भगवती आराधना गाथा ८० व विजयोदया, पृ० ११५।

३. विजयोदया, पृ० ३२१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामाचारी—श्रमण जीवनकी उन सब प्रवृत्तियोंका समाचारीमें प्रवेश होता है, जो वह अहर्निश करता है। 'समाचार' शब्दके मूलाचारमें चार अर्थ बताये गये हैं—समताका आचार, सम्यक् आचार, सम (तुल्य) आचार और सबके प्रति सम्मानका आचरण।

समदा सामाचारो सम्माचारो समो वा आचारो।
सव्वेसिं सम्माणं समाचारो दु आचारो॥ ४/१२३॥

समाचारी दो प्रकारकी है—औघिक तथा पदविभागी। औघिक दश प्रकारकी है तथा पदविभागीके अनेक प्रकार हैं। औघिकके दश भेद इस प्रकार हैं—

इच्छाकार—(इट्ठे इच्छाकारो)[1] सम्यग्दर्शन तथा शुभपरिणाम आदि इष्टमें इच्छापूर्वक प्रवर्तित होना इच्छाकार है। संयम, ज्ञान व अन्य उपकरणोंकी याचना करनेमें तथा योग ग्रहण करनेमें इच्छाकार करना चाहिए।

मिथ्याकार—(मिच्छाकारो तहेव अवराहे)[2] दुष्कृतका भावसहित प्रत्याख्यान करके पुनः उसे न करना चाहिए।

तथाकार—(पडिसुणणम्हि तहत्ति य)[3] वाचना, उपदेश तथा सूत्रार्थ ग्रहण करते समय जैसा गुरु आदिने प्रतिपादित किया है, वैसा ही है, अन्यथा नहीं, यह भावना तथाकार है।

आसिका—(णिग्गमणे आसिया भणिया)[4] वसतिकासे जाते समय गुरु, देव आदिसे कहकर जाना।

निषीधिका—(पविसंते य णिसीही) प्रवेश करते समय इस शब्दका प्रयोग करना चाहिए।

आपृच्छा—(सकज्ज आरंभे आपुच्छणिया) आहारादि अपने कार्यके लिए गुरुकी आज्ञा लेना आपृच्छा है।

प्रतिपृच्छा—(साधम्मिणा य गुरुणा पुव्वणिसिट्ठम्हि पडिपुच्छा) पहले निषेध कर दी गई वस्तुके विषयमें प्रश्न करना प्रतिपृच्छा है।

छंदन—(छंदण गहिदे दव्वे) गृहीत द्रव्यका उसी अभिप्रायसे सेवन छंदन है।

१. मूलाचार ४/९।
२. वही ४/१०।
३. वही ४/१२।
४. वही ४/१३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निमंत्रणा—(अगहिददव्वे णिमंतणा भणिदा) गुरु या साधर्मिकका द्रव्य यदि ग्रहण करना हो, तो विनयसे याचना करना निमंत्रणा है।

उपसंपा—संघमें गुरुके समक्ष आत्मोत्सर्ग करना उपसंपा सामाचार है।[1]

इसके विषयमें भगवती आराधना तथा विजयोदयामें कहा गया है कि मुनि आचारवत्त्व आदि गुणोंसे युक्त आचार्यके पास जाकर मन-वचन-कायसे षट् आवश्यकोंको पूर्ण करके आचार्यको वंदना कर यह कहता है कि आप द्वादशांग श्रुतके पारगामी हैं, मैं आपके चरणोंमें बैठकर श्रामण्यको उद्योतित करूँगा। दीक्षा ग्रहण करनेसे लेकर अब तक जो अपराध किये हैं, उनकी दोषरहित आलोचना करके दर्शन, ज्ञान तथा चारित्रको शल्यरहित पालन करना चाहता हूँ। यह उपसंपा है।[2]

मूलाचारके अनुसार विनय, क्षेत्र, मार्ग, सुख, दुःख तथा सूत्रमें पाँच प्रकारकी उपसंपा कही गई है।[3]

पदविभागी—विद्या, बल, वीर्य और उत्साहसे सम्पन्न शिष्य अपने गुरुसे अध्ययन करके अन्य गुरुके पास शास्त्राध्ययनकी इच्छासे गुरुके समीप जाकर विनयपूर्वक पूछता है कि आपकी कृपासे अन्यत्र जाना चाहता हूँ। यह तीन, पाँच तथा छह बार पूछता है। यह पूछकर अपने गुरु द्वारा विसर्जित होकर अपने अतिरिक्त तीन, दो अथवा एक मुनिको लेकर जाता है।[4]

एकाविहारी वही हो सकता है जो द्वादशविध तप करता है। द्वादशांग तथा चतुर्दश पूर्वरूप आगम ग्रंथको जानता है। संहनन तथा धैर्य सम्पन्न है, तत्त्वज्ञ है। वृद्ध तपस्वी व आचारसिद्धान्तका ज्ञाता है। जो ऐसा न होकर भी गणत्याग कर एकाकी विहार करता है, उससे गुरुपरिवाद, श्रुतव्यवछेद, तीर्थकी मलिनता, जड़ता, विह्वलता, कुशील पार्श्वस्थता आदि दोष उत्पन्न होते हैं। सामर्थ्यके बिना एकाकी विहार करने पर आज्ञाकोप, अनवस्था, मिथ्याराधना, आत्मनाश, संयमविराधना ये पाँच दोष होते हैं। इसलिए वहाँ निवास करना योग्य नहीं है, जहाँ आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पाँच आधार न हों।[5]

---

१. मूलाचार ४/९–१७।
२. भगवती आराधना गाथा ५१०–६।
३. मूलाचार ४/१८-२२।
४. मूलाचार ४/२४-२५।
५. मूलाचार ४/२७-३१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब कोई मुनि नवीन गच्छमें आता है, तब मुनि वात्सल्यके लिए, सर्वज्ञकी आज्ञाका पालन करनेके लिए, उन्हें अपने गच्छमें सम्मिलित करनेके लिए तथा प्रणाम करनेके लिए खड़े हो जाते हैं। नवीन मुनि गच्छमें आता है, तब सात कदम चलकर एक दूसरेको प्रणाम करके रत्नत्रयके विषयमें प्रश्न करना चाहिए। आगन्तुकको तीन रात्रि निवास देना चाहिए। उसकी स्वाध्याय आदि क्रियाओंमें तथा शयनीय आदिके विषयमें परीक्षा करनी चाहिए। षडावश्यक, प्रतिलेखन, वचनग्रहण, निक्षेप, स्वाध्याय, एकविहार, भिक्षाग्रहण आदिमें परीक्षा करनी चाहिए। आगन्तुक और गच्छके साधुओंको एक दूसरेकी परीक्षा करनी चाहिए। आगंतुकको एक दिन विश्राम करके दूसरे या तीसरे दिन आचार्यसे अपने कार्यका निवेदन करना चाहिए। यदि आगन्तुकका ज्ञान और चारित्र शुद्ध है, वह नित्य उद्यमशील, विनीत और मेधावी है, तो आचार्य उसे गच्छमें रखें। यदि वह अयोग्य है, तो छेदोपस्थापना करना चाहिए अर्थात् प्रायश्चित्त देकर पुनः दीक्षित करना चाहिए। यदि वह छेदोपस्थापना नहीं चाहे, तो उसे संघमें सम्मिलित नहीं करना चाहिए। इस प्रकार आगंतुक व आचार्य दोनोंको आदरपूर्वक शिक्षा ग्रहण करनी व देनी चाहिए। सम्यक् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी प्रतिलेखना करके विनयोपचारसे युक्त होकर प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। यदि सूत्रार्थके लोभमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका अतिक्रमण करता है, तो असमाधि, अस्वाध्याय, कलह, व्याधि और वियोग होता है। दोनों समय पर्याप्त प्रकाशमें (हाथकी रेखाएँ प्रकाशमें स्पष्ट दिखें) तब प्रयत्नपूर्वक प्रतिलेखना करनी चाहिए। गच्छमें ग्लान, गुरु, बाल, वृद्ध और शैक्ष्यकी यथायोग्य वैयावृत्य करनी चाहिए। दैवसिकी, रात्रिकी, पाक्षिकी, चातुर्मासिकी व वार्षिकी क्रियाओंमें तथा वंदना आदि कार्योंमें सहयोग करना चाहिए। आर्यिके आगमनकालमें एकाकी नहीं रहना चाहिए। गणिनीको आगे करके प्रश्न करना चाहिए। मुनियोंको आर्यिकाओंके उपाश्रयमें बैठना, लेटना, स्वाध्याय, आहार, भिक्षा और व्युत्सर्ग आदि नहीं करना चाहिए। गणधरकी इच्छानुसार प्रवर्तित होना ही मुनियोंका समाचार है। यही पदविभागी सामाचारी है।[१]

सूर्योदयसे लेकर दिन-रातका मुनियोंका जो कार्यकलाप है, वह पदविभायी सामाचारी है।[२]

सामाचारीका वर्णन श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें भी मिलता है। आवश्यकनियुक्ति तथा विशेषावश्यकभाष्यमें सामाचारीके तीन प्रकार बताये गये हैं। ओघ, दशविध तथा

१. मूलाचार ४/१४५-९७।
२. मूलाचार ४/१३०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पदविभागो। मूलाचारमें निर्दिष्ट दशविध औधिक सामाचारी आवश्यकनियुंक्ति तथा विशेषावश्यकभाष्यमें दशविध सामाचारी है।[1]

ओघसामाचारीका निरूपण ओघनियुंक्तिमें किया गया है। उसके प्रतिलेखन, पिण्ड, उपधिप्रमाण, अनायतनवर्जन, प्रतिसेवना (दोषाचरण) आलोचना और विशोधि ये सात द्वार हैं।

पडिलेहणं च पिण्डं उवहिपमाणं अणाययणवज्जं।
पडिसेवणमालोऊण जह य विसोहो सुविहियाणं ॥[2]

दशविध समाचारीका वर्णन भगवती, स्थानांग, उत्तराध्ययन तथा आवश्यकनियुंक्ति आदिमें मिलता है।[3] पदविभाग-सामाचारीका वर्णन छेदसूत्रोंमें है। कल्पसूत्रमें वर्णित सामाचारी पदविभाग-सामाचारी है।

तप—कर्मोंकी निर्जराके लिए तपश्चरण आवश्यक है। तप दो प्रकारका है—बाह्य व आभ्यन्तर। दोनोंके छह-छह भेद हैं। अनशन, अवमौदार्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश, विविक्तशयनाशन ये छह बाह्य तप हैं।

अनशन—अनशन साकांक्ष और निराकांक्ष दो प्रकारका है। कालसापेक्ष साकांक्ष तथा यावज्जीवन निराकांक्ष है। इसे ही अद्धानशन तथा सर्वाशन कहा गया है। सर्वानशन अन्तिम समयमें किया जाता है। तीन, चार, पांच, छह, पन्द्रह दिन तथा मासभरसे लेकर कनकावली, एकावली आदि तक अशनत्याग अद्धानशन है[4]

अवमौदार्य—वत्तीस ग्रास प्रमाण आहार पुरुषका होता है। अट्ठाइस ग्रास प्रमाण आहार स्त्रीका होता है। इस आहारसे कम आहार करना अवमौदार्यवृत्ति है।

रसपरित्याग—दूध, दही, घी, तेल, गुड तथा नमकका त्याग करना रसपरित्याग है। अथवा तिक्त, कटुक, कषाय, लवण, अम्ल तथा मधुर रसोंका त्याग करना रसपरित्याग है। मद्य, मांस, मधु और नवनीत महाविकृतियां हैं, इनका परित्याग भी आवश्यक है।[5]

वृत्तिपरिसंख्यान[6]—आहार ग्रहण करनेके लिए विविध प्रकारके नियम लेना वृत्तिपरिसंख्यान है। गृहोंके प्रमाण, दाताओंके प्रमाण आदिका नियम लेना अथवा जिस

---

१. विशेषावश्यकभाष्य भाग २ गाथा २५-६।
२. ओघनियुंक्ति २।
३. भगवती २५/७, स्थानांग १०/७४९ आदि।
४. भगवती अराधना २१०-२, मूलाचार ५/१४८-५१।
५. भगवती आराधना गा. २१३-१४।
६. भगवती आराधना, गाथा २१५-१९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मार्गसे पहले गया, उसीसे लौटते हुए यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं, सीधे मार्गसे जाने पर यदि भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं आदि मार्ग नियम लेना वृत्तिपरिसंख्यान है। मार्ग नियम गतप्रत्यागत, ऋजुवीथि, गोमूत्रिक, शम्बूकावर्त, पतंगवीथि आदि अनेक प्रकार हैं।

इसके अतिरिक्त इस प्रकारके नियम करना कि फाटकमें प्रविष्ट होकर भिक्षा ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं अथवा एक या दो फाटकमें प्रवेश करके भिक्षा ग्रहण करूँगा अथवा घरमे लगी हुई भूमिमें प्रवेश करूँगा, घरमें नहीं, एक ही भिक्षा या दो ही भिक्षा ग्रहण करूँगा,अधिक नहीं, आदि नियम वृत्तिपरिसंख्यान है। ग्रामका परिमाण पिंडरूप भोजन, पानरूप भोजन, चना, मसूर आदि विशिष्ट धान्य ग्रहण करनेका नियम, शाकसे मिला भोजन, जिसमें चारों ओर शाक और बीचमें भात हो आदि अनेक नियम लिये जाते हैं।[1]

कायक्लेश—शरीरको कष्ट-सहिष्णु बनाकर किया जाने वाला तप कायक्लेश है। इसके अनुसूरी, प्रतिसूरी, अर्ध्वसूरि, तिर्यक्सूरी, ग्रामान्तरमें भिक्षाके लिए जाना आदि अनेक भेद हैं। चिकने स्तम्भ पर खड़े होना, दोनों पैरोंको बराबर करके खड़े होना, सम्यक् पर्यंकाशनसे बैठना, जांघे और कटि भागको सम करके बैठना, गोदोहन करते समय जैसे बैठते हैं, वैसे आसनसे बैठना, एक पैर फैलाकर बैठना, दोनों जंघाओंको सामने कर गायकी तरह बैठना, अर्द्धपर्यङ्कासन ये सब कायक्लेशके आसन हैं।[2]

विविक्तशयनासन—जिस वसतिमें स्वाध्याय और ध्यानमें व्याघात नहीं होता वह विविक्त वसति है। विविक्त वसतिमें मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप गन्ध व स्पर्श द्वारा अशुभ परिणाम नहीं होते। शून्यघर, पहाडकी गुफा वृक्ष का मूल,आने वालोंके लिए बनाया घर, देवकुल आदि विविक्तवसतियाँ हैं। यहाँ कलह, संक्लेश, व्यामोह और ममत्व नहीं होता। इनमें निवास करना विविक्तशयनासनतप है।[3]

इन बाह्य तपोंसे आभ्यन्तर तपमें श्रद्धा होती है। वीर्याचारमें प्रवृत्ति होती है। ध्यान दृढ़ होता है। आत्मा, कुल, गण तथा अपनी शिष्यपरम्परा शोभित होती है।[4]

विजयोदयामें इन तपोंके अतिचारोंका भी वर्णन है। वे इस प्रकार हैं—

---

१. भगवती आराधना, गा० २२०-२२३।
२. भगवती आराधना, गा० २२४-२९।
३. भगवती आराधना, गा० २३०-४।
४. भगवती आराधना, गा० २३८-४६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनशनतपके अतिचार

स्वयं भोजन न करते हुए दूसरोंको भोजन कराना, मन-वचन-कायसे दूसरेको भोजनकी अनुमति देना, स्वयं भूखसे पीड़ित होने पर मनसे आहारकी अभिलाषा करना, मुझे पारणा कौन देगा अथवा पारणा कहाँ होगी इत्यादि चिन्ता अनशनतपके अतिचार हैं। अथवा रसीले आहारके बिना मेरी थकान दूर नहीं होगी, यह विचार करना, प्रचुर निद्रामें पड़कर षट्कायके जीवोंकी बाधामें मन-वचन-कायसे प्रवृत्त होना, मैंने संक्लेशकारी उपवास किया, व्यर्थ किया, यह संतापकारी है, इसे नहीं करूँगा। इस प्रकारके विकल्प भी अनशनतपके अतिचार हैं ?

अवमौदार्यतपके अतिचार—मनसे बहुत भोजन करनेमें आदर, दूसरेको बहुत भोजन करानेकी चिंता, तृप्तिपूर्वक भोजन करो, ऐसा कहना, मैंने बहुत भोजन किया, ऐसा कहनेपर आपने अच्छा किया, हाथके संकेतसे कंठदेशका स्पर्श कर कहना मैंने आकण्ठ भोजन किया।

वृत्तिपरिसंख्यानतपके अतिचार

सात घरमें प्रवेश करूँगा इत्यादि संकल्प करके दूसरेको भोजन कराना है, इस भावसे सात घरसे अधिक घरोंमें प्रवेश करना तथा एक मुहल्लेसे दूसरे मुहल्लेमें जाना। विजयोदयाके इस उल्लेखसे भोजन एकत्रित करके वसतिकामें स्वयं ग्रहण करने तथा अन्य रुग्ण आदि मुनिको ग्रहण करानेका अभिप्राय सूचित होता है।

रसपरित्यागतपके अतिचार

रसोंमें आसक्ति, दूसरोंको रसयुक्त आहारका भोजन कराना अथवा आहारके भोजनकी अनुमति ये रसपरित्यागतपके अतिचार हैं।

कायक्लेशतपके अतिचार—गर्मीसे पीड़ित होने पर शीतलद्रव्य प्राप्तिकी इच्छा होना, संताप दूर होनेकी चिंता होना, पूर्वभुक्त शीतलद्रव्यों तथा प्रदेशोंकी स्मृति, कठोर धूपसे द्वेष करना, शीतलप्रदेशसे अपने शरीरको पीछीसे शोधे बिना धूप या गर्मस्थानमें प्रवेश करना, अथवा धूपसे संतप्त शरीरको जलसे धोकर हाथ, पैर अथवा शरीरसे जलकायिक जीवोंको पीड़ा देना, शरीरमें लगे जलके कणोंको हाथ वगैरहसे पोंछना, हाथ या पैरसे शिलातलपर पड़े जलको दूर करना, कोमल गीली भूमिपर सोना, जलके बहनेके निचले प्रदेशमें ठहरना, कब वर्षा होगी, कब रुकेगी आदि चिन्ता करना, वर्षासे बचनेके लिए छाता धारण करना आदि कायक्लेशतपके अतिचार हैं।

अभ्रावकाशतपके अतिचार—यहाँ विविक्तशयनासनके स्थानपर अभ्रावकाश शब्दका प्रयोग किया गया है। सचित्त भूमि पर जिसमें त्रसरहित हरितकाय हो तथा

१. विजयोदया पृ०, ३७१-२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छिद्रवाली भूमि पर सोना, भूमि और शरीरको पीछीसे शुद्ध किये बिना हाथ पैर सिकोड़ना-फैलाना, करवट लेना, शरीर सुखाना, हिम और वायुसे पीड़ित होने पर उनके रुकनेकी चिंता करना, शरीरपर गिरी बर्फको हटाना, अथवा वर्षासे संघट्टन करना, यहाँ अधिक वायु है, ऐसा संक्लेश करना, शीत दूर करनेके साधन आग और ओढ़नेके वस्त्र आदिका स्मरण करना अभ्रावकाशतपके अतिचार हैं।

आभ्यन्तर तप—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ये छह आभ्यन्तर तप हैं।[1]

प्रायश्चित्त—प्रायश्चित्त वह तप है, जिससे पूर्वकृत पापोंकी शुद्धि होती है। प्रायश्चित्त जानने वाले मुनिको भी उत्कृष्ट विशुद्धिके लिए परकी साक्षीपूर्वक शुद्धि करनी चाहिए। प्रायश्चित्तके दश प्रकार हैं--आलोचना, प्रतिक्रमण, आलोचना-प्रतिक्रमण, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार तथा श्रद्धान। यथा--

आलोयणं पडिकमणं उभय विवेगो तहा विउस्सग्गो।
तव छेदो मूलं विय परिहारो चेव सद्दहणा॥[2]

मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करते हुए यदि उनके दुष्प्रयोगसे अतिचार लगा हो तो उसकी पूरी तरह आलोचना करनी चाहिए। देशभेद, कालभेद, परिणामभेद और सहायकके भेदसे दोषोंमें गुरुपना और लाघवपना होता है। दोषोंकी लघुता और गुरुताके अनुसार गुरु प्रायश्चित्त देता है।

आलोचना दो प्रकारको होवो है—एक सामान्य या औधिक और दूसरी विशेष या पदविभागी। मूल नामक प्रायश्चित्त जिसे दिया जाता है, वह सामान्य आलोचना करता है, उसकी दीक्षा मूलसे ही समाप्त कर फिरसे आरम्भ की जाती है, वह सामान्य-मुनि धर्ममात्रमें लगे दोषकी आलोचना करता है। गुणविशेषमें लगे दोषकी आलोचना करना पदविभागी है।

निःशल्य होकर ही आलोचना करनी चाहिए। निःशल्यता ही यतियोंकी आराधना है। आलोचनाके पूर्व एकान्तमें कार्योत्सर्ग करना चाहिए। एकान्तमें ही गुरु एकाकी आलोचना सुनते हैं।

आलोचनाके दोष[3]—आलोचनामें अनेक दोष हो सकते हैं, उन्हें त्यागकर निर्दोष आलोचना करनी चाहिए।

---

१. मूलाचार ५/१६५।
२. मूलाचार ५/१६७।
३. विजयोदया, पृ० ४०३-१७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. **आकम्पित**—स्वयं भिक्षालब्धिसे युक्त होनेके कारण आचार्यको उद्गमादि दोषोंसे रहित प्रासुक भक्तपानसे, अथवा पिच्छि-कमण्डलु आदि उपकरणसे अथवा कृति-कर्म वंदनासे वैयावृत्य, करके अपने पर आचार्यकी कृपा उत्पन्न करके यदि कोई साधु अपना अपराध कहता है और उस समय विचार करता है कि भोजन आदिके दान द्वारा उपकार करनेसे प्रसन्न होकर गुरु महान् प्रायश्चित्त नहीं देंगे। अतः मैं स्थूल और सूक्ष्म सब अतिचार कहूँगा। इस प्रकार विचार करनेमें आलोचकके मनमें अविनय आती है, यह आकम्पित नामक प्रथम आलोचना दोष होता है। यह आलोचना किंपाकफलके सदृश है।

२. **अनुमानित**—आलोचना करने वाला मुनि अपनी शक्तिको छिपाते हुए शरीरके प्रति सुखशील होनेके कारण यह विचार करे कि घोर पुरुषोंके द्वारा आचरित उत्कृष्ट तपको जो करते हैं वे धन्य हैं, माहात्म्यशाली हैं, मैं तो जघन्य प्राणी हूँ, उपवास करनेमें असमर्थ हूँ' इस प्रकार प्रार्थना करनेपर गुरु लघु प्रायश्चित्त देकर मुझ पर अनुग्रह करेंगे, ऐसा अनुमानसे जानकर जो शल्यसहित आलोचना करता है, वह दूसरा आलोचना दोष है।

३. **दृष्ट**—जो दूसरोंके द्वारा देखे गये अपराधकी हो आलोचना करता है, वह मायावी है।

४. **बादर**—जिन-जिन व्रतोंमें दोष लगे हों, उनमेंसे जो साधु स्थूल दोषोंकी तो आलोचना करता है, सूक्ष्म दोषोंको छिपाता है, उसकी आलोचना बादर दोषसे युक्त है।

५. **सूक्ष्म**—इसके विपरीत जो साधु सूक्ष्म दोष कहता है, भय, मद तथा माया-सहित चित्त होनेसे स्थूल दोषको छिपाता है, वह सूक्ष्म दोष है।

६. **प्रच्छन्न**—आचार्यसे पूछना यदि किसीके मूलगुण तथा उत्तरगुणमें अतिचार लग जाए तो किस उपायसे शुद्ध होता है। इस प्रकार प्रच्छन्न रूपसे पूछकर जो साधु शुद्धि करता है, वह प्रच्छन्न आलोचना दोष है।

७. **शब्दाकुलित दोष**—पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रायश्चित्तके समय जब सब मुनिगण अपने दोष निवेदन करते हैं तब कोलाहलमें जो मुनि इच्छानुसार दोष कहता है, वह गुरुओंको स्पष्टरूपसे सुनाई न दे, तो वह शब्दाकुलित दोष है।

८. **बहुजन**—नवम पूर्वमें, कल्प तथा व्यवहारमें, शेष अंगों और प्रकीर्णोंमें जो प्रायश्चित्त कहा गया है, तदनुसार ही आचार्य प्रायश्चित्त दे तथापि उस आचार्यके वचनोंपर श्रद्धा न करके अन्य आचार्योंसे पूछना बहुजन दोष है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

९ अव्यक्त दोष—ज्ञानबालक तथा चारित्रबालक आचार्यके दोषोंका निवेदन करना अव्यक्त दोष है।

१०. तत्सेवी—पार्श्वस्थ मुनि पार्श्वस्थ मुनिके समक्ष आलोचना करे कि यह मेरे समान है, यह तत्सेवी दोष है।

सदोष आलोचनासे शुद्धि नहीं होती, इसलिए निर्यापकाचार्यके पादमूलमें उपस्थित होकर दशों दोष तथा भय, माया, असत्यवचन, मान और लज्जाका त्यागकर सम्यक् प्रकारसे शुद्ध होकर विधिपूर्वक आलोचना करनी चाहिए।

विनय—विनय दूसरा आभ्यन्तर तप है। मूलाचार तथा भगवती आराधनामें इसकी विस्तृत चर्चा है।[1] इनमें विनयके पाँच भेद बताये गये हैं—वे हैं दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और औपचारिक विनय।

दर्शनविनय—सम्यक्त्व ही मोक्षमार्गका प्रथम सोपान है। मूलाचारके अनुसार 'जिनवरों द्वारा उपदिष्ट श्रुतज्ञानपर श्रद्धा रखना दर्शन विनय है।'[2] जैन दर्शनमें जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नौ पदार्थ बताए गए हैं। इन पर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

इसके आठ अंग हैं। जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट पदार्थोंमें शंका न करना निःशंकित अंग है। इहलोक तथा परलोकके भोगोंको अभिलाषा न करना निःकांक्षित अंग है। यतिसे मूत्रादिमें घृणा 'द्रव्यविचिकित्सा' तथा भूख सहन करना आदि दुःख रूप हैं आदि विचार 'भावविचिकित्सा' है। ऐसी विचिकित्सा न करना निर्विचिकित्सा है। सच्चे देव, गुरु और धर्ममें विवेक रख उन्हें मानना अमूढ़दृष्टि है। दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे हीन जीवोंको देखकर धर्मबुद्धिसे उनके दोषोंको ढ़ाकना 'उपगूहन' है। दर्शन और चारित्रसे भ्रष्ट जीवोंको देखकर उन्हें उनमें स्थित करना स्थितीकरण है। चतुर्विधसंघके प्रति वात्सल्य रखना वात्सल्य है। तथा धर्मोपदेश, तपश्चरण, अहिंसा आदिके द्वारा धर्मकी प्रभावना करना प्रभावना है। ये सम्यग्दर्शनके आठ अंग हैं।

इसमें उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये चार गुण हैं।

अतिचार—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परदृष्टि प्रशंसा व अनायतनसेवन सम्यक्त्वके अतिचार हैं। श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशाम विशेष न होनेसे, उपदेष्टाके अभावमें अथवा उसमें वचनोंकी निपुणता न होनेसे व निर्णयकारी शास्त्रवचन उपलब्ध न होनेसे अथवा काललब्धिके अभावमें शंका नामक अतिचार है।

---

१. मूलाचार ७/८०-९५, भगवती आराधना, गा० ११२-३४।
२. मूलाचार ७/८८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दर्शनसे, व्रतधारणसे, देवपूजा और तपसे उत्पन्न हुए पुण्यसे किसी फलकी आकांक्षा करना कांक्षा है। रत्नत्रय और रत्नत्रयधारीमें जुगुप्सा विचिकित्सा अतिचार है। अतत्त्वदृष्टिकी प्रशंसा परदृष्टिप्रशंसा है। अनायतनके छह भेद हैं—मिथ्यात्व, मिथ्यात्वी, मिथ्याज्ञान, मिथ्याज्ञानी, मिथ्याचारित्र और मिथ्याचारित्रके धारक।

ज्ञान-विनय—ज्ञान मोक्षका कारण व पाप तथा कर्मबन्धनका नाशक है। ज्ञानके द्वारा चारित्र धारण किया जाता है, अतः ज्ञानमें विनय करना चाहिए। ज्ञानविनयके आठ भेद हैं—काल, विनय, उपधान, बहुमान अनिह्नव, व्यंजनशुद्धि, अर्थशुद्धि और उभयशुद्धि। स्वाध्यायकाल और वाचनाकाल इन योग्य कालोंमें अध्ययन कालविनय है। श्रुत तथा श्रुतधारकोंकी विनय यह विनय नामक ज्ञानविनय है। स्वाध्याय पूरा करते समय तक अवग्रह धारण करना उपधान विनय है। मनको निश्चल कर हाथ जोड़कर सादर अध्ययन करना बहुमान है गुरुका अपलाप करना निह्नव है और गुरु को न छिपाना अनिह्नव विनय है। व्यंजनशुद्धि (शब्दशुद्धि) अर्थशुद्धि तथा उभय-शुद्धि सूत्रका ठीक पाठ तथा ठीक अर्थ निरूपण करना है।

चारित्र-विनय—मूलाचारके अनुसार संचित कर्मावरणका नाश करना तथा नवीन कर्मका बंध न करना चारित्र विनय है। भगवती आराधनाके अनुसार इन्द्रिय और कषायरूपसे आत्माका परिणत न होना तथा गुप्तियों और समितियोंका पालन संक्षेपमें चारित्रविनय है। इसके दो भेद हैं—इन्द्रिय-अप्रणिधान और नोइन्द्रिय-अप्रणिधान। पुद्गलोंके शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शमें रागद्वेषका न होना इन्द्रिय अप्रणिधान है, क्रोध, मान, माया, लोभका त्याग नोइन्द्रिय अप्रणिधान है।

तपोविनय—मूलाचारमें तपस्याके द्वारा मुनिका अपनेको मोक्षमार्गमें प्रवृत्त करना तपोविनय कही गई है। दीक्षामें लघु तथा अल्पज्ञानी भी विनय द्वारा मोक्ष-मार्ग प्राप्त करता है। भगवती आराधनामें तपोविनय इस प्रकार कही गई है—उत्तरगुणोंमें उद्यम करना तप है। सम्यक् रीतिसे भूख-प्यासको सहन करना, तपमें अनुराग रखना, षट् आवश्यकोंमें न्यूनता या अधिकताका न होना तपोविनय है। जो तपमें अधिक हैं उनमें और स्वयं तपमें भक्ति करना और जो अपनेसे तपमें हीन है, उनका तिरस्कार न करना यह श्रुतानुसारी आचरण करने वाले साधु की तपोविनय है।

उपचारविनय—उपचार विनय तीन प्रकारकी है—कायिक, वाचिक, मान-सिक। तीनोंके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद हैं। गुरु आदिके आने या जाने पर खड़े होना, कृतिकर्म, शरीरावनति, हाथ जोड़ना, शिरोनति, गुरुके उठने या बैठने पर उनके सामने जाना, गुरुके साथ जाने पर उनके पीछे शरीर प्रमाण भूमिका 'अन्तराल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखकर गमन, नीचा-आसन, नीचा गमन, नीचास्थान, नीचे सोना, आसनदान आदि कायिक विनय हैं।

सम्मानपूर्ण, हितकर, मित, मधुर, कोमल व नम्रतापूर्ण सूत्रानुसारी वचन बोलना वचन विनय है। कृषि आदि आरंभ वाले गृहस्थोंके वचन न बोलकर रागद्वेषरहित वचन बोलना चाहिए। यह वाचिक विनय है।

पापको लाने वाले परिणामोंको न करना, गुरुको प्रिय तथा अपनेको हितकरमें परिणाम लगाना मानसिक विनय है। यह सब प्रत्यक्ष विनय हैं।

परोक्ष विनय वह है, जो गुरु की अनुपस्थितिमें उनकी आज्ञा-पालनमें की जाती हैं।

इस विनयकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा गया है कि विनय मोक्षका द्वार है। इससे संयम, तप और ज्ञानकी प्राप्ति होती है। विनयसे आचार्य और सर्व संघ अपने वशमें किया जाता है। कायिक और वाचिक विनय करनेसे आचारशास्त्रमें कहे गये क्रमका प्रकाशन होता है। कीर्ति, मित्रता, मानका विनाश गुरुजनोंका बहुमान और तीर्थंकरोंकी आज्ञाका पालन व गुणोंकी अनुमोदना ये विनयमें गुण है। विनयसे मानकषायका नाश तथा ज्ञान व मोक्षकी प्राप्ति होती है।[1]

वैयावृत्य—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक तथा गणधर इन पाँच और गच्छमें स्थित बाल एवं वृद्ध मुनियोंकी अपनी शक्तिके अनुसार वैयावृत्य करनी चाहिए। गुणमें अधिक उपाध्याय, तपश्चरण कर रहे मुनि, शिक्षा प्राप्त कर रहे मुनि तथा साधुओंकी उपद्रव हो जाने पर तथा निरुपद्रव रहने पर भी वैयावृत्य करनी चाहिए। वैयावृत्य तप है और तप से निर्जरा होती है।

सोनेके स्थानकी, बैठनेके स्थानकी और उपकरणोंकी प्रतिलेखना करना, योग्य आहार, योग्य औषधि देना, स्वाध्याय कराना, अशक्त मुनिके शरीरका मल शोधन करना, एक करवटसे दूसरी करवट लिटाना ये उपकार वैयावृत्य है। जंगली जानवरों से, दुष्ट राजा से, नदीको रोकनेसे और भारी रोगसे जो पीड़ित हैं, विद्या आदिसे उनका उपसर्ग दूर करना चाहिए। जो दुर्भिक्षमें फँसे हैं, उन्हें सुभिक्ष देशमें लाना, धैर्य प्रदान करना, संरक्षण करना इत्यादि वैयावृत्य हैं।

वैयावृत्य न करनेसे तीर्थङ्करोंकी आज्ञाका भंग, धर्मका नाश तथा आचारका लोप होता है। वैयावृत्य करनेसे श्रद्धा, वात्सल्य, भक्ति, पात्रलाभ, तप, धर्म, तीर्थपरम्परा

---

१. भगवती आराधना, तथा १३०-४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का अविच्छेद तथा समाधि आदि गुण प्राप्त होते हैं।[1] तीर्थंकर नामक पुण्यकर्मका बंध होता है।[1]

अपराजितसूरि वैयावृत्यके आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शिक्षक, ग्लान, गण, कुल संघ, साधु और मनोज्ञके भेदसे दस भेद बताते हैं[3]।

स्वाध्याय—स्वाध्यायसे आत्महितका ज्ञान होता है। रत्नत्रयमें निश्चलता आती है। दूसरोंको उपदेश देनेकी सामर्थ्य आती है। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय (परिवर्तन) तथा धर्मोपदेशके भेदसे स्वाध्यायके पाँच भेद हैं।[4] सूत्रके अर्थपूर्वक निर्दोष ग्रन्थके पढ़नेको वाचना कहते हैं। सन्देहको दूर करनेके लिए अथवा निश्चित अर्थको दृढ़ करनेके लिए सूत्र और अर्थके विषयमें पूछना प्रश्न या पृच्छना है। जाने हुए अर्थका चिंतन करना अनुप्रेक्षा है। कण्ठस्थ करना आम्नाय है। कथा चार प्रकारकी हैं—आक्षेपणी, निक्षेपणी, संवेगनी और निर्वेदनी। उनके उपदेशको धर्मोपदेश कहते हैं।

ध्यान—'उत्तम संहनन वालेके एकाग्रचिन्ता-निरोधको ध्यान कहते हैं।' चिन्ताका अर्थ चैतन्य है। वह चैतन्य अन्य-अन्य पदार्थोंको ज्ञानपर्यायरूपसे प्रवर्तन करता है, अतः यह परिस्पन्द वाला है, उसका निरोध अर्थात् एक ही विषयमें प्रवृत्ति निरोध है। तत्त्वार्थसूत्रगत यह सूत्र जो ध्यान मुक्तिके कारण हैं, उनको (धर्म एवं शुक्लध्यानको) लक्ष्य करके कहा गया है। यद्यपि आर्त एवं रौद्र ध्यानमें भी ध्यानसामान्यका लक्षण (एकाग्रचिन्तानिरोध) घटित होता है। किन्तु वह अशुभरूप तथा संसारका कारण है। इस तरह ध्यान चार प्रकारका कहा गया है।

संसारसे भीत क्षपक परीषहोंसे पीड़ित होने पर भी आर्त और रौद्र ध्यान नहीं करता, क्योंकि ये समीचीन ध्यानको नष्ट कर देते हैं।

आर्त्तध्यानके भेद—अनिष्टसंयोग, इष्टवियोग, परीषह तथा निदानसे उत्पन्न कषायसहित ध्यानको आर्तध्यान कहते हैं।[5]

रौद्रध्यानके भेद—चोरी, झूठ, हिंसा तथा छहप्रकारके आरम्भको लेकर जो कषायसहित ध्यान है, वह चार प्रकारका रौद्रध्यान है।[6]

---

१. भगवती आराधना, गाथा ३०६-१२।
२. भगवती आराधना, गाथा ३३०।
३. भगवती आराधना, विजयोदया, पृ० २८८।
४. मूलाचार, ५/१९६।
५. भगवती आराधना, गाथा १६९७
६. भगवती आराधना, गाथा १६९८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मध्यानके भेद—धर्मध्यानके लिए पर्वतकी गुफा, वृक्षका कोटर, नदीका किनारा, श्मशान, उजड़ा हुआ उद्यान, शून्य मकान जैसे एकान्त स्थानका चुनाव करना चाहिए, जहाँ ध्यानमें, विघ्न करने वाले पशु, पक्षी या मनुष्य न हों, इन्द्रिय और मनको चंचल करने वाले साधन न हों, स्पर्श अनुकूल हो अर्थात् शीत, उष्ण धूप और वायु आदिसे रहित हो, जमीन साफ सुथरी हो। ऐसे स्थानमें स्थित होकर धीरे-धीरे श्वासोच्छ्वास रोकते हुए नाभि ऊपर हृदयमें या मस्तकपर अपने मनोव्यापारको रोकना चाहिए। यह ध्यानकी बाह्यसामग्री है। कषायजन्य समस्त विकल्पोंको रोकना आभ्यन्तर सामग्री है। धर्मध्यानके भी चार भेद हैं आज्ञाविचय, अपायविचय विपाकविचय और संस्थानविचय।

आज्ञाविचय—सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट तत्त्वोंका ध्यान करना कि वीतराग सर्वज्ञने इसका स्वरूप इस प्रकार कहा है—वे इसी प्रकार हैं आज्ञाविचय है।[1]

अपायविचय—कल्याणप्राप्तिके उपायोंका ध्यान करना अर्थात् दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओंका विचार करना तथा जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंका विचार करना अपायविचय है।[2]

विपाकविचय—जीवोंके एक भव या अनेक भवके पुण्यकर्म और पापकर्मके फलका तथा उदय, उदीरणा, संक्रम, बन्ध और मोक्षका विचार करना विपाकविचय है।[3]

संस्थानविचय—तीनों लोकोंके संस्थानका विचार करना संस्थानविचय है। इसी सन्दर्भमें बारह अनुप्रेक्षाओंका चिंतन भी संस्थानविचय है।[4]

आर्जव, लघुता, मार्दव, उपदेश और जिनागममें स्वाभाविक रुचि ये धर्मध्यानके लक्षण हैं। आर्जव आदि धर्मध्यानके कारण भी हैं, क्योंकि उनके अभावमें धर्मध्यान नहीं होता। वाचना, पृच्छना, परिवर्तन तथा अनुप्रेक्षा भी धर्मध्यानके अवलम्बन हैं, क्योंकि स्वाध्यायके अभावमें धर्मध्यान संभव नहीं है। उसी प्रकार अनुप्रेक्षायें भी ध्यानकी अवलम्बन हैं।[5]

शुक्लध्यान—क्षपक जब धर्मध्यानको पूर्ण कर लेता है तब वह अतिविशुद्ध लेश्या के साथ शुक्लध्यानको ध्याता है, क्योंकि परिणामोंकी संतति उत्तरोत्तर निर्मलताको

---

१. भगवती आराधना, गाथा १७०६।

२. भगवती आराधना, १७०७

३. भगवती आराधना, १७०८-९

४. भगवती आराधना, गाथा १७०९।

अह तिरियउड्ढलोए विचिणादि सपज्जए ससंठाणे।
एत्थे व अणुदाओ अणुपेगाओ वि विचिणादि ॥

५. भगवती आराधना, गाथा १७०४-५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लिए हुए होती है, अर्थात् धर्मध्यानमें परिपूर्ण हुआ अप्रमत्त संयमी ही शुक्लध्यान करनेमें समर्थ होता है।[1]

शुक्लध्यानके भी चार भेद हैं—पृथक्त्वसवितर्कसवीचार, सवितर्कएकत्व अवीचार, सूक्ष्मक्रिय तथा समुच्छिन्नक्रिय।

पृथक्त्व-सवितर्क-सवीचार—उपशान्तमोह गुणस्थान वाले मुनि तीन युगोंके द्वारा द्रव्योंको बदल बदल कर ध्यान करते हैं, इससे इसे पृथक्त्वसवीचार कहते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यानके स्वामियोंको लेकर मतभेद पाया जाता है।[2]

श्रुतज्ञानको वितर्क कहते हैं। चौदहपूर्वोंके अर्थमें कुशल साधु ही इस शुक्लध्यान को ध्याता है। अतः यह सवितर्क है। ध्येय द्रव्योंके बदलनेसे इसे पृथक्त्व, तथा तीनों योगोंकी सहायतासे होनेसे इसे सवीचार कहते हैं।[3]

एकत्व-सवितर्क-अवीचार—दूसरे शुक्लध्यानका नाम एकत्ववितर्क अवीचार है। इसमें एक ही योगका अवलम्बन लेकर एक ही द्रव्यका ध्यान किया जाता है। एक ही द्रव्यका अवलम्बन लेनेसे इसे एकत्व कहते हैं। यह ध्यान किसी एक ही योगमें स्थित आत्माके होता है अतः अवीचार है। इसका स्वामी क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती मुनि होता है। यह ध्यान भी सवितर्क है, क्योंकि श्रुतका धारी चौदह पूर्वोंका ज्ञाता ही इस दूसरे ध्यानको ध्याता है।[4]

सूक्ष्मक्रिय—इसका नाम अवितर्क अवीचार भी है। इसका अवलम्बन श्रुत नहीं है, इसीलिए वितर्कसे रहित है। पूर्वमें अवलम्बन किये हुए अर्थको छोड़कर अर्थान्तर-के अवलम्बनको वीचार कहते हैं। वह भी इसमें नहीं होता, अतः यह अवीचार है। इसमें श्वासोच्छ्वासकी क्रिया सूक्ष्म हो जाती है। यह सूक्ष्मकाययोगके होनेपर होता है अतः इसे सूक्ष्मक्रिय कहते हैं। इस तृतीय ज्ञानको 'सव्वभावगंद' कहा गया है। इस शब्दकी व्याख्यामें अपराजितसूरि स्पष्ट करते हैं कि 'तृतीयं शुक्लध्यानं त्रिकालगोचरा-नन्तसामान्यविशेषात्मकद्रव्यषट्कयुगपत्प्रकाशनरूपम्' अर्थात् त्रिकालवर्ती अनन्त सामान्यविशेषात्मक धर्मोंसे युक्त छह द्रव्योंको एक साथ प्रकाशित करता है, अतः सर्वगत है।[5]

---

१. भगवती आराधना, गाथा १८७१ व उसकी टीका।

२. देखिए, चतुर्थ परिच्छेद।

३. भगवती आराधना, गाथा १८७४-७६।

४. भगवती आराधना, गाथा १८७७-७९।

५. भगवती आराधना, गाथा १८८०-८१।

१६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समुच्छिन्नक्रिय[1]—इस चतुर्थ शुक्लध्यानको अवितर्क, अवीचार, अनिर्वति, अक्रिय, शैलेशी, निरुद्धयोग, अपश्चिम और उत्तम शुक्ल ध्यान कहा गया है। इसका ध्यान निरुद्धयोगी शरीरत्रिकका नाश करते हुए सर्वज्ञ केवली करता है।

तीसरे और चौथे शुक्ल ध्यानमें अंतर बताते हुए शिवार्य और अपराजितसूरि कहते हैं कि सूक्ष्म काययोगमें स्थित केवली तीसरे शुक्ल ध्यानको तथा अयोग केवली-चतुर्थ शुक्ल ध्यानको करता है।

पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने प्रस्तुत अठारहसौ बयासी संख्यावाली गाथाको तृतीय शुक्लध्यान विषयक माना है—

अवियक्कमवीचारं अणियट्टिमकिरियं च सीलेसिं।
ज्झाणं णिरुद्धयोगं अपिच्छिमं उत्तमं सुक्कं॥

इसीलिए वे कहते हैं कि 'तीसरेके पश्चात् भी चतुर्थ शुक्लध्यान होता है, फिर भी तीसरेको विवक्षाभेदसे अपश्चिम कहा है।'[2] वस्तुतः उक्त गाथामें चतुर्थ भेदका वर्णन है। इसीलिए अपराजितसूरि इस गथाके 'अकिरियं' आदि शब्दोंकी व्याख्यामें 'समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगपरिस्पन्दनक्रियाव्यापारत्वात् अक्रियम्' 'अपश्चिमं—न विद्यते पश्चाद्भाविध्यानमस्मादित्यपश्चिमम्' तथा 'उत्तमं सुक्कं' 'परमं शुक्लम्' लिखते हैं। इसलिए हमें यह माननेमें संदेह नहीं है कि यह शुक्लध्यानके चतुर्थ भेदका वर्णन है।

व्युत्सर्ग—उपधिके त्यागको व्युत्सर्ग कहते हैं। इसके दो भेद हैं आभ्यन्तर और बाह्य। मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्यादि षट् दोष, चार कषाय चौदह आभ्यन्तर ग्रन्थ या परिग्रह हैं। इनका त्याग आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है तथा क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, शयन, आसन, कुप्य, भांड आदि दस बाह्य परिग्रह हैं। इनका त्याग बाह्य व्युत्सर्ग है।[3]

पंचाचार—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप इन पाँचमें अतिचाररहित प्रवृत्ति करना पंचाचार है।[4] मूलाचारका पाँचवां अधिकार पंचाचाराधिकार हो है, जिसमें इनका विस्तारसे दोसौसे भी अधिक गाथाओंमें वर्णन है। यहाँ विनय नामक तपके अन्तर्गत दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपका वर्णन हो चुका है। सम्यक्-

---

१. भगवती आराधना, गाथा १८८२-८३।
२. भगवती आराधना, भाग २, पृ० ८३९।
३. मूलाचार ५/२०९–११
४. मूलाचार ५/२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रका निरतिचार होना क्रमशः दर्शनाचार, ज्ञानाचार और चारित्राचार हैं। आभ्यन्तर और बाह्य तपोंका यथाशक्ति निर्दोष आचरण करना तपाचार हैं। अपने बल-वीर्यको न छिपाते हुए आत्माको धर्ममें लगाना वीर्याचार हैं।

परीषह-जय—साधुको क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण, दंशमशक, अचेलभाव, अरति, रति, स्त्री, चर्या, निषद्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, तृणस्पर्श, जल्ल, सत्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन[1] इन बाईस परीषहोंको सहन करना चाहिए।

द्वादशानुप्रेक्षा—मूलाचार और भगवती आराधना दोनोंमें ही द्वादश अनुप्रेक्षाओंका विस्तारसे वर्णन है। मूलाचारका आठवां अध्याय अनुप्रेक्षा अधिकार है। भगवती आराधनामें धर्मध्यानके भेद संस्थानविचयके वर्णनके अवसरपर अनुप्रेक्षाओंका वर्णन किया गया है।

अध्रुव—देव, मनुष्य और तिर्यंचों सहित यह समस्त लोक विनाशशील हैं। ऋद्धियाँ स्वप्नके समान हैं। सांसारिक सुख जलके बुलबुलेकी तरह अध्रुव है। पक्षियोंकी भाँति कुछ कालके लिए एक परिवाररूपी वृक्षपर आ मिलते हैं।

अशरण—अशुभ कर्मके उदय होनेपर बुद्धि नष्ट हो जाती है। कोई उपाय नहीं सूझता। अमृत भी विष हो जाता है, तृण शस्त्र और अपने ही शत्रु हो जाते हैं। कर्मके उपशम होनेपर मूर्ख भी बुद्धिमान हो जाता है, उसे भी उपाय सूझने लगता है। इसप्रकार जीवके सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप ही रक्षक हैं।

एकत्व—जीव बन्धु-बान्धवोंके निमित्त और शरीरके निमित्त पाप करता है। पर बान्धवोंके तथा अपने शरीरके पोषणके लिए जो पापकर्म करता है, उसका फल अकेला ही भोगता है। बन्धुगण देखते हुए भी उसका प्रतिकार नहीं करते। इस लोक और परलोकमें जीव अकेला ही कर्मफल भोगता है; क्योंकि उसके कर्मफलका बंटवारा करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है।

अन्यत्व—समस्त जीवराशि अपनेसे अन्य है, ऐसा चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। सांसारिक सम्बन्ध क्षणिक हैं। शत्रु भी उपकार करनेसे मित्र, मित्र अपकार करनेसे शत्रु हो जाता है।

संसारानुप्रेक्षा—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये चारों संसारके हेतु हैं। संसाररूपी महासमुद्रमें तीव्र दुःखरूपी जल भरा है। कर्मरूपी मलसे भरा हुआ जीवनरूपी जहाज शुभ-अशुभ परिणामरूप वायुसे युक्त अतिभयंकर संसार-महासागरमें प्रवेश करके चिरकाल तक भ्रमण करता हैं।

१. मूलाचार ५/५७-५८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारवाही मनुष्य तो किसी देश और कालमें अपना भार उतार कर विश्राम कर लेता है किन्तु शरीरवाही जीवको एक क्षणके लिए भी विश्राम नहीं मिलता है। औदारिक और वैक्रियिक शरीरोंके छूट जानेपर भी कार्माण और तैजस शरीर बराबर बने रहते हैं।

लोकानुप्रेक्षा—संसारमें सब सम्बन्ध परिवर्तनशील हैं। वे पुण्यवान् यतिजन धन्य हैं, जो उक्त संसारदशासे मुक्त हो गये हैं। यह लोकानुप्रेक्षा है। लोकदशाका चिन्तन करनेसे वैराग्य उत्पन्न होता है।

अशुभत्वानुप्रेक्षा—भगवती आराधना तथा मूलाचार दोनोंमें ही अशुचित्वके स्थानपर अशुभत्व अनुप्रेक्षा कही गई है। मूलाचारमें यद्यपि संग्रह-गाथामें अशुचित्व-का नामोल्लेख है, पर इसको संस्कृत छाया अशुभत्वं ही है। टीकाकार वसुनन्दि-के समय तक यहाँ मूल शब्द असुहत्तं ही रहा होगा, क्योंकि उन्होंने मूलशब्द अशुभत्व ही मानकर उसका अर्थ अशुचित्व किया है। अन्यत्र सर्वत्र पाँच गाथाओं में अशुभत्व अनुप्रेक्षाके वर्णनमें अशुभ शब्दका ही प्रयोग है।

देह, अर्थ और काम अशुभ हैं। देह अपवित्र है, यह चिन्तन अशुभत्वानुप्रेक्षा है।

आस्रवानुप्रेक्षा—आस्रवके कारण संसारमें परिभ्रमण करना पड़ता है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग आस्रव हैं।

संवरानुप्रेक्षा—आत्माके जिन परिणामोंसे नवीन कर्मरूप पुद्गलोंका आस्रव रुकता है, उन परिणामोंको संवर कहते हैं। मिथ्यात्व सम्यक्त्वद्वारा व हिंसा आदि व्रतों द्वारा रोके जाते हैं। संवरके स्वरूपका चिंतन संवर अनुप्रेक्षा है।

निर्जरानुप्रेक्षा—बद्ध कर्मोंके क्षयको निर्जरा कहते हैं। तपसे निर्जरा होती है। जो कर्म अपना फल दे चुके हैं, वह सविपाक निर्जरा है। जिन कर्मोंका विपाककाल नहीं आया है, उन्हें तप आदिके द्वारा बलात् उदयमें लाकर क्षय करना अविपाक-निर्जरा है। सविपाक निर्जरा तो सभीके हुआ करती है। तप करनेसे सभी कर्मोंको निर्जरा होती है।

धर्मानुप्रेक्षा—भावपूर्वक धर्मका पालन करनेसे सांसारिक सुखके साथ मोक्ष-सुख प्राप्त होता है। जिनेन्द्रका धर्मचक्र जगतमें जयशील है। सम्यग्दर्शन उसको नाभि है। द्वादशांग श्रुत उसके अर हैं और व्रत तथा तप उसके दो नेमि हैं। यह धर्म उत्तम क्षमादि दश प्रकारका कहा गया है।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा—संसारमें भटकते हुए कर्मलिप्त जीवके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् तपश्चरणमय धर्ममें बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्ति दुर्लभ है। अनन्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसारमें मनुष्य-भव पाना दुर्लभ है। मनुष्य-पर्याय प्राप्त करने पर भी देश, कुल, रूप, आरोग्य, आयु, बुद्धि, श्रवण, ग्रहण आदि सुलभ नहीं है। एक बार प्राप्त होकर नष्ट हुई दीक्षाभिमुख बुद्धिरूप बोधि संसारमें भ्रमण करने वाले जीवको पुनः प्राप्त होना दुर्लभ है। जो जिन भगवानके द्वारा उपदिष्ट धर्ममें प्रबुद्ध होते हैं तथा जो दीक्षाभिमुख बुद्धिको प्राप्त करके भावपूर्वक धर्मको अपनाते हैं वे महाधन्य हैं।

दशधर्म—मुनियोंको क्षमा आदि दश धर्मोंका पालन करना चाहिए, ये दश धर्म हैं—

खंती मद्दव अज्जव लाघव तव संजमो अकिंचणदा।
तह होदि बंभचेरं सच्च चागो य दस धम्मा॥[1]

क्षमा, मार्जव, आर्जव लाघव (शौच), तप, संयम, अकिंचनता, ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग।

दश अनगार-भावनाएं—मूलाचारके अनगार-भावनाधिकारमें दश अनगारभावनाओंका भी उल्लेख है, जो इस प्रकार हैं—

लिंगं वदं च सुद्दी वसदिविहारं च भिक्ख ठाणं च।
उज्झणसुद्दी य पुणो वक्कं च तवं तथा झाणं॥[2]

अर्थात् लिंग, व्रत, वसति, विहार, भिक्षा, ज्ञान, उज्झन, वाक्य, तप और ध्यान इनकी शुद्धियोंपर ध्यान देना चाहिए। उज्झन शुद्धिका अर्थ शरीरसे ममत्व त्याग है।

लिंगशुद्धि—जीवनको चल चपल जानकर मुनि कामभोगोंसे उदासीन होकर मनुष्यत्वको असार जानकर मुनिव्रत धारण करते हैं। गृहवाससे विरक्त होकर बन्धु, बान्धव, धनादिको निर्माल्य पुष्पोंकी तरह त्याग देते हैं। वे जन्म-मरणसे उद्विग्न होते हैं। वर्धमानका प्रवचन उन्हें अच्छा लगता है। यह उनकी लिंगशुद्धि है।

व्रतशुद्धि—वे समस्त ग्रंथोंसे मुक्त, निर्मम, अपरिग्रही, यथाजात, शरीरसे ममत्व त्यागकर जिनवरके धर्ममें मन लगाते हैं। पंच महाव्रत धारण करते हैं।

वसति—जहां सूर्यास्त हो जाता है, वहीं अनिकेत वास करने लगते हैं। ग्राममें एक रात निवास करते हैं। नगरमें पांच दिन निवास करते हैं। एकाकी ही गिरिकंदराओंमें निवास करते हैं। वसतिकामें अप्रतिबद्ध रहकर ममत्व नहीं करते। शून्यागार, श्मशान आदि वीरवसतिकाओंमें निवास करते हैं। जहां वनोंमें वन्य प्राणी भयानक आवाज करते हैं, वहां श्रमणसिंह निवास करते हैं।

विहार—मुक्त, निरपेक्ष, निरुद्विग्न होकर वायुकी तरह स्वच्छन्द विहार करते

---

१. मूलाचार ९/६२

२. मूलाचार ९/३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। पृथ्वीपर विहार करते हुए प्राणियोंको पीड़ा नहीं देते। वनस्पति आदिको पीड़ा नहीं पहुँचाते।

भिक्षा—नव-कोटि-परिशुद्ध, दोषरहित भोजन परगृहमें परके द्वारा प्रदत्त पाणि-पात्रमें करते हैं। पिण्डशुद्धिके लिए पिण्डशुद्धि नामक स्वतंत्र अधिकार ही है। जैसा भी रुखा-सूखा भोजन मिलता है, उसे प्राणधारणके निमित्त ग्रहण कर लेते हैं। भोजन प्राप्त होनेपर प्रसन्न, न मिलने पर अप्रसन्न नहीं होते। न किसीसे याचना ही करते हैं। मौनव्रतसे मुनि भिक्षाके लिए निकलते हैं। पकाना या पकवाना आदि आरंभ नहीं करते, भिक्षामात्रसे संतुष्ट रहते हैं। फल, कंद, मूल, बीज और जो अनग्निपक्व अर्थात् कच्चा हो, उसे अनशनीय समझकर त्याग देते हैं।

ज्ञान—स्वाध्यायमें रत रहते हैं। सूत्रार्थका चिंतन करते हुए रात्रिमें भी सोते नहीं हैं। मनरूपी प्रचंड हाथी, जो कि विषय-राजमार्गमें बिगड़ गया है, ज्ञानांकुशसे वशमें करते हैं।

उज्झनशुद्धि—उज्झनका अर्थ शरीरसे ममत्व त्याग है। शरीरसे ममत्व त्यागने पर ही वीरवसतियोंमें निवास तथा विहार संभव है।

वाक्यशुद्धि—भाषासमिति तथा सत्यवचन द्वारा वे वाक्यशुद्धिका पालन करते हैं।

तपशुद्धि—चारित्र, तप तथा संयमकी रक्षा करते हैं।

ध्यानशुद्धि—मेरुकी तरह अकम्पित रहकर ध्यान करते हैं। श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, दान्त, भदन्त आदि श्रमणके पर्याय हैं।

पिण्डशुद्धि[1]—मुनियोंको उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजन, प्रमाण, अंगार, धूम, कारण इन आठ दोषोंसे रहित आहारका ग्रहण करना चाहिए।

उद्गम दोष—आधाकर्म, औद्देशिक, अध्यधि, पूति, मिश्र, स्थापित, बलिप्रावर्तित, प्राविष्करण, क्रीत, प्रामृष्य, परिवर्तक, अभिघट, उद्भिन्न, मालारोह, अच्छेद्य, अनिसृष्ट ये १६ उद्गम दोष हैं।

उत्पादन दोष—धात्रीकर्म, दूत, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी, पूर्वस्तुति, पश्चात्स्तुति, विद्या, मंत्र, चूर्णयोग तथा मूल ये सोलह उत्पादन दोष हैं।

एषणा दोष—शंकित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संव्यवहरण, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त व त्यक्त ये एषणा दोष है।

संयोजन दोष—जो खाने और पीनेकी चीजोंको मिलाकर दे, वह संयोजन दोष है।

---

१. मूलाचार, पिण्डशुद्धि-अधिकार।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रमाण दोष—जो प्रमाणसे अधिक आहार दे वह प्रमाण दोष है।

इंगाल दोष—गृद्धिपूर्वक अंगार सहित भोजनको लाना और खाना इंगाल नामक दोष है।

धूम दोष—लेकर फिर निंदापूर्वक खाना धूम दोष है।

इनके अतिरिक्त बल, आयु, स्वाद, शरीरकी पुष्टि तथा तेजके लिए भी आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए। वह भी दोष है। उसे ज्ञान, संयम तथा ध्यानके लिए आहार ग्रहण करना चाहिए।

छह कारणोंसे भोजन करते हुए भी मुनि धर्मका आचरण करता है। छह कारणोंसे त्याग करते हुए भी धर्मका आचरण करता है। वेदनाके उपशमन, अपनी या दूसरोंकी वैयावृत्ति, षडावश्यक क्रिया, त्रयोदशविध संयमके पालन, प्राण-रक्षा तथा दश-धर्मोंके पालनके लिए आहार ग्रहण करना धर्मपालन है। आतंक, उपसर्ग, ब्रह्मचर्य प्राणिदया, तपस्या तथा शरीरत्याग (समाधिमरण) के लिए भोजनका त्याग भी धर्मपालनके लिए है। यह आहार मन, वचन, कायसे व कृत, कारित और अनुमोदनरूप नवकोटिपरिशुद्ध होना चाहिए।

चौदह मल—यह आहार नख, बाल, जन्तु, अस्थि, कंकड़, कुंड, पूति, चर्म, रुधिर, मांस, बीज, फल, कंद, मूल इन चौदह मलोंसे रहित होना चाहिए।

भिक्षाग्रहणका काल—सूर्योदय व सूर्यास्तके बाद तीन नाड़ी समय छोड़कर शेष बीचका काल भिक्षाका काल है। इस कालमें क्रमशः तीन, दो और एक मुहूर्त तक भोजन करना जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट है।

भोजन करते समय दो भाग भोजनसे तथा तृतीय भाग पानीसे भरना चाहिए। शेष चतुर्थ भाग वायुके संचरणार्थ रिक्त छोड़ देना चाहिए।

अन्तराय—काक, अमेध्य, छर्दिरोधन, रुधिर, अश्रुपात, जान्वधः आमर्श, जानूपरि व्यतिक्रम, नाभिके नीचेसे निर्गमन, त्यागी वस्तुका भक्षण, जन्तुवध, काकादिके द्वारा पिण्डका अपहरण, पाणिपात्रसे भोजनका गिरना, हाथोंसे जंतुवध, मांसादिका दर्शन, उपसर्ग, पैरोंके बीचसे जीवका निर्गमन, अथवा परिवेषकके हाथसे बरतनका गिर जाना, मल-व्युत्सर्ग, प्रस्रवण, अभोज्यगृहप्रवेश, मूर्च्छादिके कारण गिरना अथवा बैठना सर्पादिके द्वारा काटा जाना, भूमिस्पर्श, पेटसे कोड़े गिरना, अदत्तग्रहण, प्रहार, ग्रामदाह, पैर तथा हाथसे भूमि खुरचना आदि अन्तरायके कारण हैं।

वसतिकाके दोष[1]—पिण्डशुद्धिके उद्गम, उत्पादन और एषणा दोष वसतिकाके भी होते हैं।

---

१. भगवती आराधना, गाथा २३२ व उसकी टीका।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाधिमरण—भगवती आराधनामें समाधिमरणका विस्तृत वर्णन है। समाधि-मरण अथवा सल्लेखनाके तीन भेद हैं—भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी तथा प्रायोपगमन।

भक्तप्रत्याख्यान मरण साधु व गृहस्थ दोनों ही कर सकते हैं।[१] इसके दो भेद हैं—अविचार और सविचार। अविचारके तीन भेद हैं—निरुद्ध, निरुद्धतर और परम निरुद्ध। सहसा मरण उपस्थित होने पर किया जाने वाला मरण अविचार भक्तप्रत्याख्यान है। सोच-विचार कर निर्यापकाचार्य खोज कर क्रमशः भोजन-पानका त्याग सविचार भक्तप्रत्याख्यान है। शेष दो मरण विशिष्ट संहननधारक मुनियोंके होते हैं। भक्तप्रत्याख्यान ही इस कालके योग्य है।

इंगिनीमरणका इच्छुक साधु संघसे अलग होकर एकाकी निवास करता है। स्वयं अपनी परिचर्या करता है। इनके तीन शुभ संहननोंमें एक होता है। निरन्तर अनुप्रेक्षा-में लीन रहता है। पैरमें काँटा तथा आँखमें धूलि चुभने पर भी स्वयं दूर नहीं करता। भूख-प्यासका प्रतिकार नहीं करता।

प्रायोपगमनको विधि भी इंगिनीके समान ही है। प्रायोपगमनमें तृणोंके संस्तर का भी निषेध है। उनके लिए स्वयं तथा दूसरोंकी भी परिचर्याका निषेध है।

संसारमें जीवन-मरण दोनों हो यथार्थ हैं। अतः संसारी प्राणियोंको श्रेष्ठ मरण-के लिए जीवनभर प्रशिक्षण लेना तथा अन्तमें तटस्थ वृत्तिसे मरणका वरण करना समाधिमरण है।

आर्यिकाओंका सामाचार—[२] आर्यिकाओंका सामाचार भी मुनियोंके तुल्य ही है। आर्यिकाओंका एक ही गणधर होता है, जो गंभीर, दुर्धर्ष, मितवादी, प्रसन्नचित्त, चिरप्रव्रजित और गृहीतार्थ होना चाहिए। इन गुणोंसे रहित यदि आर्यिकाओंका गणधरत्व करता है, तो गच्छादिका उचित नियंत्रण नहीं कर सकता। आर्यिकाओंको गणधरके अनुकूल प्रवर्तन करना चाहिए।

आर्यिकाओंको परस्परमें अनुकूल होकर एक-दूसरेकी अभिरक्षा करते हुए रोष, वैर, माया आदिका त्याग कर मर्यादानुरूप आचरण करना चाहिए। अध्ययनमें, पठितशास्त्रके परिवर्तनमें, श्रवणमें, कथनमें, अनुप्रेक्षाओंमें और तप, विनय और संयममें मन, वचन, कायसे उपयोग युक्त होना चाहिए।

शरीरसे ममत्वरहित होना चाहिए। वस्त्र तथा वेश अविकार होना चाहिए। उन्हें ऐसी वसतिकामें रहना चाहिए, जो गृहस्थोंके घरसे संयुक्त न हो, यतिओंके निवाससे दूर हो, चोर आदिके उत्पातसे दूर हो। ऐसी वसतिकामें दो-तीन आर्यिकायें

---

१. भगवती-आराधना, गाथा ७३।

२. मूलाचार, सामाचाराधिकार ४/१८७-१९६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साथ निवास करें। किसीके घर अकारण नहीं जाना चाहिए। अवश्य गमन करना हो, तो गणिनीसे पूछकर और मिलकर जाना चाहिए।

आर्यिकाओंको रोदन, बच्चोंको नहलाना, भोजन खिलाना, पकाना तथा असि, मसि, कृषि आदि आरंभ नहीं करना चाहिए।[1]

विरतोंके पादप्रक्षालन तथा गीत आदि नहीं गाना चाहिए। तीन, पांच तथा सात आर्यिकाएँ, स्थविराओंके साथ भिक्षाके लिए गमन करती हैं। वे पांच, छह अथवा सात हाथ दूरसे गवासन द्वारा आचार्य, उपाध्याय और साधुओंकी वंदना करती हैं।

शेष सामाचार मुनियोंके समान हैं। इस प्रकार आचरण करने वाली आर्यिकायें कीर्ति, सुख, प्रसिद्धि पाकर अन्तमें सिद्ध होती हैं।

१. आर्यिकायें व्रतधारणके साथ ही उक्त कार्योंका त्याग कर चुकती हैं। फिर इन सबका उल्लेख कर निषेधका क्या प्रयोजन हो सकता है?

उक्त आचार-संहितासे स्पष्ट है कि यापनीयोंकी श्रावक तथा मुनिकी आचार-संहिता प्रायः दिगम्बरोंके सदृश है। यापनीय भी ज्ञान-चारित्रकी श्रेष्ठताके समर्थक थे। यापनीय मुनि अपवाद-स्थितिमें वस्त्र-पात्र ग्रहण करते थे, रुग्णावस्थामें उपाश्रयमें अन्य मुनि द्वारा लाया हुआ भोजन-पान ग्रहण करते थे। यह भी उक्त आचार-संहितासे विदित होता है। एक क्षपकके समाधिमरणके लिए अधिक-से-अधिक अड़तालीस तथा कम-से-कम दो निर्यापकाचार्य कहे गये हैं। ये निर्यापकाचार्य क्षपकके समाधि-मरणमें सहायताके लिए तत्पर रहते थे।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

षष्ठ परिच्छेद

यापनीयोंका प्रदेय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यापनीयोंका प्रदेय

यापनीय सम्प्रदायने आरम्भिक शताब्दियोंमें ही जन्म लेकर लगभग १४वीं शताब्दी तक जैन साहित्यको अभिवृद्ध व जैन संस्कृतिको विकसित किया है। इसके शिलालेखीय उल्लेख आरम्भिक शताब्दियोंसे ही मिलते हैं। यह उदारचेता संघ अनेकान्तमयी जैन संस्कृतिका परिपालक रहा है। यह कैसे लुप्त हो गया, यह चिन्तनीय है। इस विलुप्त सम्प्रदायका जैन साहित्य और संस्कृतिके विकासमें अविस्मरणीय योगदान है।

आचार और विचार दोनों ही दृष्टियोंसे दिगम्बरोंसे अधिक मेल खानेसे तथा दिगम्बर यतियोंके मध्य इनका निवास होनेके कारण इनका साहित्य प्रायः दिगम्बर साहित्यमें अन्तर्भुक्त हो गया जान पड़ता है।

यापनीयोंके प्रदेयोंका हम सैद्धांतिक, साहित्यिक, सामाजिक-सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टियोंसे यहाँ संक्षेपमें विमर्श करते हैं।

धार्मिक—जैन मुनिकी साधना कठोर साधना है। जैन मुनि आत्माभिमुख होता है। इस आत्माभिमुखतामें देहका भान बिसर जाता है। आत्माकी लगनमें बाह्य ममताएँ स्वतः छूट जाती हैं। वह इतना आत्मबल संचित कर लेता है कि भीषण उपसर्गों और परीषहोंको निर्विकार भावसे सहन करनेमें समर्थ हो जाता है।

उत्कट बलसे रहित मुनियोंके लिए इस कठोर मार्गमें स्खलनाओंकी भी संभावनाएँ रहती हैं। भीषण दुर्भिक्ष आदि कारणोंसे इस आदर्श कठोर साधनामें शिथिलाचारिताने प्रवेश किया। शिथिलाचारिताका प्रवेश ही सम्प्रदायभेदकी जड़ है।

सम्प्रदायभेद जब पनप रहा था, साधुओंका एक समुदाय भगवान महावीरके आदर्श मार्गमें किंचित् भी सरलताका प्रवेश वर्ज्य मान रहा था, तो दूसरा समुदाय भीषण परिस्थितियोंमें शारीरिक संहननकी मंदतामें कुछ परिवर्तनको अनिवार्य मान रहा था। अपनी-अपनी मान्यताके आग्रहने उनमें कट्टरताका समावेश कर दिया था।

इन दोनों मान्यताओंके बीचमें एक ऐसा भी साधु समुदाय था, जिसने अहिंसक भगवान महावीरके तीर्थके साधुओंकी इस वैचारिक हिंसाको रोकना चाहा। दोनों मान्यताओंमें समन्वय करना चाहा। उन्होंने एक ओर महावीर द्वारा उपदिष्ट साधना-मार्गको उत्सर्ग स्वीकार किया, साथ ही परिवर्तित परिस्थितियोंमें समयको देखते हुए शारीरिक संहननका विचार कर अशक्त साधुओंके लिए कुछ अपवाद मार्गको भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वीकार कर लिया। कट्टरता और असहिष्णुताको त्याग कर एकीकरणका मार्ग प्रशस्त किया। समर्थ साधुके लिए चारित्रको दृढ़तापूर्वक पालनेका ही उपदेश दिया, अपवाद अनिवार्य एवं विशिष्ट परिस्थितियोंमें मान्य किये गये। अपवाद मार्ग कहकर शिथिलाचारके अनावश्यक प्रवेशको भी रोक दिया, साथ ही अशक्तोंके लिए मुनिद्वारको बिल्कुल बंद भी नहीं किया।

यह उदारचेता सम्प्रदाय यापनीय सम्प्रदाय था। पर साम्प्रदायिक विद्वेषोंमें, संघर्षोंमें इसकी उदारताको कहीं भी प्रश्रय नहीं मिला। दिगम्बरोंने इसे जैनाभास कहा, श्वेताम्बरोंने उपेक्षासे मुँह फेर लिया।

इस सम्प्रदायके जितने भी आचार्य ज्ञात हुए हैं, उनके साहित्यसे स्पष्ट है कि इन साधुओंने कहीं भी अपने सम्प्रदाय आदिका उल्लेख नहीं किया है। साथ ही न तो इनके साहित्यमें कहीं भी अपनेसे विपरीत मान्यतावालोंके प्रति आक्रोश या आक्षेप ही प्राप्त होता है। वे अपनी मान्यताओंका भी उल्लेख करनेसे बचे हैं। उदाहरणार्थ भगवती आराधना व विजयोदयामें कहीं स्पष्टतः स्त्रीमुक्ति या केवलिभुक्तिका विधान नहीं है। यही बात स्वयंभूके विषयमें हैं। उन्होंने तो अपने हरिवंशपुराणको स्वसमय और परसमय दोनों विचारोंको सहन करने वाली कहा है।

'पारंभिय पुणु हरिवंसकहा, ससमय-परसमयविचारसहा'

आचार्य कुन्दकुन्दने नग्न मार्गके अतिरिक्त शेष मार्गोंको उन्मार्ग कहा है, पर यापनीय उसे उन्मार्ग न कहकर अपवादमार्ग कहते हैं। यद्यपि भगवती आराधना और विजयोदयासे स्पष्ट है कि ये भी पूर्ण संयमके पालनके लिए अचेलताको आवश्यक मानते हैं। इसके उपरान्त भी विजयोदयामें आचार्य कुन्दकुन्द व उनकी गाथाओंका प्रमाणरूपमें उल्लेख है। सिद्धसेन दिवाकर भी आचार्य कुन्दकुन्दसे प्रभावित रहे हैं।

अतिवादी प्रवृत्तियोंसे बचनेके कारण ही न तो ये दिगम्बरोंकी भांति आगम-साहित्यसे वंचित रहे हैं और न श्वेताम्बरोंकी भाँति इनका आगम-साहित्य शिथिलाचारकी पुष्टिका साधन बना है। जहाँ इन्होंने संकलित ११ अंगोंको प्रमाण माना है, वहाँ दृष्टिवादके अंशभूत षट्खण्डागमको भी शिरोधार्य किया है। संचित ज्ञानराशिको एकाएक छोड़ नहीं दिया है।

उदारतावादी दृष्टिकोण होने पर भी इनका चारित्र दिगम्बर यतियोंसे कथमपि न्यून नहीं है। भगवती-आराधना, विजयोदया और मूलाचारके पारायणसे स्पष्ट है कि आचरणमें शिथिलता इन्हें इष्ट नहीं थी। ये आचार्य स्वयं चारित्रकी प्रतिमूर्ति रहे हैं। पाल्यकीर्तिके समाधिमरणका स्मारक शिलालेख प्राप्त होता है तथा सिद्धसेन आदि मुनियोंके प्राप्त विवरणोंसे उनके निर्मल चारित्रका परिचय मिलता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन यतियोंका चारित्र जितना निर्मल था, ज्ञान भी उतना ही विशाल था। तत्त्वार्थसूत्रकार, सिद्धसेन तथा शाकटायनको श्रुतकेवलिदेशीय जैसे विशेषणोंसे भूषित किया जाता है। शाकटायनको तो उनके टीकाकारों ने 'सकलज्ञानपदमासवान्' कहा है। अपराजितसूरि आरातीयचूड़ामणि थे। शिलालेखोंमें यापनीय यतियों के लिए प्रयुक्त सैद्धान्तिक, त्रैविद्य, महाप्रकृत्याचार्य आदि उपाधियोंसे प्रतीत होता है कि ये षट्खण्डागम आदि ग्रन्थोंके विशिष्ट अध्येता थे। इनके उत्कृष्ट ज्ञान और उत्तम चारित्रके कारण विभिन्न शिलालेखोंमें इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है तथा श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परामें यापनीय दृष्टिकी उपेक्षाके उपरान्त भी इन्हें सहज सम्मान और आदर प्राप्त हुआ है। इनके द्वारा रचित साहित्य ही इनके ज्ञानका साक्षी है, जिसमें इनका ज्ञान स्वतः प्रतिबिम्बित हो रहा है। इसके सिवाय इनके ग्रन्थोल्लेखोंको दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंने अपने ग्रन्थोंमें आदरके साथ उद्धृत किया है। तत्त्वार्थसूत्र, भगवती आराधना (विजयोदया टीका सहित), मूलाचार, सन्मतितर्क आदि यापनीयोंके ग्रन्थोंको यदि हम जैन साहित्यसे निकाल दें, तो शायद यह कहनेमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि दिगम्बरोंके पास षट्खण्डागम, कषायपाहुड कुन्दकुन्दभारती व समन्तभद्रभारतीके अतिरिक्त इस कोटिका साहित्य प्राप्त नहीं होगा।

इस साहित्यने कितने ही नये विचार और नई दृष्टियाँ प्रदान की हैं। सिद्धसेन दिवाकरने क्रमवाद-युगपद्वादके स्थानपर अभेदवादकी स्थापना की है। यह सिद्धसेन-की मौलिक विचारधारा है। भगवती आराधनामें ही समाधिमरण कराने वाले अड़तालीस निर्यापकाचार्योंका वर्णन हम प्रथमतः पाते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दके साहित्यमें छेदोपस्थापना कराने वाले आचार्यको निर्यापकाचार्य कहा है। आचार्यके छत्तीस गुण भी यहीं प्राप्त होते हैं। आधारवत्त्व आदि आचार्यके आठ गुणोंकी चर्चा भी भगवती आराधनामें ही उपलब्ध होती है।

भगवती आराधनाके विजहना अधिकारमें मुनियोंके अन्तिम संस्कारका विवरण मिलता है, जो कि दिगम्बर परम्पराके लिए अश्रुतपूर्व है।

तीर्थङ्करोंके धर्ममें अन्तरकी चर्चा भी दिगम्बर परम्परामें अश्रुतपूर्व है। मूलाचार में प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करके धर्मसे शेष मध्यवर्ती तीर्थङ्करोंके धर्ममें अन्तरका उल्लेख है। श्वेताम्बर-परम्परा-मान्य दशस्थितिकल्पका वर्णन भगवती आराधना और मूलाचारमें मिलता है।

विजयोदयामें वर्णजनन, अथालंदविधि, जिनकल्पविधि, परिहारसंयमविधि आदि अनेक विषयोंका वर्णन नवीनताको लिए हुए हैं।

साहित्यिक—यापनीयोंने विविध कोटिके विपुल साहित्यकी सर्जना की है। संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश तीनों ही भाषाओंमें इनका साहित्य प्राप्त होता है। कन्नड़, तेलगु, तमिल भाषाओंमें भी इनका साहित्य होना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्त्वार्थसूत्र जैन दर्शनकी महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें तत्त्व, ज्ञान, आचार, कर्म, भूगोल, खगोल आदि समस्त महत्त्वपूर्ण विषयोंका संक्षिप्त प्रतिपादन है। यह ग्रन्थरत्न दोनों ही सम्प्रदायोंका कण्ठहार बना हुआ है। दिगम्बर सम्प्रदायमें तो उसके पाठसे एक उपवासका फल माना गया है। इस अमर रचनाके लिए हम यापनीयोंके ऋणी हैं। मूलाचार मुनि-आचारका प्रतिपादक ग्रन्थ है, जिसे वीरसेनाचार्यने आचारांग कहा है तथा वसुनन्दिने आचारांगका संक्षिप्त रूप। भगवती आराधना समाधिमरण तथा मुनि आचारका एकसाथ प्रतिपादन करने वाली अनूठी कृति है। सिद्धसेन दिवाकरका सन्मतितर्क भी अपने क्षेत्रका अद्वितीय ग्रन्थ है। जो दोनों ही सम्प्रदायोंमें दर्शनप्रभावक ग्रन्थके रूपमें मान्य है। शाकटायनके दोनों प्रकरण तत्तत् विषयोंका प्रतिपादन करने वाले आद्य और अपूर्व प्रकरण हैं।

रविषेणका पद्मचरित जैन समाजमें उतना ही मान्य और प्रचलित है, जितना कि हिन्दुओंमें रामचरितमानस। यह जैन कथा-साहित्यका प्राचीनतम ग्रंथ है। इसमें पुराण और महाकाव्य दोनोंके लक्षणोंका समावेश है। भावात्मक व रसात्मक वर्णनोंके कारण यह एक उत्कृष्ट काव्य है। वाल्मीकि रामायणके अविश्वसनीय प्रसंगोंको विश्वसनीय बनानेका प्रयत्न किया गया है।

समयकी दृष्टिसे हरिवंशपुराण दिगम्बर सम्प्रदायके संस्कृत-कथासाहित्यमें तीसरा ग्रंथ है। पद्मचरितके पश्चात् दूसरा क्रमांक जटासिंहनन्दिके वरांगचरितका है। इस प्रकार दिगम्बरोंका ललित साहित्य भी प्रायः यापनीयों द्वारा अभिवृद्ध हुआ है। हरिवंशपुराणकी विशेषता यह है कि इसमें आचार्य जिनसेनने अपने समय-की गुर्वावलि दी है। यह भी उत्तम कोटिका साहित्यिक ग्रन्थ है।

पुन्नाटसंघीय हरिषेणका बृहत्कथाकोष भी अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। यह सबसे प्राचीन और परिमाणमें बड़ा है। इसमें कुल एक सौ सत्तावन कथाएं हैं। इनका उद्देश्य आराधनाका महत्त्व बताना है। अन्य जैन संस्कृत-ग्रन्थोंकी भांति यहां भी देशी शब्दोंका संस्कृतमें प्रयोग हुआ है। जैसे पंपा, विकुर्वणा आदि।

ललित वाङ्मयमें स्वयंभूकी अपभ्रंशकी कृतियां हमें यापनीय कृतियोंके रूपमें उपलब्ध हैं। इन्होंने अपभ्रंशकी काव्यधाराको अपनी प्रतिभा द्वारा वेगवती बनाया है। कवित्व और पाण्डित्य दोनों ही स्वयंभूमें है। भक्तिकी तन्मयताके कारण इनके प्रबन्धमें गीत-तत्त्व प्राप्त होते हैं। उच्चकोटिके-भाषा कवियोंमें उनका प्रमुख स्थान है। छन्दचूड़ामणि, कविराजधवल आदि उनके विरुद थे। वे प्रकाण्ड विद्वान् थे। व्याकरण, काव्य, शास्त्र, छन्द और धर्म सभी शास्त्रोंका उन्होंने अध्ययन किया है। परवर्ती कथा-प्रबन्धोंको इन्होंने प्रभावित किया है।

स्वयंभू युगकी अपभ्रंश-कविताके विवेचनकी दृष्टिसे स्वयंभूच्छंदका बहुत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महत्त्व है। इन्होंने अनेक पूर्ववर्ती तथा समकालीन कवियोंके पद्य इसमें उद्धृत किये हैं। उन कवियोंकी विविध काव्यवस्तुओंका तथा विविध रसोंका संग्रह है। प्राकृत तथा अपभ्रंश दोनों ही छन्दोंका इसमें संग्रह है। हेमचन्द्रने उन्हें छन्दशास्त्रके महान् आचार्योंमें रखा है। राजशेखर अपने छन्दःशास्त्रकी रचनामें उनके ऋणी हैं।

पाल्यकीर्ति अपरनाम शाकटायनके व्याकरणको भी जैन समाजमें बहुत आदर प्राप्त रहा है। स्वोपज्ञ अमोघवृत्तिके उपरान्त भी इसपर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं। प्राचीन शाकटायन एक महान वैयाकरण थे, इनके व्याकरणको भी उसी भांति महत्त्व प्रदान करनेकी दृष्टिसे इन्हें शाकटायनको उपाधिसे विभूषित किया गया है।

सामाजिक-सांस्कृतिक—यापनीयोंका उपलब्ध अधिकांश साहित्य दार्शनिक और आचारात्मक साहित्य है। इसमें जन-जीवनके प्रतिबिम्बनका अवसर नहीं है, इस दृष्टिसे हरिवंशपुराण, पद्मचरित तथा स्वयंभूके काव्योंमें ही तत्कालीन समाज व संस्कृतिकी झलक देखनेको मिलती है।

ऐतिहासिक—यापनीय संघके साधुओंका वर्चस्व एवं प्रभुत्व धारवाड़, बेलगांव, कोल्हापुर और गुलवर्ग आदि जिलोंके क्षेत्रोंमें अत्यधिक था। आन्ध्र तथा तमिलनाडुमें भी इनका कुछ प्रभाव था। श्रवणबेलगोलमें इनका पीठ कभी नहीं रहा। कर्नाटकके उत्तर भागमें ही इनका प्रभाव था। परवर्ती कालमें यापनीय साधु भी अन्य दिगम्बर सम्प्रदायों की भांति मंदिर तथा संस्थाओंसे सम्बद्ध होते गये थे।

यापनीयोंका प्रभाव विशिष्ट राजवंशों तथा व्यक्तियोंपर था, इन वंशोंने इन्हें दानादि दिये हैं। कदम्ब, राष्ट्रकूट, शिलाहार, चालुक्य, गंग आदि राजवंशों द्वारा यह संघ मान्य रहा है। कागवाडेमें (वि. सं. १४५१) के शिलालेखमें यापनीय संघके धर्मकीर्ति और नागचन्द्रके समाधिलेखोंका उल्लेख है। इनके गुरु नेमिचन्द्रको तुलुव-राज्यस्थापनाचार्यकी उपाधि प्राप्त थी। यह इस बात का द्योतक है कि इन्होंने राज्यकी स्थापनामें योगदान दिया है। यापनीय साधु राजाओंके उत्साहको संवर्धित कर उन्हें राज्य स्थापनाके लिए नैतिक बल प्रदान करते रहे होंगे। कदम्बके दानपत्रके अनुसार आचार्य अर्ककीर्तिने कुन्निगलके शासक विक्रमादित्यका शनिग्रहके दुष्प्रभावसे उपचार किया था।

गणभेद नामक कन्नड पाण्डुलिपिके अनुसार आधुनिक कोप्पल (कोप्पक्ष) इनका प्रमुख पीठ था। तथा ये कर्नाटक और उसके आस-पास बहुत प्रसिद्ध और प्रभावी थे।

ऐतिहासिक लेखों, विवरणों एवं साहित्यिक उल्लेखोंसे यह प्रमाणित हो जाता है कि यापनीय दिगम्बरोंके आस-पास रहा करते थे। यापनीयोंके कुछ मंदिर तथा मूर्तियां आज भी दक्षिण भारतमें दिगम्बरों द्वारा पूजी जाती हैं।

वर्तमानकालमें न तो मुक्ति ही है और न केवली ही हैं, अतः केवलिभुक्ति तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्त्रीमुक्ति केवल विद्वानोंकी चर्चाका विषय मात्र रह गये हैं। जनसाधारणपर इन सिद्धान्तोंकी मान्यता/अमान्यताका विशेष प्रभाव नहीं होता। यही कारण है कि यापनीय और दिगम्बर एक साथ रहते हुए एकाकार हो गये जान पड़ते हैं। इस एकीकरणके प्रमुख दो कारण हो सकते हैं एक यापनीयोंकी उदारदृष्टि तथा दूसरा उनकी संख्यामें अपेक्षाकृत अल्पता। यही कारण है कि भगवती आराधना, विजयोदया तथा पउमचरिउ आदि ग्रंथोंमें कहीं भी हम इन सिद्धान्तोंकी स्पष्ट चर्चा नहीं पाते हैं। धीरे-धीरे कालान्तरमें यह चर्चा और भी कम होती गई होगी। साथ ही संख्यामें अल्प होनेके कारण दिगम्बर सम्प्रदायका वर्चस्व इन्होंने स्वीकार कर लिया। यही कारण है कि यापनीय साधु, श्रावक व साहित्य दिगम्बरोंमें पूर्णतः अन्तर्लीन हो गये हैं और अब उनका नाम शेष ही रहा है।

यापनीयोंने दिगम्बर साहित्यको भी पर्याप्त मात्रामें प्रभावित किया है। पं० आशाधरजी के ग्रन्थ इसके उदाहरण स्वरूप उल्लेखनीय हैं। कर्नाटकस्थ दिगम्बरोंको यापनीय विचारधाराने प्रभावित किया है, यह कहनेके लिए हम चामुण्डरायकृत चारित्रसारसे ही कुछ उदाहरण ले सकते हैं।

१. दिगम्बर साधु श्रावकको धर्मवृद्धि कहकर आशीर्वाद दिया करते हैं, जबकि यापनीय साधु 'धर्मलाभ' कहा करते थे। चारित्रसारमें एक मुनिको धर्मलाभ देते हुए दिखाया गया है।[1]

२. सम्यक्त्वके आठ अंगोंमें उपगूहनके स्थानपर उपवृंहण अंगका उल्लेख है। विजयोदया टीकाकारने सर्वत्र उपगूहनके स्थानपर उपवृंहण अंग ही बतलाया है।

३. सम्यक्त्वके अतिचारोंमें विचिकित्साका अर्थ दिगम्बर परम्परामें साधुके शरीरमें अथवा आत्मिक गुणोंमें ग्लानि करना माना गया है। जबकि यापनीय व श्वेताम्बर परम्परामें मतिविप्लुति[2] को विचिकित्सा माना गया है।

चामुण्डरायने भी दोनोंही अर्थ किये हैं—'शरीराद्यशुचित्वभावमवगम्य शुचीति मिथ्यासंकल्पापनयोऽथवार्हत्प्रवचने इदमयुक्तं घोरं कष्टं नचेदिदं सर्वमुपपन्नमित्यशुभभावनानिरासो विचिकित्साविरहः।'[3]

निष्कर्ष यह है कि यापनीय सम्प्रदायने सैद्धान्तिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक आदि विपुल साहित्यकी रचनाकर जैन साहित्यको गौरवान्वित किया है। साथ ही अपनी उदार विचारधारा, उत्कृष्ट ज्ञान और उत्तम चारित्रके द्वारा जैन संस्कृतिको प्रसुत किया है। उनके इस प्रदेयके लिए जैन संस्कृति उनकी ऋणी है।

●

---

१. "यथा च विन्ध्य-मलय-कुटजवने किरातमुख्यः खदिरसारः समाधिगुप्तमुनिं दृष्ट्वा प्रणताः। तस्मै धर्मलाभ इत्युक्ते....." श्रावकाचारसंग्रह, भाग १ में संग्रहीत, पृ० २५२। २. श्रावकाचार, भाग १, पृ० २३६।
३. सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र ९/८१ पृ० ३३९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi
15283

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्टके महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. देवागम अपरनाम आप्तमीमांसा (दर्शन) ५-००
२. युगवीर-निबन्धावली भाग-२ (संस्कृति) १०-००
३. प्रमाण-नय-निक्षेपप्रकाश (सिद्धान्त) ३-००
४. लोक-विजय-यन्त्र (ज्यौतिष) १२-००
५. नयी किरण : नया सवेरा (धार्मिक लघु उपन्यास) ३-५०
६. प्रमाण-परीक्षा (न्यायशास्त्र) १०-००
७. जैनधर्म परिचय (धर्मशास्त्र) २-००
८. आरम्भिक जैनधर्म (धर्मशास्त्र) १-५०
९. करणानुयोग-प्रवेशिका (सिद्धान्त) १०-००
१०. द्रव्यानुयोग-प्रवेशिका (सिद्धान्त) ५-००
११. चरणानुयोग-प्रवेशिका (सिद्धान्त) द्वि०सं० ८-००
१२. मंगलायतनम् (भ० महावीरका संस्कृत-गद्यमें चरित) १०-००
१३. ऐसे थे हमारे गुरुजी (डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्रीका जीवन-वृत्त) ३-००
१४. जैनदर्शन का व्यावहारिक पक्ष : अनेकान्तवाद २-००
१५. भगवान महावीरका जीवन-वृत्त १-००
१६. जैनदर्शन और प्रमाण-शास्त्र परिशीलन ७५-००
१७. समाधिमरणोत्साहदीपक (द्वि० सं०) ६-००
१८. प्रमेय-कण्ठिका (न्याय) ३-००
१९. जैन तत्त्वज्ञान-मीमांसा ५०-००
२०. द्वापरका देवता : अरिष्टनेमि १२-००
२१. श्रावकाचार ४-००
२२. आराधनासार सटीक (हिन्दी अनुवाद सहित) १०-००
२३. सम्यक्त्व-चिन्तामणि ३०-००
२४. समन्तभद्र-ग्रन्थावली प्रेसमें
२५. पत्र-परीक्षा "
२६. पर्यायें क्रमबद्ध भी होती हैं और अक्रमबद्ध भी ४-५०
२७. सिद्धान्त-सार ४-५०
२८. ज्ञान-सार ४-५०
२९. भाग्य और पुरुषार्थ : एक नया अनुचिन्तन ४-००
३०. सज्ज्ञान-चन्द्रिका १५-००
३१. चंदप्पह-चरिउ २५-००
३२. पंडितप्रवर आशाधर १०-००
३३. यापनीय और उनका साहित्य ४०-००
३४. सम्यक्चारित्र-चिन्तामणि ३५-००

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi